सौ० सवितावाई स्मारक ग्रन्थमाला नं० २.



संक्षिप्त जैन इतिहास।

द्वितीय भाग।

(प्रथम खंड)

लेखकः—

श्रीमान् बाबू कामताप्रसादजी जैन एम. आर. ए. एस.,

ऑन० सम्पादक-'वीर' और 'भगवान महावीर'

'भगवान पार्श्वनाथ', 'सत्यमार्ग', 'लॉर्ड महावीर'

महारानी चेलनी इत्यादि ग्रंथोंके रचयिता।

प्रकाशकः—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया, मालिक,

दिगम्बरजैनपुस्तकालय, कापड़ियाभवन—सूरत।

स्व० सवितावाई, सौ० धर्मपत्नी मूलचन्द किसनदास कापड़ियाके स्मरणार्थ "दिगम्बर जैन" के २५ वें वर्षके ग्राहकोंको भेंट।

प्रथमावृत्ति] वीर सं० २४५८ [प्रति १०००

मूल्य—रु० १-१२-०.

प्रस्तावना।

अधिक समय नहीं हुआ कि सरदार पटेलने एक भाषणमें कहा था कि 'अहिंसा वीरोंका धर्म है।' और उन्हींके साथ काका कालेलकरने प्रगट किया था कि "जैनधर्म सर्वोत्तम रीतिसे जीवन वर्तनका उपाय बताता है। वह सच्चा साम्यवाद सिखाता है।" जैनधर्मके विषयमें राष्ट्रीय-नेताओंके यह उद्गार निःसंदेह ठीक हैं। किन्तु इन उद्गारोंका महत्व तब ही स्पष्ट होसक्ता है कि जब जैनोंके गत जीवन व्यवहारसे अहिंसा धर्मका पालन करते हुये वीरत्वके प्रकाश और जीवनकी पूर्णताका चित्र साधारण जनताके हृदय-पटलपर अंकित किया जासके। यह होना तब ही संभव है कि जब जैनोंका इतिहास जनताके हाथोंमें पहुंचे। जैसे किसी मनुष्यका सन्मान उसके वंश, प्रतिष्ठा आदिका परिचय पानेसे होता है, उसी-तरंह किसी जातिका आदर उस जातिका इतिहास जाननेसे लोगोंकी दृष्टिमें बढ़ता है। भारत दिगम्बर जैन परिषदने इस आवश्यक्ताको बहुत पहले अनुभव कर लिया था। और तदनुसार अपनी एक 'इतिहास कमेटी' भी नियुक्त की थी, जिसका एक सदस्य मैं भी था। उसीके अनुरूप मैंने "जैन इतिहास" को लिखनेका उद्योग चालू किया था और परिणामतः उसका पहला भाग, जिसमें ईस्वी पूर्व ६०० वर्षसे पहलेका पौराणिक इतिहास संकलित है, प्रगट होचुका है। प्रस्तुत पुस्तक उसी सिलसिलेमें दूसरे भागका पहला खण्ड है। दूसरे भागमें ईस्वी पूर्व छठी शताब्दिसे ईस्वी तेरहवीं शताब्दि तकका इतिहास एकत्र किया जाना निश्चित है। इस पहले

खण्डमें ईस्वी पूर्व छठी शताब्दिसे दूसरी शताब्दि तकका इतिहास प्रगट किया गया है। पाठक महोदय देखेंगे कि पहले जमानेमें अहिंसा धर्मको पालते हुये जैनोंने कैसा वीरत्व प्रगट किया था और जीवनको प्रत्येक दृष्टिसे उन्होंने सफल बनाया था। उनमें बड़े २ सम्राट् थे जिन्होंने भारतकी प्रतिष्ठा विदेशोंमें कायम की थी—उनमें बड़े २ योद्धा थे, जिन्होंने शूरोंके दिल दहला दिये थे—उनमें बड़े २ व्यापारी थे, जिन्होंने देशविदेशोंमें जाकर अपार धनसंचय किया था और उसे धर्म और सर्वहितके कार्योंमें खर्च करके भारतका गौरव बढ़ाया था! और उन जैनियोंमें वे प्रातः-स्मरणीय महापुरुष थे जो दिगम्बर—प्राकृत वेषमें रहकर ज्ञान-ध्यान द्वारा आत्मतेजके पुंज थे और जो जीवमात्रका कल्याण करनेमें अग्रसर थे! अब भला कहिये कि जैनधर्मका अहिंसातत्त्व क्यों न वीरत्वका प्रकाशक हो और उसके द्वारा मनुष्य जीवन कैसे सफल न हो? जैनोंका यह प्राचीन इतिहास आज हम-सबको जीवित—जागृत और कर्मठ होनेकी शिक्षा देता है। गत इतिहासको जानना तब ही सार्थक है जब उसके अनुसार बर्ताव करनेका उद्योग किया जाय! आज प्रत्येक जैनीको यह बात भूल न जाना चाहिये।

यह संभव नहीं है कि प्रस्तुत पुस्तकमें वर्णित कालका संपूर्ण इतिहास आगया हो। हां उसको यथासंभव हर तरहसे पूर्ण बनानेका ख्याल अवश्य रक्खा गया है और आगामीके भागोंमें भी रक्खा जावेगा। दूसरे भागका दूसरा खंड भी लिखा जाचुका है और वह भी निकट-भविष्यमें पाठकोंके हाथमें पहुंच जावेगा। आशा है, पाठक उनसे यथेष्ट लाभ उठावेंगे।

इस खण्डको श्रद्धेय ब्र० सीतलप्रसादजीने देखकर हमें उचित परामर्श दिया है, इसके लिये उनको धन्यवाद है। इम्पीरियल लायब्रेरी कलकत्तासे हमें यथेष्ट साहित्य-सहायता मिली है; एतदर्थ उसका आभार स्वीकृत है। साथ ही प्रिय मित्र कापड़ियाजीका भी आभार स्वीकार कर लेना हम उचित समझते हैं जिन्होंने न केवल साहित्य प्रस्तुत करके इसका संकलन कार्य सुगम किया है, वरन् इसको प्रकाशमें लाकर उन्होंने इसका प्रचार व्यापक और सुगम बना दिया है। इति शम्।

विनीत—

अलीगंज (एटा) } कामताप्रसाद जैन,
११-२-१९३१। } संपादक "वीर"



धन्यवाद।

प्रसिद्ध लेखक व इतिहासज्ञ श्री० बाबू कामताप्रसादजी जैन-अलीगंजने अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थ रचे हैं, उनमें "संक्षिप्त जैन इतिहास" भी एक है, जिसका प्रथम भाग हमने ६ वर्ष हुए प्रकट किया था और यह दूसरा भाग (प्रथम खंड) भी आज प्रकट किया जाता है। आपने इस ग्रन्थका संकलन अंग्रेजी, हिंदी व संस्कृत भाषाकी छोटी बड़ी करीब १०० पुस्तकोंका वाचन व मनन करके किया है, जिसके लिये आप अनेकशः धन्यवादके पात्र हैं। ऐसे ऐतिहासिक ग्रन्थोंका सुलभ प्रचार करनेके लिये जिस प्रकार इसका प्रथम भाग "दिगम्बर जैन" के १९ वें वर्षके ग्राहकोंको भेंट देनेके लिये प्रकट किया था उसी प्रकार यह दूसरा भाग (प्र० खंड) भी 'दिगम्बर जैन'के २५वें वर्षके ग्राहकोंको भेंट देनेके लिये व जो उसके ग्राहक नहीं हैं उनके लिये विक्रयार्थ भी निकाला गया है। आशा है कि इसका अच्छा लाभ उठाया जायगा।

प्रकाशक।

सौ० सविताबाई स्मारक
ग्रन्थमाला नं० २.



स्वर्गीय-

सौ० श्रीमती सविताबाई कापड़िया,

धर्मपत्नी, श्री० मूलचंद किसनदासजी कापड़िया-सूरत।

जन्म-सं० १९६४. स्वर्गवास-सं० १९८६.

आपके स्मारकमें २०००) स्थायी शास्त्रदानके लिये निकाले गये हैं जिनमेंसे "ऐतिहासिक स्त्रियां" नामक प्रथम ग्रन्थ गत वर्षमें प्रकट करके "दिगम्बर जैन" व "जैन महिलादर्श" के ग्राहकोंको भेट स्वरूप बांटा गया था और इस स्मारक ग्रन्थमालाका यह दूसरा पुष्प "दिगम्बर जैन" के २९ वें वर्षके ग्राहकोंको भेटमें दिया जाता है। आशा है कि ऐसे स्थायी शास्त्रदानका अनुकरण अन्य श्रीमान व श्रीमती भी करेंगे।

समर्पण।

श्रीमान् ला० प्रागदासजी कोटवाले,
रईस, अलीगंज (एटा)



पिताजी !

आपके अनुग्रहसे जो ज्ञान प्राप्त किया है उसके फल-स्वरूप यह भेंट आपके करकमलोंमें सादर सविनय समर्पित है। आपका पुत्र—

कामताप्रसाद।

विषय-सूची।

संकेताक्षर सूची।

प्रस्तुत ग्रंथके संकलनमें निम्न ग्रंथोंसे सधन्यवाद सहायता ग्रहण की गई है; जिनका उल्लेख निम्न संकेतरूपमें यथास्थान किया गया है:—

अध०=' अशोकके धर्मलेख '–लेखक श्री० जनार्दन भट्ट एम० ए० (काशी, सं० १९८०)।

अहिइ०=' अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया '–ले० सर विन्सेन्ट स्मिथ एम० ए० (चौथी आवृत्ति)।

अशोक०='अशोक'–ले० सर विन्सेन्ट स्मिथ एम० ए०।

आक०='आराधनाकथाकोष'–ले० ब्र० नेमिदत्त (जैनमित्र ऑफिस, बंबई २४४० वी० सं०)।

ऑजी०=' ऑजीविक्स '–भाग १–डॉ० वेनीमाधव बारुआ० डी० लिट् (कलकत्ता १९२०)।

आसू०='आचाराङ्ग सूत्र' मूल (श्वेताम्बर आगमग्रंथ)।

ऑहिइ०='ऑक्सफर्ड हिस्ट्री ऑफ इन्डिया'–विन्सेन्ट स्मिथ एम० ए०।

इंऐ०='इंडियन ऐन्टीक्वेरी' (त्रैमासिक पत्रिका)।

इरिई०='इन्सायक्लोपेडिया ऑफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स'–हैस्टिन्ग्स।

इंसेजै०='इंडियन सेक्ट ऑफ दी जैन्स'–बुल्हर।

इंहिक्वा०='इंडियन हिसटॉरीकल क्वार्टर्ली'–सं० डॉ० नरेन्द्रनाथ लॉ–कलकत्ता।

उद०='उपासगदसाओ सुत्त'–डॉ० हार्णले (Biblo. Indica)।

उपु० व उ० पु०='उत्तरपुराण'–श्री गुणभद्राचार्य व पं० लालारामजी।

उसू०='उत्तराध्ययन सूत्र'–(श्वेताम्बरीय आगमग्रंथ) जार्ल कार्पेन्टियर (उपसला)

एइ०=एपिग्रेफिआ इन्डिका'।

एइमै० या 'मैएइ०'=एन्शियेन्ट इन्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड ऐरियन'-(१८७७)।

एइजे०=एन इपीटोम ऑफ जैनीज्म'-श्री पूर्णचन्द्र नाहर एम० ए०।

एमिक्षट्रा०='एन्शियेन्ट मिड-इंडियन क्षत्रिय ट्राइब्स'-डॉ० विमलाचरण लॉ (कलकत्ता)।

ऐरि०='ऐशियाटिक रिसर्चेज'-सर विलियम जोन्स (सन् १७९९ व १८०९)।

ऐइ०=एन्शियेन्ट इन्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाइ स्ट्रैबो, मैकक्रिन्डिल (१९०१)।

कजाइ०=कनिंघम, जॉगरफी ऑफ एन्शियेन्ट ईन्डिया'-(कलकत्ता १९२४)।

कलि०='ए हिस्ट्री ऑफ कनारीज लिट्रेचर'-ई० पी० राइस (H. I. S.) 1921.

कसू०='कल्पसूत्र' मूल (श्वेताम्बरीय आगम ग्रंथ)।

काले०=कारमाइकल लेक्चर्स-डॉ० डी० आर० भाण्डारकर।

कैहिइ०='कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया'-ऐन्शियेन्ट इंडिया, भा० १-रैपसन सा० (१९२२)।

गुसापरि०=गुजराती साहित्य परिषद रिपोर्ट-सातवीं। (भावनगर सं० १९८२)।

गौबु०='गौतम बुद्ध'-के० जे० सॉन्डर्स (H. I. S.)।

चंभम०=चंद्रराज भंडारी कृत भगवान महावीर।'

जबिओसो०='जर्नल ऑफ दी विहार एण्ड ओडीसा रिसर्च सोसाइटी।'

जम्बू०=जम्बूकुमारचरित (सूरत वीराब्द २४४०)।

जमीसो०=जर्नल ऑफ दी मीथिक सोसाइटी-बेंगलोर।

जराएसो०='जरनल ऑफ दी रॉयल ऐशियाटिक सोसाइटी'—लन्दन।

जैका०='जैन कानून'—श्री० चम्पतराय जैन विद्यावा० (बिजनौर १९२८)

जैग०='जैनगैजेट'—अंग्रेजी (मद्रास)।

जैप्र०='जैनधर्म प्रकाश'—ब्र० शीतलप्रसादजी (बिजनौर १९२७)।

जैस्तू०='जैनस्तूप एण्ड अदर एण्टीक्वटीज ऑफ मथुरा'—स्मिथ।

जैसासं०='जैन साहित्य संशोधक'—मु० जिनविजयजी (पूना)।

जैसिभा०='जैनसिद्धान्त भास्कर'—श्री पद्मराज जैन (कलकत्ता)।

जैशिसं०='जैन शिलालेख संग्रह'—प्रॉ० हीरालाल जैन (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला)।

जैहि०=जैनहितैषी'—सं० पं०नाथूरामजी व पं०जुगलकिशोरजी (बंबई)

जैसू० (Js.)=जैन सूत्राज् (S. B. E. Series, Vols. XXII & XLV).

टॉरा०=टॉडसा० कृत राजस्थानका इतिहास (वेङ्कटेश्वर प्रेस)।

डिजैबा०=' ए डिक्शनरी ऑफ जैन बायोग्रैफी '—श्री उमरावसिंह टाँक (आरा)।

तक्ष०='ए गाइड टू तक्षशिला'—सर जॉन मारशल (१९१८)।

तत्वार्थ०='तत्वार्थाधिगम सूत्र'—श्री उमास्वाति (S. B. J. Vol. I)

तिप०= तिल्लोयपण्णत्ति'—श्री यतिवृषभाचार्य (जैनहितैषी भा०१३ अंक१२)

दिजै०=' दिगम्बर जैन '—मासिकपत्र—सं० श्री मूलचन्द किसनदास कापड़िया (सूरत)।

दीनि०=दीघनिकाय' (P. T. S.)

परि०='परिशिष्ट पर्व'—श्री हेमचन्द्राचार्य।

प्राजैलेसं०=प्राचीन जैन लेखसंग्रह—कामताप्रसाद जैन (वर्धा)

बविओजैस्मा०=बंगाल, विहार, ओड़ीसा जैन स्मारक—श्रीमान् ब्र० शीतलप्रसादजी।

बजैस्मा०=बम्बई प्रान्तके प्राचीन जैन स्मारक—ब्र० शीतलप्रसादजी।

बुइ०=बुद्धिष्ट इन्डिया—प्रो० ह्रीस डेविड्स।

भपा०=भगवान पार्श्वनाथ-ले० कामताप्रसाद जैन (सूरत)
भम०=भगवान महावीर- ,, ,, ,, (सूरत)
भमबु०=भगवान महावीर और म० बुद्ध-कामताप्रसाद जैन (सूरत)
भमी०=भट्टारक मीमांसा (गुजराती)-सूरत।
भाइ०=भारतवर्षका इतिहास-डॉ०ईश्वरीप्रसाद डी०लिट् (प्रयाग १९२७)
भाअशो०='अशोक'-डॉ० भाण्डारकर (कलकत्ता)।
भाप्रारा०=भारतके प्राचीन राजवंश-श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ (बंबई)।
भाप्रासइ०=भारतकी प्राचीन सभ्यताका इतिहास-सर रमेशचन्द्र दत्त।
मजैइ०=मराठी जैन इतिहास।
मनि०= } मज्झिम निकाय P. T. S.
मज्झिम०= }
ममैप्राजैस्मा०=मद्रास मैसूरके प्राचीन जैन स्मारक-ब्र०शीतलप्रसादजी
महा०=महावग्ग (S. B. E., Vol. XVII)
मिलिन्द०=मिलिन्द पन्ह (S. B. E., Vol. XXXV)
मुरा०=मुद्राराक्षस नाटक-इन दी हिन्दू ड्रामेटिक वर्कस, विलसन।
मूला०=मूलाचार-वट्टकेरस्वामी (हिंदी भाषा सहित-बंबई)।
मैअशो०=अशोक-मैकफैल कृत (H. I. S.)
मैबु०=मैन्युल ऑफ बुद्धिज्म=स्पेन हार्डी।
रश्रा०=रत्नकरण्ड श्रावकाचार-सं० पं० जुगलकिशोरजी (बंबई)।

राइ०=राजपुतानेका इतिहास, भाग १-रा० ब० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा।

रिइ०=रिलीजन्स ऑफ दी इम्पायर-(लन्दन)।
लाऑम०=लाइफ ऑफ महावीर-ला० माणिकचंदजी (इलाहाबाद)।
लाभाइ०=भारतवर्षका इतिहास-ला० लाजपतरायकृत (लाहौर)।

लाम०=लार्ड महावीर एण्ड अदर टीचर्स ऑफ हिज टाइम-कामता-प्रसाद (दिल्ली)।

लावबु०=लाइफ एण्ड वर्क्स ऑफ बुद्धघोष-डॉ० विमलाचरण लॉ (कलकत्ता)।

बृजैश०=बृहद् जैन शब्दार्णव-पं० बिहारीलालजी चैतन्य ।

विर०=विद्वद्रत्नमाला-पं० नाथूरामजी प्रेमी (बंबई) ।

श्रव०=श्रवणबेलगोला, रा० ब० प्रो० नरसिंहाचार एम०ए० (मद्रास) ।

श्रेच०=श्रेणिकचरित्र (सूरत) ।

सकौ०=सम्यक्त्व कौमुदी-(बम्बई) ।

सजै०=सनातन जैनधर्म-अनु० कामताप्रसाद (कलकत्ता) ।

सजैइ०=संक्षिप्त जैन इतिहास-प्रथम भाग-कामताप्रसाद (सूरत) ।

सडिजै०=सम डिस्टिन्गुइश्ड जैन्स-उमरावसिंह टांक (आगरा) ।

संप्राजैस्मा०=संयुक्त प्रान्तके प्राचीन जैन स्मारक-ब्र० शीतलप्रसादजी ।

स्साइजै०=स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनीज्म-प्रो० रामास्वामी आयंगर ।

ससू०=सम्राट् अकबर और सूरीश्वर-मुनि विद्याविजयजी (आगरा) ।

सक्षट्राएइ०=सम क्षत्री ट्राइव्स इन एन्शियन्ट इन्डिया-डॉ० विमलाचरण लॉ ।

साम्स०=साम्स ऑफ दी ब्रदेरेन ।

सुनि०=सुत्तनिपात (S. B. E.) ।

हरि०=हरिवंशपुराण-श्री जिनसेनाचार्य (कलकत्ता) ।

हॉजै०=हॉर्ट ऑफ जैनीज्म-मिसेज स्टीवेन्सन (लंदन) ।

हिआइ० }
हिआरूइ० } =हिस्ट्री ऑफ दी आर्यन रूल इन इन्डिया-हैवेल ।

हिग्ली०=हिस्टॉरीकल ग्लीनिंग्स-डॉ० विमलाचरण लॉ० (कलकत्ता)

हिटे०=हिन्दू टेल्स-जे० जे० मेयर्स ।

हिड्रावं०=हिन्दू ड्रामेटिक वर्क्स-विलसन ।

हिप्रीइफि०=हिस्ट्री ऑफ दी प्री-बुद्धिस्टिक इंडियन फिलॉसफी-बारुआ (कलकत्ता)

हिलिजै०=हिस्ट्री एण्ड लिट्रेचर ऑफ जैनीज्म-बारोदिया (१९०९) ।

हिवि०=हिन्दी विश्वकोष-नगेन्द्रनाथ वसु (कलकत्ता) ।

क्षत्रीक्लैन्स०=क्षत्रीक्लैन्स इन बुद्धिस्ट इंडिया-डॉ० विमलाचरण लॉ० ।

शुद्धाशुद्धिपत्र ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	...	...	पहला खण्ड (६००–१८८ ई० पूर्व)
४	१९	सम्भ्रदाए इ०	सक्षद्राए इ०
५	१७	उपदेशका	उस देशका
६	१४	इस	इन
,,	२२	इत्यादि	इत्यादि
११	८	असन्ती	अवन्ती
,,	१६	अस्सके	अस्सक
१८	१९	कारमइकल	कारमाइकिल
,,	,,	१०१८	१९१८
,,	२२	शताब्दिक	शतानीक
,,	२३	प्रसेनजी	प्रसेनजीत
१९	३	धसंबं	संबंध
२१	१७	मज्झिम० सु०	मज्झिम०
२४	१९	७०६	७०२
२५	१४	२११–२१	२१ पृ० २१
,,	१५	पाटील	पाटलि
२६	१३	स्वप्नवासदत्ता	स्वप्नवासवदत्ता
,,	२३	३–अहिइ०	३–ऑहिइ०
३१	२१	रखनेवाली थी	रखनेवाले थे ।
३२	२०	थी ।	थी ।[२]
३३	११	संस्था	संख्या
,,	२०	भम०	मम०
३४	५	परिधिमेंमें फैला बतलाया	परिधिमें फैला बतलाता
,,	१८	कोल्लाग	कोल्लाग
४०	८	द्वादशाङ्ग	द्वादशाङ्ग

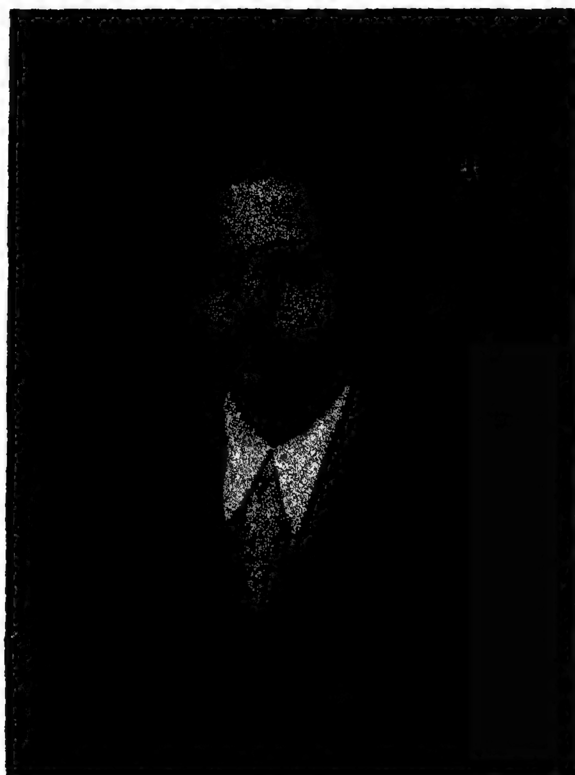
पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४	१३	रायगॉम	रामगाम
४५	१५	महापुरुष	यह महापुरुष
,,	२२	सक्षद्राए इ०	सक्षट्राएइ०
,,	२३	उ० ६०	उद०
४९	१५	कोलिग्राम	कोटिग्राम
५०	६	स्वर्स	स्वर्ण
५१	१६	'ऐन्द्र'	भगवानने 'ऐन्द्र'
५२	१०	दशाश्च	दशा सूत्र
,,	२०	सक्ष्यद्राए	सक्षट्राएइ०
५३	४	आईत	आर्हत
,,	२२	निगडो	निगंठो
५६	१६	महादीर	महावीर
५७	५	थी ।	थी ।[१]
,,	७	नग्न हुये थे ।	नग्न नहीं हुये थे ।
,,	२२	मतिज्ञानने	मतिज्ञानके
६०	२३	Js. T. P. 193	Js. I. P. 193
६३	१८	महावीर	महावीर और
,,	२२	११८	१८
६७	४	बतलाई	जो बतलाई
६८	२३	१३५	पृ० ३५
७०	१५	Antri.	Anti.
,,	१७	Tirthakar	Tirthakas
,,	२६	roformer	roformer
७२	३	है ।	है ।[१]
७३	३	श्रावणी	श्रावस्ती
,,	२२	६-७ से ।	देखो ।
७४	२१	Appendiss	वद० Appendix

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७५	२	प्रतिघोष्ठित	प्रतिघोषित
,,	५	समक्ष	समव
७६	३	वर्णनन	वर्णन
७८	६	महावीर भी	महावीर
८०	२१	पढ़ेने	पढ़ने
८१	१९	होगई	मान्य होगई
८२	२०	व र	वीर
८३	२	था।	था। और वे नग्न रहे थे।
,,	२२	भा० १ पृ० ५	भा० ७ पृ० १
८९	२२	भमबु०	भम०
९१	६	आत्मपिपसा	आत्मपिपासा
१०३	१४	क्राथतोष	क्राथतोय
११२	२२	दीति०	दीनि०
११४	२०	ग्लैसेनाथ (Dev	ग्लैसेनाप्प (Der
,,	२२	जैविओसो	जवि॰ओसो
११५	१७	तीर्थंकरों	तीर्थंकरों
१२२	१४	ये	थे
१२९	१७	तुंगिक्राव्य	तुंगिकाख्य
,,	२२	२२७	२२
१४३	१९	७५	७४
१४९	७	रौहकनगर	रौरुकनगर
,,	२४	७-जैप्र० पृ० २२८	७-जैप्र० पृ० २३४
१५१	१	पोमडम	पोपडम
,,	१४	गंगा नदियों	गंगा आदि नदियों
,,	२१	अच	श्रेच०
,,	२२	(Pt. II	(Js. Pt. II
१५९	१	स्थिति	तिथि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६२	१०	हमां	हम
१६९	२३	माप्राए०	माप्रारा०
१७०	९	कोई	को
१७१	२२	६६	६८
१७२	८	अन्यथा	अन्यत्र
१८२	२	पारस्थ	पारस्य
,,	३	पारस्थ	पारस्य
१८५	८	ऐर	ऐल
१८९	११	संस्था	संख्या
१९१	१४	शासन	आसन
१९२	४	स्वीकार करने	स्वीकार न करने
,,	१२	अग्निचिता	अग्नि चितामें
,,	१९	समी	कभी
२००	१४	उलट	उत्कट
,,	२२	नियममें	विनिमय
२०१	९	आत्मविर्सन	आत्म विसर्जन
२०३	६	उपदेश	देश
२०४	६	श्री	श्रीं
,,	९	श्लोक	दशा
,,	१८	कटिपर्व	कटिवप्र
२०९	१३	अबुद्ध	प्रबुद्ध
२१२	६	कि प्रथम	कि वे प्रथम
,,	२२	आदी	आदि
२१४	२३	Gournal	Journal
२२०	४	शासन	शासक
२२३	६	प्रारंभीक	प्रारंभिक
,,	२३	भा० पृ०	भा० १ पृ०

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२७	९	सदस्य	सदस्य थे
२३०	५	चोरी नहीं नहीं	चोरी नहीं
२३२	२२	कन	धन
२३५	१२	उनका ही	उनका
,,	२३	आरा०	आप्रारा०
२३६	१३	उपयोग	उपभोग
२३८	२१	साइजै०	स्पाइजै०
२४३	२४	ऐहि०	ऐरि०
२४५	८	एण्टिओकस	एण्टिओकसने
,,	९	डेओनीसे उसकी	डेओनीसी उसकी
२५३	८	अशोकके	अशोक
२५७	२	इन	इस
२५९	१	पारलौकिकक	पारलौकिक
,,	२२	Js. Pts. Id II	Js. Pts I & II
२६३	१४	पापकी	अशोककी पापकी
२६४	९	परायणके	परायण
२६८	१४	५०६	पृ० ६
,,	१८	पृष्ठ २६९ के फुटनोटका पहला श्लोक यहां पढ़ें ।	
२८२	२३	कम्मिन	रुक्मिन
२८९	७	इस	इन
,,	१५	शिलालेख	शिलालेख उनके राज्यके
२९७	५	उज्जनी	उज्जैनी

"जैनविजय" प्रिन्टिंग प्रेस, खपाटिया चकला—सूरत—में
मूलचन्द किसनदास कापडियाने मुद्रित किया ।



श्रीमान् बाबू कामताप्रसादजी जैन-अलीगंज।

[इस ऐतिहासिक ग्रन्थके विद्वान लेखक]

जैनविजय प्रेस—सूरत.

॥ ॐश्रीमहावीराय नमः ॥

संक्षिप्त जैन इतिहास।

दूसरा भाग।

ई० सन् पूर्व ६०० से ई० सन् १३०० तक।

प्राक्कथन।

जैन धर्मका प्राकृत रूप।

जैनधर्म सनातन है। उसका प्राकृत रूप सरल सत्य है। उसका नामकरण ही यह प्रगट करता है। 'जिन्' शब्दसे उसका निकास है; जिसका अर्थ होता है 'जीतनेवाला' अथवा 'विजयी'। दूसरे शब्दोंमें विजयी वीरोंका धर्म ही जैन धर्म है और यह व्याख्या प्राकृत सुसंगत है। प्रकृतिमें यह बात नैसर्गिक रीतिसे दृष्टि पड़ रही है कि प्रत्येक प्राणी विजयाकांक्षा रखता है। वह जो वस्तु उसके सम्मुख आती है, उसपर अधिकार जमाना चाहता है और अपनी विजयपर आनन्द, नृत्य करनेको उत्सुक है। अबोध बालक भयानकसे भयानक वस्तुको अपने काबूमें लाना चाहता है। निरीह वनस्पतिको ले लीजिये। एक घास अपने पासवाली घासको नष्ट करनेपर तुली हुई मिलती है। इस वनस्पतिमें भी अवश्य जीव है; परन्तु वह उस उत्कृष्ट दशामें नहीं है, जिसमें मनुष्य है। किंतु इतना होते हुये भी वह प्रकृतिके

अटल नियमसे अपने नैसर्गिग स्वभाव—सदा विजयी रहनेकी भावनासे वंचित नहीं है । अतएव विजयी होनेका धर्म प्राकृत—अनादिनिधन और पूर्ण सत्य है ।

किन्तु प्रश्न यह है कि मनुष्यको किस प्रकार विजय पाना है ? क्या जिस वस्तुको वह अपने आधीन करना चाहे, उसके लिये युद्ध ठान दे ? नहीं, मनुष्येतर प्राणियोंसे मनुष्यमें कुछ विशेषता है । उसके पास विवेकबुद्धि है; जिससे वह सत्यासत्यका निर्णय कर सक्ता है । यह विशेषता अन्य जीवोंको नसीब नहीं है । इस विवेकबुद्धिके अनुसार उसे विजय-मार्गमें अग्रसर होना समुचित है । और विवेक बतलाता है कि जो अन्याय है, दुर्गुण है, बुरी वासना है, उसको परास्त करनेके लिये कर्मक्षेत्रमें आना मनुष्यमात्रका कर्तव्य है । ठीक, यही बात जैनधर्म सिखाता है । वह विजयी-वीरोंका धर्म है । उसके चौबीस तीर्थंकर वीरशिरोमणि क्षत्रीकुलके रत्न थे । उनने परमोत्कृष्ट ज्ञानको पाकर विजय-मार्ग निर्दिष्ट किया था—मनुष्योंको बतला दिया था कि अनादिकालसे जीव अजीवके फंदेमें पड़ा हुआ है । प्रकृतिने चेतन पदार्थको अपने आधीन बना लिया है । इस प्रकृतिको यदि परास्त कर दिया जाय तो पूर्ण विजयका परमानन्द प्राप्त हो । उसके लिये किसीका आश्रय लेना और पराया मुंह ताकना वृथा है । मनुष्य अपने पैरों खड़ा होवे और बुरी वासनाओं एवं कषायोंको तबाह करके विजयी वीर बन जावे ! फिर वह स्वाधीन है । उसके लिये आनन्द ही आनन्द है । यह प्राकृत शिक्षा जैनधर्मकी अभेद्य प्राचीनताका पार न मिलनेका पर्याप्त उत्तर है ।

जैनधर्मकी प्राचीनता और २४ तीर्थंकर।

'संक्षिप्त जैन इतिहास' के प्रथमभागमें जैनधर्मके सैद्धान्तिक उल्लेखों एवं अन्य श्रोतोंसे उसकी अज्ञात बहु प्राचीनताका दिग्दर्शन कराया जाचुका है। अतः उनका यहांपर दुहराना वृथा है। जैनधर्म जिस समय कर्मभूमिके इस कालके प्रारंभमें पुनः श्री ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित हुआ था, उस समय सभ्यताका अरुणोदय होरहा था। यह ऋषभदेव इक्ष्वाकुवंशी क्षत्री राजकुमार थे और हिन्दू पुराणोंके अनुसार वे स्वयंभू मनुसे पांचवीं पीढ़ीमें हुये बतलाये गये हैं।[2] उन्हें हिन्दू एवं बौद्ध शास्त्रकार भी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और इस युगके प्रारम्भमें जैनधर्मका प्ररूपण करनेवाला लिखते हैं।[3] हिन्दू अवतारोंमें वह आठवें माने गये हैं और संभवतः वेदोंमें भी उन्हींका उल्लेख मिलता है। चौदहवें वामन अवतारका उल्लेख निस्सन्देह वेदोंमें है। अतः वामन अवतारसे पहले हुये आठवें अवतार ऋषभदेवका उल्लेख इन अजैन वेदोंमें होना युक्तियुक्त प्रतीत होता है[4]। कुछ भी हो उनका इन वेदोंसे प्राचीन होना सिद्ध है। इन ऋषभदेवकी मूर्तियां आजसे ढाईहजार वर्ष पहले भी सम्मान और पूज्य दृष्टिसे इस भारतमहीपर मान्यता पातीं थीं।[5] इन्हीं ऋषभदेवके ज्येष्ठ पुत्र सम्राट् भरतके नामसे यह देश भारतवर्ष कहलाता है।

ऋषभदेवके उपरान्त दीर्घकालके अन्तरसे क्रमवार तेईस तीर्थंकर भगवान और हुये थे। उन्होंने परिवर्तित द्रव्य, क्षेत्र, काल,

१-संक्षिप्त जैन इतिहास प्रथम भागकी प्रस्तावना पृष्ठ २६-३०। २-भागवत ५।४, ५, ६। ३-न्यायबिन्दु अ० ३ व सतशास्त्र-'वीर' वर्ष ४ पृ० ३५३। ४-हमारा, भगवान महावीर पृ० ३८। ५-जबिओसो० भा० ३ पृ० ४४०।

भावके अनुसार पुनः वही सत्य, वही निरापद विजयमार्ग तात्कालीन जनताको दर्शाया था। इन तीर्थंकरोंमेंसे बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतनाथजीके तीर्थकालमें श्री रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी हुये थे। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथजीके समकालीन श्री कृष्णजी थे; जिनके साथ श्री नेमिनाथजीकी ऐतिहासिकताको विद्वान् स्वीकार करने लगे हैं;[1] क्योंकि भगवान पार्श्वनाथजीसे पहले हुये तीर्थंकरोंके अस्तित्वको प्रमाणित करनेके लिये स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु तो भी जैन पुराणोंके कथनसे एवं आजसे करीब ढाई तीन हजार वर्ष पहले बने हुये पाषाण अवशेषों[2] अथच शिलालेखों[3] व बौद्धग्रन्थोंके उल्लेखोंसे शेष जैन तीर्थंकरोंकी प्राचीन मान्यता और फलतः उनके अस्तित्वका पता चलता है। तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथजीको अब हरकोई एक ऐतिहासिक महापुरुष मानता है[4] और अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीरजीके जीवनकालसे जैनधर्मका एक प्रामाणिक इतिहास हमें मिल जाता है।

जैन इतिहास।

यह मानी हुई बात है कि धर्मात्मा विना धर्मका अस्तित्व नहीं रह सक्ता है। अतएव किसी धर्मका इतिहास उसके माननेवालोंका पूर्व-परिचय मात्र कहा जा सक्ता है। जैनधर्मके प्रतिपालक लोग जैन कहलाते हैं;

१–इपीग्रेफिया इन्डिका भा० १ पृ० ३८९ व सक्षप्राए इ० भूमिका पृ० ४। २–मथुरा कंकाली टीलेका प्राचीन जैन स्तूप आदि। ३–हाथीगुफाका शिलालेख–जबिओसो० भा० ३ पृ० ४२६–४९०। ४–भ० महावीर और म० बुद्ध पृ० ५१ व ला० म० पृ० ३०। ५–हमारा 'भगवान पार्श्वनाथ' की भूमिका।

जिनमें ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र आदि सब हीका समावेश हुआ समझिये अर्थात जैन होते हुये भी प्रत्येक व्यक्तिकी जाति ज्योंकी त्यों रहती है, इसमें संशय नहीं है; यद्यपि किसी अजैनके जैनधर्ममें दीक्षित होते समय उसकी आजीविका-वृत्ति और रहनसहनके अनुसार उसको उपयुक्त जातिमें सम्मिलित किया जासकता है।[1]

अतः जैनधर्म विषयक इस संक्षिप्त इतिहासमें जैन महापुरुषोंका और जैनधर्म सम्बन्धी विशेष घटनाओंका परिचय एवं उसका प्रभाव भिन्न२ कालोंमें उस समयकी परिस्थितिपर कैसा पड़ा था, यह बतलाना इष्ट है। इसके प्रथम भागमें भगवान पार्श्वनाथजी तकका सामान्य परिचय प्रकट किया जाचुका है। इस भागमें भगवान महावीरजीके समयसे उपरान्त मध्यकालतकके जैन इतिहासको संक्षेपमें प्रकट किया जाता है। प्रथम भागमें जैन भूगोलमें भारतवर्षका स्थान और उसका प्राकृतरूप आदिका परिचय कराया जाचुका है।

सचमुच किसी देशकी प्राकृतिक स्थितिका प्रभाव अपनी
भारतकी प्राकृत खास विशेषता रखता है। उपदेशका इतिहास
दशाका प्रभाव। ही उस प्रभावके ढंगपर ढल जाता है। भारतके विषयमें कहा गया है कि उसकी प्राकृतिक स्थितिका सामाजिक संस्थाओं और मनुष्योंकी रहनसहन पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। धीरे२ बड़ी बड़ी नदियोंके किनारे सुरम्य नगर बस गये जो कालान्तरमें व्यापारके प्रसिद्ध केन्द्र होगये। भूमिके उर्वरा होनेसे देशमें धन-

१–आदिपुराण पर्व ३९।

धान्यकी सदैव प्रचुरता रही।* इससे सभ्यताके विकासमें बड़ी सहायता मिली। जब मनुष्यका चित्त शान्त रहता है और जब किसी प्रकार उनका मन डाँवाडोल नहीं होता तभी ललितकला, विज्ञान और उच्च कोटिके साहित्यका प्रादुर्भाव होता है। प्राचीन भारतवासियोंके जीवनको सुखमय बनानेवाले पदार्थ सुलभ थे।* इसीलिए उसकी सभ्यता सदैव अग्रगण्य रही। चारों ओरसे सुरक्षित होनेके कारण भारतका अन्य देशोंसे विशेष सम्पर्क नहीं हुआ; फलतः यहां सामाजिक संस्थाएँ ऐसी दृढ़ होगईं कि उनके बन्धनोंका ढीला करना अब भी कठिन प्रतीत होता है। यहांके मूल निवासियोंपर बाहरी आक्रमणकारियोंका कभी अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। जो अन्य देशोंसे भी आये वे यहांकी जनतामें मिल गये और उन्होंने तत्कालीन प्रचलित धर्म और रीतिरिवाजोंको अपना

---

* सम्राट् चन्द्रगुप्तके समयमें भारतमें आए हुए यूनानी लेखकोंके निम्न वाक्य इस खूबियोंको अच्छी तरह प्रकट कर देते हैं। मेगस्थनीज लिखता है:-"भारतमें बहुतसे बड़े पर्वत हैं, जिनपर हर प्रकारके फल-फूल देनेवाले वृक्ष बहुतायतसे हैं और कई लम्बे चौड़े उपजाऊ मैदान हैं; जिनमें नदियां बहती हैं। पृथिवीका बहुभाग जलसे सींचा हुआ मिलता है; जिससे फसल भी खूब होती है।...भारतवासियोंके जीवनको सुखमय बनानेवाली सामग्री सुलभ है, इस कारण उनका शरीर गठन भी उत्कृष्ट है और वह अपनी सम्मानयुक्त शिक्षा-दीक्षाके कारण सबमें अलग नजर पड़ते हैं। ललित कलाओंमें भी वे विशेष पटु हैं। फलोंके अतिरिक्त भूगर्भसे उन्हें सोना, चांदी, ताम्बा, लोहा, इत्यादि धातुऐं भी बाहुल्यतासे प्राप्त हैं। इसीलिये कहते हैं कि भारतमें कभी अकाल नहीं पड़ा और न यहां खाद्य पदार्थकी कठिनाई कभी अगाड़ी आई।"

—मैक्रिन्डल, ऐन्शियेन्ट इन्डिया, पृ० ३०–३२.

लिया। अपने देशमें सब प्रकारकी सुविधा होनेके कारण भारतवासियोंने सांसारिक विषयोंको छोड़कर परमार्थकी ओर अधिक ध्यान दिया। यही कारण है कि प्राचीन कालमें आध्यात्मिक उन्नति अधिक हुई और हिन्दु समाजमें अद्भुत तत्वज्ञानी हुए।+

इस स्थितिसे कतिपय विद्वान् भारतकी कुछ हानि हुई खयाल करते हैं। उनका अनुमान है कि देशकी प्रचुर सम्पत्तिसे आकर्षित होकर अनेकबार विदेशियोंके भारतपर आक्रमण हुए और उसमें उनने खूब अंधाधुंधी मचाई। उपरोक्त स्थितिके कारण भारतवासी उनका मुकाबिला करनेके लिये पर्याप्त बलवान न रहे; किन्तु उनके इस कथनमें, ऐतिहासिक दृष्टिसे, बहुत ही कम तथ्य है। तत्त्वज्ञानकी अद्भुत उन्नति भगवान महावीर और म० बुद्धके समयमें खूब हुई थी। उससमय देशके एक छोरसे दूसरे छोरतक आध्यात्मिक भावोंकी लहर दौड़ रही थी; किन्तु उससे लोगोंमें भीरुताका समावेश नहीं हुआ था। वह जीवके अमरपनेमें दृढ़ विश्वास रखते थे और यही कारण था कि अन्तिम नन्दराजाके समयमें हुए सिकंदर महान्‌के आक्रमणका भारतीयोंने बड़ी वीरताके साथ मुकाबला किया था। यहांतक कि भारतीय सेनाकी दृढ़ता और तत्परता देखकर युनानी सेनाके आसन पहलेसे भी और ढीले होगये थे। फलतः सिकन्दर अपने निश्चयको सफल नहीं बना सका था। इसके उपरान्त चन्द्रगुप्त मौर्यने उस ही आध्यात्मिक स्थितिके मध्य जिस सत्साहसका परिचय दिया था, वह विद्वानोंके उपरोक्त कथनको सर्वथा निर्मूल कर देता है। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यने यूनानि-

+ भारतवर्षका इतिहास पृ० १०.

योंको भारतवर्षकी सीमाओंसे बाहर निकाल दिया था और यूनानियोंसे अफगानिस्तान वर्ती एरियाना प्रदेश भी लेलिया था। यूनानी राजा सेल्यूकसने विनम्र हो अपनी कन्या भी चन्द्रगुप्तको भेंटकर दी थी। इस प्रकार जबतक तत्त्वज्ञानकी लहर विवेक भावसे भारत-वसुंधरा पर बहती रही, तबतक इस देशकी कुछ भी हानि नहीं हुई, किन्तु ज्योंही तत्त्वज्ञानका स्थान साम्प्रदायिक मोह और विद्वेषको मिलगया, त्योंही इस देशका सर्वनाश होना प्रारंभ होगया। हूण अथवा शकलोगोंके आक्रमण, जो उपरान्त भारतपर हुये; उनमें उन विदेशियोंको सफलता परस्परमें फैले हुये इस साम्प्रदायिक विद्वेषके कारण ही मिली। और फिर पिछले जमानेमें मुसलमान, आक्रमणकारी राजपूतोंपर पारस्परिक एकता और संगठनके अभावमें विजयी हुये। वरन् कोई नहीं कह सक्ता है कि राजपूतोंमें वीरता नहीं थी। अतएव आध्यात्मिक तत्त्वके बहुप्रचार होनेसे इस देशकी हानि हुई ख्याल करना निरीह भूल है।

प्राचीन भारतका स्वरूप।

आजसे करीब ढाईहजार वर्ष पहिले भी भारतकी आकृति और विस्तार प्रायः आजकलके समान था। सौभाग्यसे उससमय सिकन्दर महान्‌के साथ आये हुये यूनानी लेखकोंकी साक्षीसे उस समयके भारतका आकार-विस्तार विदित होजाता है। मेगास्थनीज कहता है कि उस समयका भारत समचतुराकार (Quadrilateral) था। पूर्वीय और दक्षिणीय सीमायें समुद्रसे वेष्टित थीं; किन्तु उत्तरीयभाग हिमालय पर्वत (Mount Hemodos) द्वारा शाक्यदेश (Skythia) से प्रथक् कर दिया गया था। पश्चिममें भारतकी सीमाको सिंधुनदी

प्रकट करती थी, जो उस समय संसारभरमें नीलनदीके अतिरिक्त सबसे बड़ी मानी जाती थी।

सारे देशका विस्तार अर्थात् पूर्वसे पश्चिमतक ११४९ मील और उत्तरसे दक्षिणतक १८३८ मील था। यह वर्णन भारतकी वर्तमान आकृतिसे प्रायः ठीक बैठता है। जिस प्रकार भारत आज एक महाद्वीप है, उसी प्रकार तब था। आज 'इस देशकी उत्तरी स्थलसीमा १६०० मील, पूर्वपश्चिमकी सीमा लगभग १२०० और पूर्वोत्तर सीमा लगभग ९०० मील है। समुद्रतटका विस्तार लगभग ३९०० मील है।' कुल क्षेत्रफल १८,०२,६९७ वर्गमील है। हां, एक बात उस समय अवश्य विशेष थी और वह यह थी कि चन्द्रगुप्त मौर्यने यूनानी राजा सेल्यूकसको परास्त करके अफगानिस्तान, कांधार आदि पश्चिम सीमावर्ती देश भी भारतमें सम्मिलित कर लिये थे।

भारतकी एकता।

भारतके विविध प्रान्तोंमें परस्पर एक दूसरेसे विभिन्नता पाई जाती है और यहांके निवासी मनुष्य भी सब एक नसलके नहीं हैं। मेगस्थनीज भी बतलाता है कि भारतकी बृहत् आकृतिको एक ही देश लेते हुये, उसमें अनेक और भिन्न जातियोंके मनुष्य रहते मिलते हैं; किन्तु उनमेंसे एक भी किसी विदेशी नसलके वंशज नहीं थे।[२] उनके आचार-विचार प्रायः एक दूसरेसे बहुत मिलते जुलते थे। इसी कारण यूनानी भी सारे देशको एक ही मानते थे और सिकन्दर महान्की अभिलाषा भी समग्र देशपर अपना सिक्का जमानेकी थी। भारतीय

१-मैए इ० पृ० ३०। २-पूर्व पृ० ३५।

राजा-महाराजा भी सारे देशपर अपना आधिपत्य फैलाना आवश्यक समझते थे। सारांशतः प्राचीनकालसे ही भौगोलिक दृष्टिसे सारा देश एक ही समझा जाता रहा है। अब भी यह बात ज्योंकी त्यों है। भारत एक देश है और उसकी मौलिक एकताका भाव यहांके निवासियोंमें सदा रहा है। किन्तु इस मौलिक एकताके होते हुये भी, जिस प्रकार वर्तमानमें भारत अनेक प्रान्तोंमें विभक्त है, उसी प्रकार भगवान महावीरजीके समयमें भी बंटा हुआ था। इस समय और उस समयके भारतकी राजनैतिक परिस्थितिमें बड़ा भारी अंतर यह था कि आज समूचा भारत एक साम्राज्यके अन्तर्गत शासित है, किन्तु उस समय यह देश भिन्न२ राजाओंके आधीन अथवा प्रजातंत्र संघोंकी छत्रछायामें था। हां, अशोक मौर्यके समय अवश्य ही प्रायः सारा भारत उसके आधीन होगया था।

तत्कालीन मुख्य राज्य।

म० गौतमबुद्धके जन्मके पहिलेसे भारत सोलह राज्योंमें विभक्त था; किन्तु जैनशास्त्र बतलाते हैं कि इन सोलह राज्योंके अस्तित्वमें आनेके जरा ही पहिले सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् ब्रह्मदत्तके समयमें भारत साम्राज्य एक था और उसकी राज्य-व्यवस्था सम्राट् ब्रह्मदत्तके आधीन थी। सम्राट् ब्रह्मदत्तका घोर पतन उसके अत्याचारोंके कारण हुआ और उसकी मृत्युके साथ ही भारत साम्राज्य तितर-बितर होकर निम्नलिखित सोलह राज्योंमें बंटगया:—

(१) अङ्ग—राजधानी चम्पा; (२) मगध—राजधानी राजगृह; (३) काशी—रा० धा० बनारस; (४) कौशल (आधुनिक नेपाल)—रा० श्रावस्ती; (५) वज्जियन—रा० वैशाली; (६) मल्ल—रा० पावा

और कुसीनारा; (७) चेतीयगण–उत्तरीय पर्वतोंमें अवस्थित था; (८) वन्स या वत्स–रा० कौशाम्बी; (९) कुरु–इन्द्रप्रस्थ; इसके पूर्वमें पाञ्चाल और दक्षिणमें मत्स्य था। रत्थपाल कुरुवंशी सरदार थे; (१०) पाञ्चाल–कुरुदेशके पूर्वमें पर्वतों और गंगाके मध्य अवस्थित था और दो विभागोंमें विभक्त था; रा० धा० कांपिल्य और कन्नौज थीं; (११) मत्स्य–कुरुके दक्षिणमें और जमनाके पश्चिममें था; (१२) सुरसेन–जमनाके पश्चिममें और मत्स्यके दक्षिण-पश्चिममें था; रा० मथुरा; (१३) अस्सक–असन्तीसे परे, रा० धा० पोतली या पोतन; (१४) अवन्ती–रा० उज्जयनी; ईसाकी दूसरी शताब्दि तक अवन्ती कहलाई; किन्तु ७वीं, ८वीं शताब्दिके उपरान्त यह मालवा कहलाने लगी; (१५) गान्धार–आजकलका कान्धार है–रा० तक्षशिला, राजा पक्कुसाति और (१६) कम्बोज–उत्तर-पश्चिमके ठेठ छोरपर थी, राजधानी द्वारिका थी।[१]

किन्तु उपरान्त म० गौतमबुद्धके जीवनकालमें कौशलका अधिकार काशीपर होगया था; अङ्गपर मगधाधिपने अधिकार जमा लिया था और अस्सके लोग संभवतः अवन्तीके आधीन होगये थे।[२] इसप्रकार उस समयके भारतकी दशा थी। इनमें मगधराज्य प्रमुख था और 'शिशुनागवंश'के राजा वहां राज्य करते थे। उससमय जैन धर्मके अतिरिक्त वैदिक और बौद्धधर्म विशेष उल्लेखनीय थे। उस-समय यहांके निवासियोंकी संख्या आजसे कम या ज्यादा थी, यह विदित नहीं होता; किन्तु आज भारतकी जनसंख्या तीसकरोड़से अधिक है, जिसमें सिर्फ १२०९२३९ जैनी हैं।

१–बुद्धिस्ट इंडिया पृ० २३। २–भप०, पृ० ६२।

शिशुनाग वंश ।

(ई० पूर्व ६४५ से ई० पूर्व ४८०)

शिशुनागवंशकी उत्पत्ति ।

ईसासे पूर्व छठी शताब्दिमें भारतमें सर्व प्रमुख राज्य मगधका था और इसी राज्यके परिचयसे भारतका एक विश्वसनीय इतिहास प्रारम्भ होता है। उससमय यहांका राज्यशासन शिशुनागवंशी क्षत्री राजाओंके अधिकारमें था। इस वंशकी उत्पत्तिके विषयमें कहा जाता है कि महाभारत युद्धमें यहां चन्द्रवंशी क्षत्रियोंका शासनाधिकार था; किन्तु इस युद्धमें श्रीकृष्णके हाथसे जरासिन्धुके मारे जानेके उपरान्त जब जरासिन्धुका अंतिम वंशज रिपुंजय मगधका राजा था, तब इसके मंत्री शुकनदेवने वि० सं० से ६७७ वर्ष पूर्व उसे मारडाला और अपने पुत्र प्रद्योतनको मगधका राजा बना दिया था। प्रद्योतनके वंशजोंमें वि० सं०के ६७७ वर्ष पूर्वसे ५८५ वर्ष पूर्वतक पालक, विशाखयूप, जनक और नन्दिवर्द्धनने राज्य किया। इनके पश्चात् इस वंशके पांचवें राजा शिशुनाग नामक हुये थे।

यह राजा बड़ा पराक्रमी, प्रतापी और ऐसा लोकप्रिय था कि अगाड़ी यह वंश इसीके नामपर 'शिशुनागवँश' के नामसे प्रसिद्ध हुआ। जैनशास्त्रोंसे इस वंशका भी क्षत्री होना सिद्ध है। वि० सं० के ५८५ वर्ष पूर्वसे ४२३ वर्ष पूर्वतक (ई० पूर्व ६४२ से ४८०) तक राजा शिशुनागसे इस वंशमें निम्नप्रकार दश राजा हुए थेः-(१) शिशुनाग, (२) काकवर्ण या शाकपर्ण, (३) धर्मक्षेपर्ण, (४) क्षत्रौज (क्षेमजित, क्षेत्रज्ञ, या उपश्रेणिक), (५) श्रेणिक–

बिम्बसार (विन्ध्यसार, विन्दूसार या विधिसार), (६) कुणिक या अजातशत्रु, (७) दरभक (दर्शक, हर्षक या वंशक); (८) उदयाश्व (उदासी, अजय, उदयी, उदयन् या उदयभद्रक); (९) नन्दिवर्द्धन (अनुरुद्धक या मुंड) और (१०) महानन्दि।[1]

क्षत्रौजस अथवा उपश्रेणिक।

राजा क्षत्रौज अथवा उपश्रेणिक प्रसिद्ध सम्राट् श्रेणिक बिम्बसारके पिता थे। यह मगधके छोटेसे राज्यपर शासन करते थे और इनकी राजधानी प्राचीन राजगृह थी। शिशुनाग वंशके यह चौथे राजा थे और बड़े धर्मात्मा एवं शूरवीर थे। जैन शास्त्र कहते हैं कि इन्होंने आसपासके राजाओंको अपने आधीन बना लिया था। उस समय चन्द्रपुरका राजा सोमशर्मा अपने पराक्रमके समक्ष अन्य सबको तुच्छ गिनता था, किन्तु महाराज उपश्रेणिकने उसे भी परास्त कर दिया था। चन्द्रपुर मगधके निकट ही बताया गया है[2]। इस राजाने उपश्रेणिककी भेंटमें एक घोड़ा भेजा था। वह घोड़ा एक दिवस उपश्रेणिकको भीलोंकी एक पल्लीमें ले पहुंचा था जहां भील राजा यमदंडकी कन्या तिलकवतीके रूपलावण्यपर वह मुग्ध होगये थे और उसके पुत्रको राज्याधिकारी बनानेका वचन देकर उन्होंने उसे अपनी रानी बनाया था। इन तिलकावतीसे चिलातपुत्र नामक पुत्र हुआ था[3]।

१–वृजैश०, पृ० १६७ यह वर्णन संभवतः हिन्दू पुराणोंके आधारसे है। जैनग्रन्थोंमें इस वंशका परिचय उपश्रेणिकसे मिलता है। २–श्रेणिक चरित्र पृ० २०। ३–आराधना कथाकोष भा० ३ पृ० ३३।

श्रेणिक बिम्बसार।

किन्तु राजा उपश्रेणिककी पट्टरानी इन्द्राणी नामक क्षत्री कन्या थी। उनके गर्भसे सम्राट् श्रेणिक बिम्बसारका जन्म हुआ था। उपश्रेणिकके पश्चात मगधराज्यके अधिकारी श्रेणिक महाराज ही हुए थे; यद्यपि महाराज उपश्रेणिकके देहांत होनेके पश्चात् नाम मात्रको कुछ दिनोंके लिये मगधके राज्य सिंहासन पर चिलात पुत्र भी आसीन हुआ था। किन्तु उसके अन्यायसे दुखी होकर प्रजाने श्रेणिक बिंबसारको राज्य सिंहासन पर बैठाया था। चिलातपुत्र प्राण लेकर भागा और मार्गमें वैभार पर्वतपर मुनिसंघको देख वह वहां पहुंचकर दत्तमुनि नामक आचार्यसे जैन साधुकी दीक्षा लेकर तपश्चरणमें लग गया था। वह शीघ्र ही इस नश्वर शरीरको छोड़कर सर्वार्थसिद्धि नामक विमानमें देव हुआ। इधर सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार राज्याधिकारी हुए और नीति पूर्वक प्रजाका पालन करने लगे थे। भारतीय इतिहासमें यही पहिला राजा है, जिसके विषयमें कुछ ऐतिहासिक वृत्तांत मालूम हुआ है।

श्रेणिकका प्रारंभिक जीवन।

जिस समय चिलातपुत्रको उपश्रेणिकने राजा बनाया था, उस समय उन्होंने श्रेणिकको देशसे निर्वासित कर दिया था। अनेक शास्त्रों और क्षत्रीधर्मकी प्रधान शस्त्र विद्यामें निपुण वीर श्रेणिक, पिताकी आज्ञाको ठीक रामचन्द्रजीकी तरह शिरोधार्य करके अपनी जन्मभूमिको छोड़कर चले गये थे। वह वेणपद्म नामक नगरमें पहुंचकर सोमशर्मा नामक ब्राह्मणके यहां अतिथि रहे थे। सोमशर्माकी युवा पुत्री नन्दश्री

१–आ० क० भा० ३ पृ० ३६।

इनके गुणोंपर मुग्ध होगई थी और अन्तमें उसका विवाह महाराज श्रेणिकके साथ होगया था।[1] इसी नन्दश्रीसे श्रेणिकके ज्येष्ठ पुत्र अभयकुमारका जन्म हुआ था।

श्रेणिकके राजसम्पन्न होनेके पश्चात् दक्षिण भारतके केरल नरेश मृगांकने अपनी कन्या विलासवतीका विवाह भी उनके साथ कर दिया था[2]। बौद्धोंके तिब्बतीय दुलवमें शायद इन्हींका उल्लेख वासवीके नामसे हुआ है; जहां वह एक साधारण लिच्छविनायककी पुत्री और श्रेणिकके दूसरे पुत्र कुणिक अजातशत्रुकी माता प्रगट की गई है; किन्तु यह कथन बौद्धोंके पाली ग्रन्थोंकी मान्यतासे बाधित है[3]। पाली ग्रन्थोंमें कहीं उन्हें वैशालीकी वेश्या आम्रपालीके गर्भ और श्रेणिकके औरससे जन्मा बतलाया है[4] और कहीं उन्हें उज्जैनीकी वेश्या पद्मावतीकी कोखसे जन्मा लिखा है[5]। ऐसी दशामें उनके कथन विश्वास करनेके योग्य नहीं हैं। मालूम ऐसा होता है कि कुणिक अजातशत्रु अपने प्रारंभिक और अंतिम जीवनमें जैनधर्मानुयायी था और वह बौद्ध संघके द्रोही देवदत्त नामक साधुके बहकावेमें आगया था, इन्हीं कारणोंसे बौद्धोंने साम्प्रदायिक विद्वेषवश ऐसी निराधार व भर्त्सना पूर्ण बातें उनके सम्बंधमें लिख मारी हैं। वरन् स्वयं उन्हींके ग्रन्थोंसे प्रगट है कि अजातशत्रु

१–श्रेणिक चरित्रमें (पृ० ६१) नंदश्रीको वैश्य इन्द्रदत्त सेठोकी पुत्री लिखा है, किन्तु उससे प्राचीन 'उत्तरपुराण' में वह ब्राह्मण कन्या बताई गई है। उ० पु० पृ० ६२०। २–श्रे० च० पृ० ९९। ३–हमारा 'भगवान महावीर' पृ० १३८ व क्षत्री क्लैन्स० पृ० १२५–१२८। ४–रॉकहिल, लाइफ ऑफ दी बुद्ध, पृ० ६४। ५–दी साम्स ऑफ दी सिस्टर्स, पृ० ३०।

विदेहकी राजकुमारीका पुत्र था, जो वैदेही–चेलना अथवा श्रीभद्रा या भद्रा कहलाती थी। कुणिक भी अपनी माताकी अपेक्षा 'वैदेही पुत्र' के नामसे प्रख्यात था। जैन शास्त्र भी चेलनीको वैशालीके राजा चेटककी पुत्री बतलाते हैं।

चेलनी भगवान् महावीरकी मौसी थी[२]। जिस समय चेलनीका विवाह सम्राट् श्रेणिकके साथ हुआ था, उससमय वह बौद्ध था; किन्तु उपरांत महाराणी चेलनीके प्रयत्नसे वह जैनधर्मानुयायी हुआ था। बौद्ध धर्मके लिये उन्होंने कुछ विशेष कार्य नहीं किया था और वह बहुत दिनों तक बौद्ध रहे भी नहीं थे; यही कारण है कि बौद्ध ग्रन्थोंमें उनका उल्लेख कठिनतासे मिलता है[३]। महाराणी चेलनीके अतिरिक्त कौशलकी एक राजकुमारी भी सम्राट् श्रेणिककी पत्नी थीं। किन्तु इन सबमें पटरानी (महादेवी)का पद चेलनीको ही प्राप्त था। चेलनी जैनधर्मकी परम भक्त थी और जैनधर्मकी प्रभावनाके लिये इसने अनेक कार्य किये थे। इसके अजातशत्रुके अतिरिक्त छ पुत्र और हुये थे; अर्थात् (१) अजातशत्रु (कुणिक वा अक्रूर), (२) वारिषेण, (३) हल्ल, (४) विदल, (५) जितशत्रु, (६) गजकुमार (दंतिकुमार) और (७) मेघकुमार। किंतु इनका मौसेरा भाई अभयकुमार इन सबसे बड़ा था और वह जैन मुनि होनेके पहले तक युवराज रहा था।

अजातशत्रुकी बहिन गुणवती नामकी थी और दूसरी मौसेरी

१–भ० म० पृ० १४३। २–उ० पु०, पृ० ६३४ श्वे० निर्यावली सूत्रमें भी उन्हें राजा चेटककी पुत्री लिखा है। Gs., Vol XXII, Intro. pp. XIII. ३–भ० म० पृ० १३४–१५१।

बहिन महारानी विलासवतीकी पुत्री पद्मावती थी[1]। गुणवतीका विवाह उज्जैनीके प्रसिद्ध और विशेष गुण संपन्न वैश्य पुत्र धन्यकुमारके साथ हुआ था। गुणवती स्वयं धन्यकुमारके गुणोंपर मुग्ध हुई थी और अन्ततः उसको उत्तम कुलका पाकर सम्राट् श्रेणिकने गुणवतीका पाणिग्रहण श्रेष्ठी पुत्रके साथ कर दिया था।[2] श्वेतांबराम्नायके ग्रन्थोंमें श्रेणिककी दश रानियां बताई गई हैं, जिन्होंने चन्दना आर्यिकाके निकट शास्त्र अध्ययन किया था। (४ अ०) इनके पुत्र पौत्र जैन मुनि हुये थे।

श्रेणिक बिम्बसार और अन्य राज्य।

जिस प्रकार सम्राट् श्रेणिकका कौटुंबिक जीवन आनन्दमय था, उसी प्रकार उनकी राजनीति कुशाग्रताके कारण उनका राजनैतिक जीवन भी गौरव पूर्ण था। महाराज उपश्रेणिकने मगध राज्यके निकटवर्ती छोटे राजाओंको अपने आधीन कर लिया था। सम्राट् श्रेणिकने उनसे अगाड़ी बढ़कर निकटके अंगदेशको जीत लिया और उसे अपने राज्यमें मिला लिया। मगध राज्यकी उन्नतिका सूत्रपात इसी अंगदेशकी जीतसे हुआ और इस कारण श्रेणिक बिम्बसारको यदि मगध साम्राज्यका सच्चा संस्थापक कहें तो अनुचित नहीं है।

अंगदेश उससमय आजकलके भागलपुर और मुंगेर जिलोंके बराबर था और वहांका शासन कुणिक अजातशत्रुके सुपुर्द था।[3] श्रेणिक बिम्बसारका एक अन्य युद्ध वैशालीके राजा चेटकसे भी

१–बृहद् जैन शब्दार्णव, भा० १ पृ० २५ व १६७। २–धन्यकुमार चरित पर्व ६ अ० इंऐ० भा० २० पृ० १८। ३–अहि इ० पृ० ३३।

हुआ था; किन्तु उसका अन्त परस्परमें सन्धि होकर होगया था।[1] कहते हैं कि इसी सन्धिके उपरान्त श्रेणिकका विवाह कुमारी चेलनीके साथ हुआ था। सम्राट् श्रेणिक बिम्बसारने अपने बढ़ते हुए राज्यबलको देखकर ही शायद एक नई राजधानी—नवीन राजगृहकी नींव डाली थी।[2] उनने अपने पड़ोसके दो महाशक्तिशाली राज्यों-कौशल और वैशालीसे सम्बन्ध स्थापित करके अपनी राजनीति कुशलताका परिचय दिया था—इन सम्बन्धोंसे उनकी शक्ति और प्रतिष्ठा अधिक बढ़ गई थी।[3]

आधुनिक विद्वानोंका मत है कि सम्राट् बिम्बसारने सन् ई० से पूर्व ५८२ से ५५४ वर्ष तक कुल २८ वर्ष राज्य किया था। किन्तु बौद्ध ग्रन्थोंमें उन्हें पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें सिंहासनारूढ़ होकर ५२ वर्ष तक राज्य करते लिखा है। (दीपवंश ३-५६-१०) वह म० बुद्धसे पांच वर्ष छोटे थे।* फारस (Persia) का बादशाह दारा (Darias) इन्हींका समकालीन था और उसने सिंधुनदीवर्ती प्रदेशको अपने राज्यमें मिला लिया था। किन्तु दाराके उपरांत चौथी शताब्दि ई० ५०के आरम्भमें जब फारसका साम्राज्य दुर्बल होगया, तब यह सब पुनः स्वाधीन होगये थे। इतनेपर भी इस विजयका प्रभाव भारतपर स्थायी रहा। यहां एक नई लिपि

१—कारमाइकल लेक्चर्स, १०१८, पृ० ७४। २—अहिइ०, पृ० ३३। ३-अध०, पृ० ४। ४—ऑहिइ०, पृ० ४५।

* मि० काशीप्रसाद जायसवालने श्रेणिकका राज्य काल ५१ वर्ष (६०१-५५२ ई० पूर्व) लिखा है। कौशांबीके परन्तप शतानिक व श्रावस्तीके प्रसेनजी समकालीन राजा थे। जीव ओसो भा० १ पृ० ११४।

जिसे खरोष्ठी लिपि कहते हैं, प्रचलित होगई और यहांके शिल्प पर भी फारसकी कलाका प्रभाव पड़ा था।

सम्राट् श्रेणिकके राज्य प्रबंधमें जैनोंका कहना है कि 'उनके राज्य करते समय न तो राज्यमें किसी प्रकारकी अनीति थी और न किसी प्रकारका भय ही था, किन्तु प्रजा अच्छी तरह सुखानुभव करती थी।'

श्रेणिक बिम्बसार धार्मिक जीवन। जैनधर्मके इतिहासमें श्रेणिक बिम्बसारको प्रमुखस्थान प्राप्त है। भगवान महावीरके समोशरण (सभागृह) में वह जैन थे और उनका मुख्य श्रोता थे। जैनोंकी मान्यता है कि यदि श्रेणिक महाराज भगवान महावीरजीसे साठ हजार प्रश्न नहीं करते, तो आज जैनधर्मका नाम भी सुनाई नहीं पड़ता! किंतु अभाग्यवश इन इतने प्रश्नोंमेंसे आज हमें अति अल्प संख्यक प्रश्नोंका उत्तर मिलता है। प्रायः जितने भी पुराण ग्रन्थ मिलते हैं, वह सब भगवान महावीरके समोशरणमें श्रेणिक महाराज द्वारा किये गये प्रश्नके उत्तरमें प्रतिपादित हुये मिलते हैं। जैनाचार्योंकी इस परिपाटीसे महाराज श्रेणिककी जैनधर्ममें जो प्रधानता है, वह स्पष्ट होजाती है। श्रेणिक महाराजको बौद्ध अपने धर्मका अनुयायी बतलाते हैं; किंतु बौद्धोंका यह दावा उनके प्रारम्भिक जीवनके सम्बन्धमें ठीक है। अवशेष जीवनमें वह पक्के जैनधर्मानुयायी थे।[२] यही कारण है कि बौद्ध ग्रंथोंमें उनके अंतिम जीवनके विषयमें घृणित और कटुक वर्णन मिलता है, जैसे कि हम अगाड़ी देखेंगे।

जब श्रेणिक महाराजको जैनधर्ममें दृढ़ श्रद्धान होगया था,

१–भाइ० पृ० ५४। २–भ० म०, पृ० १३८–१४८।

तब उन्होंने जैनधर्म प्रभावनाके लिये अनेक कार्य किये थे।[१] जब जब भगवान महावीरका समोशरण राजगृहके निकट विपुलाचल पर्वत पर पहुंचा था, तब तब उन्होंने राजदुन्दुभि बजवाकर सपरिवार और प्रजा सहित भगवानकी वन्दना की थी। उन्होंने कई एक जैन मंदिर बनवाये थे। सम्मेदशिखर पर जो जैन तीर्थंकरोंके समाधि मंदिर और उनमें चरणचिह्न विराजमान हैं, उनको सबसे पहिले फिरसे सम्राट् श्रेणिकने ही बनवाया था[२]। इनके सिवाय जैनधर्मके लिये उन्होंने और क्या २ कार्य किये, इसको जाननेके लिये हमारे पास पर्याप्त साधन नहीं है। तौ भी जैन शास्त्रोंके अध्ययनसे उनके विशेष कार्योंका पता खूब चलता है और यह स्पष्ट होजाता है कि इस राजवंशमें जैनधर्मकी गति विशेष थी। श्रेणिकके पुत्रोंमेंसे कई भगवान महावीरके निकट जैन मुनि होगये थे। सम्राट् श्रेणिक क्षायिक सम्यग्दृष्टी थे परन्तु वह व्रतोंका अभ्यास नहीं कर सके थे। इसपर भी वह अपने धर्मप्रेमके अटूट पुण्य प्रतापसे आगामी पद्मनाभ नामक प्रथम तीर्थंकर होंगे।

युवराज अभयकुमार।

ऊपर कहा जाचुका है कि सम्राट् श्रेणिकके ज्येष्ठ पुत्र अभयकुमार थे और वही युवराज पदपर रहकर बहुत दिनोंतक राज्यशासनमें अपने पिताका हाथ बटाते रहे थे। फलतः मगधका राज्य भी बहार दूरतक फैल गया था[३]। अपने पिताके समान अभयकुमार भी एक समय बौद्ध थे; किंतु उपरान्त वह भी जैनधर्मके परमभक्त हुये थे। बौद्धग्रन्थसे

१–स्व० विन्सेन्ट स्मिथ साहबने उन्हें एक जैन राजा प्रगट किया है। ऑहिइ० पृ० ४५। २–ऐशियाटिक सोसाइटी जर्नल, जनवरी १८२४ व ज० म० पृ० १४७। ३–भाइ०, पृ० ५४।

भी पता चलता है कि वह अवश्य ही भगवान महावीरजीके परम-भक्त और श्रद्धालु थे;[१] किंतु उनके इस कथनमें तथ्य नहीं दिखता कि वह बौद्ध भिक्षु होगये थे।[२] हां, जैन ग्रंथोंसे यह प्रकट है कि अपने प्रारंभिक जीवनमें अभयकुमार अवश्य बौद्ध रहे थे। अभयकुमार आजन्म ब्रह्मचारी रहे थे। वह युवावस्थामें ही उदासीन वृत्तिके थे। उनने इस बातकी कोशिश भी की थी कि वह जल्दी जैन मुनि होजावें; किन्तु वह सहसा पितृ आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सके थे। गृहस्थ दशामें उनने श्रावकोंके व्रतोंका अभ्यास किया था और फिर अपने माता-पिताको समझा बुझाकर वह जैन मुनि होगये थे। अपने पिताके साथ वह कईवार भगवान् महावीरजीके दर्शन कर चुके थे और उनके निकटसे अपने पूर्वभव सुनकर उन्हें जैनधर्ममें श्रद्धा हुई थी। अभयकुमार अपनी बुद्धिमत्ता और चारित्र निष्ठाके लिये राजगृहमें प्रख्यात थे[३]।

श्वेतांबरीय शास्त्रोंका कथन है कि गृहस्थ दशामें अभयकुमारने अपने मित्र एक यवन राजकुमारको, जिसका नाम आर्द्रक था, जैनधर्मका श्रद्धानी बनाया था। इस आर्द्रकने एक भारतीय

१५-मज्झिम० स० भा० १ पृ० ३९२। २-भमबु०, पृ० १९१-१९४। ३७-भ्रेच०, पृ० १३७। ४-डिजैबा०, पृ० ११ व १२ श्वे० सूत्रकृतांगमें इनको लक्ष्य करके एक व्याख्यान लिखा गया है। (S. B. E., XLV., 400) यह यवन बताये गये हैं, जिससे भाव यूनानी अथवा ईरानी (Persian) के होते हैं। हमारे विचारसे इसका ईरानी होना ठीक है; क्योंकि उस समय ईरान (फारस) का ही घनिष्ठ सम्पर्क भारतसे था और जैन मंत्री राक्षसके सहायकोंमें भी फारसका नाम है, मुद्रा० पृ० ९६।

महिलाके साथ विवाह किया था और पश्चात् वह भी जैन मुनि होगया था। अभयकुमारने भगवान् महावीरके मुख्य गणधर इन्द्र-भूति गौतमके निकट जैन मुनिकी दीक्षा ग्रहण की थी और अंतमें कर्मोंका नाश करके विपुलाचल पर्वतपरसे वह अव्याबाध मोक्ष-सुखको प्राप्त हुये थे[1]।

श्रेणिकका अन्तिम जीवन और अजातशत्रु बौद्धसे फिर जैन।

अभयकुमारके जैन मुनि हो जानेके उपरान्त युवराज पद कुणिक अजातशत्रुको मिला था। किन्तु वह इस पदपर अधिक दिन आसीन नहीं रह सका। श्रेणिक महाराज अपनी वृद्ध अवस्था देखकर आत्महित चिन्तनामें शीघ्र ही व्यस्त हुए थे। एक रोज उन्होंने अपने सामन्तोंको इकट्ठा किया और उनकी सम्मतिपूर्वक बड़े समारोहके साथ अपना विशाल राज्य युवराज कुणिक अजातशत्रुको देदिया। वे नीतिपूर्वक प्रजाका पालन करने लगे थे। उधर सम्राट् श्रेणिक एकान्तमें रहकर धर्मसाधन करनेमें संलग्न हुए थे। यह घटना ई० पू० सन् ५५४ में घटित हुई अनुमान की जाती है[2] और चूँकि भगवान महावीरका निर्वाण ई० पू० सन् ५४५ में हुआ था, इसलिये भगवानके जीवनकालमें ही श्रेणिकका अन्तिम जीवन व्यतीत हुआ प्रगट होता है। कुणिक अजातशत्रुके राज्याधिकारी होनेके किंचित् काल पश्चात् ही उनका व्यवहार श्रेणिक महाराजके प्रति बुरा होने लगा था। जैनशास्त्र कहते हैं कि पूर्व बैरके कारण अजातशत्रुने उनको काठके पींजरेमें बंद कर दिया और वह उन्हें मनमाने दुःख देने लगा था। किन्तु

१–जैप्र० पृ० २३०। २–अहिइ०, पृ० ३६।

बौद्ध ग्रंथोंसे पता चलता है कि उसने यह दुष्ट कार्य देवदत्त नामक एक बौद्धसंघद्रोही साधुके बहकानेसे किया था।

कुणिक अजातशत्रुका सम्पर्क बौद्ध संघसे उस समयसे था, जब वह राजकुमार ही था। और ऐसा मालूम होता है कि इस समय वह बौद्धभक्त होगया था और अपने पिताको कष्ट देने लगा था क्योंकि वह जैनधर्मानुयायी थे। अपने जीवनके प्रारंभमें अजातशत्रु भी जैन था; यही कारण है कि उनको बौद्धग्रंथोंमें तब 'सब दुष्कर्मोंका समर्थक और पोषक' लिखा है।[1] बौद्ध ग्रंथोंमें जैनोंसे घोर स्पर्द्धा और उनको नीचा दिखानेका पद पदपर अविश्रान्त प्रयत्न किया हुआ मिलता है; ऐसी दशामें उनके कथनको यद्यपि साम्प्रदायिक मत पुष्टिके कथनसे अधिक महत्व नहीं दिया जासक्ता।[2] तो भी उक्त प्रकार कुणिकका पितृ-द्रोही होना इसी कटु साम्प्रदायिकताका विषफल मानना ठीक जंचता है। यही कारण है कि बौद्धग्रंथ श्रेणिक महाराजके विषयमें अन्तिम परिणामका कुछ उल्लेख नहीं करते। किन्तु इस ऐतिहासिक* घटनाका अन्तिम परिणाम यह हुआ था कि कुणिकको अपनी गलती सूझ गई थी और माताके समझानेसे वह पश्चात्ताप करता हुआ अपने पिताको बन्धन मुक्त करने पहुंचा किन्तु श्रेणिकने उसको और कुछ अधिक कष्ट देनेके लिये आता जानकर अपना

१-भम०, पृ० १३५-१५२। २-भमबु०, परिशिष्ट और कैहि इ० पृ० १६१-१६३।

* कैहि इ० प० १८४ श्वेताम्बरोंके 'निर्यावलीसूत्र'में इस घटनाका वर्णन है। इंए० भा० २१ पृ० २१।

अपघात कर लिया था। इस हृदयविदारक घटनासे वह बड़ा दुखी हुआ और बरवश अपने हृदयको शांति देकर राज्य करने लगा; किन्तु महाराणी चेलनी राजमहलोंमें अधिक न ठहर सकी थीं। उन्होंने भगवान महावीरजीके समोशरणमें जाकर आर्यिका चन्दनाके निकट दीक्षा ग्रहण करली थी।[१]

उधर अजातशत्रुका भी चित्त बौद्धधर्मसे फिर चला था। और जब भगवान महावीरके निर्वाण हो जानेके उपरान्त, प्रमुख गणधर इन्द्रभूति गौतम, श्री सुधर्मास्वामीके साथ विपुलाचलपर्वतपर आकर विराजमान हुये थे, तब उसने सपरिवार श्रावकके व्रत ग्रहण किये थे।[२] ऐसा मालूम होता है कि इसके थोड़े दिनों बाद ही वह संसारसे बिल्कुल विरक्त होगये, और अपने पुत्र लोकपाल (दर्शक)-को छोटे भाई जितशत्रुके सुपुर्द करके स्वयं जैन मुनि होगये थे।[३] उनका देहान्त ५२७ ई० पू०में हुआ प्रगट किया गया है[४] और यह समय इन्द्रभूति गौतम और सुधर्मास्वामीसे मिलकर उनके जैन धर्म धारण करने आदि घटनाओंसे ठीक बैठता है; क्योंकि इन्द्र-भूति गौतमस्वामी भगवान महावीरके पश्चात् केवल बारह वर्ष और जीवित रहे थे।

१-भ्रेच०, पृ० ३६१ व वृजैश० पृ० २५।

२-उपु०, पृ० ७०६ व कैहिइ०, पृ० १६१।

३-वृजैश०, पृ० २५।

४-अहिइ०, पृ० ३५-किन्तु मि० जायसवाल कुणिकका राज्यकाल ३४ वर्ष (५५२-५१८ ई० पू०) बताते हैं; जो ठीक जंचता है। (अबिओसो० भा० १ पृ० ११५)।

कुणिक अजातशत्रु अपने समयका एक बड़ा राजा था। इसके राज्यकालकी मुख्य घटनायें यह बतलाई जाती हैं कि—(१) कौशलदेशके राजाके साथ अजातशत्रुका युद्ध हुआ था; जिसमें कौशलनरेशने अपनी बहिनका विवाह करके मगधाधिपतिसे मैत्री कर ली थी। किन्तु मालूम ऐसा होता है कि इस मैत्रीके होते हुए भी कौशलपर मगधका सिक्का जम गया था; (२) अजातशत्रुने वैशाली (तिरहुत) पर भी आक्रमण किया था और उसे अपने राज्यमें मिलाकर वह गंग और हिमालयके बीचवाले प्रदेशका सम्राट बन गया था। मि० जायसवाल वैशालीकी विजय ई० पूर्व ५४० में निर्दिष्ट करते हैं। (जविओपो० भा० १ पृ० ११९) श्वेतांबर शास्त्र कहते हैं कि इस संग्राममें वैशालीकी ओरसे ९ मल्ल, ९ लिच्छवि और ४८ काशी कौशलके गणराजाओंने भाग लिया था। (इंऐ० भा० २११-२१) (३) उसने सोन और गंगा नदियोंके संगमपर पाटीलग्रामके समीप एक किला भी बनवाया था; जिससे उपरान्तके प्रसिद्ध नगर पाटलिपुत्रके जन्मका सूत्रपात होगया था; और (४) यह भी कहा जाता है कि उसके समयमें शाक्य क्षत्रियोंका, जो महात्मा गौतमबुद्धके वंशज थे, बुरी तरह नाश हुआ था। अथच उसने जैनधर्मको विशेष रीतिसे अपनाया था, यह पहले ही बतलाया जाचुका है।[२] बौद्ध न होकर वह खासकर एक

कुणिक अजातशत्रुके राजकालकी मुख्य घटनायें।

१-अहिइ० ३७-३८. श्वेताम्बर ग्रंथ कहते हैं कि कुणिकके भाईको लिच्छवियोंने बसे नहीं दिया था इस कारण युद्ध हुआ था। इऐ० भा० २१ पृ० २१। २-अहिइ० पृ० ३६ और केहिइ० पृ० १६३।

जैन राजा था। उसके राज्यमें जैनधर्मका खूब विस्तार हुआ था।[1x]

कुणिककी एक मूर्ति भी मिली है और विद्वानोंका अनुमान है कि उसकी एक बांह टूटी थी। यही कारण है कि वह 'कुणिक' कहलाता था (जविओसो० भा० १ पृष्ठ ८४) कुणिकके राज्य-कालमें सबसे मुख्य घटना भगवान महावीरजीके निर्वाण लाभकी घटित हुई थी। इसी समय अर्थात् ५४५ ई० पूर्वमें अवन्तीमें पालक नामक राजा सिंहासनपर आसीन हुआ था। म० बुद्धका स्वर्गवास भी लगभग इसी समय हुआ था। (जविओसो० भाग १ पृष्ठ ११५)

दर्शक और उदयन्।

कुणिक अजातशत्रुके पश्चात् मगधके राज्य सिंहासनपर उसका पुत्र दर्शक अथवा लोकपाल अधिकारी हुआ था; किन्तु इसके विषयमें बहुत कम परिचय मिलता है। 'स्वप्नवासदत्ता' नामक नाटकसे यह वत्सराज उदयन् और उज्जैनीपति प्रद्योतन्‌के समकालीन प्रगट होते हैं। प्रद्योतन्‌ने इनकी कन्याका पाणिग्रहण अपने पुत्रसे करना चाहा था[2]। दर्शकके बाद ई० पू० सन् ५०३में अजातशत्रुका पोता उदय अथवा उदयन् मगधका राजा हुआ था। उसके विषयमें कहा जाता है कि उसने पाटलिपुत्र अथवा कुसुमपुर नामक नगर बसाया था। इस नगरमें उसने एक सुंदर जैनमंदिर भी बनवाया था; क्योंकि उदयन् भी अपने पितामहकी भांति जैनधर्मानुयायी था। कहते हैं कि जैनधर्मके

१x–कैहिइ० पृ० १६१ अजातशत्रुने अपने शीलव्रत नामक भाईको भी बौद्धधर्मविमुख बनानेके प्रयत्न किये थे। (साम्स० २६५) २–अहिइ०, पृ० ३९। ३–अहिइ० पृ० ४८। ४–हिलि जै० पृ० ४२।

प्रति उसका विशेष अनुराग ही उसकी मृत्युका कारण हुआ था। एक राजकुमार जिसके पिताको उदयन्‌ने राजभ्रष्ट कर दिया था, राजमहलमें एक जैनमुनिका वेष धरकर पहुंचा था और उसने इसको मार डाला था। यह घटना भगवान महावीरके निर्वाणसे साठ वर्ष बाद घटित हुई अनुमान की गई है।[1] भगवान महावीरका निर्वाण ई० पूर्व ५४५ में माननेसे, दर्शकका राज्य ई० पू० ५१८ से ४८३ तक और उदयन्‌का ४८३ से ४६७ तक प्रमाणित होता है। (जविओसो० भाग १ पृष्ठ ११६)

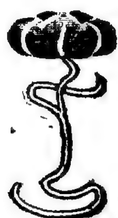
नन्दिवर्द्धन और महानन्दिन्।

हिन्दू पुराणोंके अनुसार उदयन्‌के उत्तराधिकारी नन्दिवर्द्धन और महानन्दिन् थे; किन्तु उनके विषयमें विशेष परिचय नन्दवंशके इतिहासमें है। उनके नामोंमें 'नन्दि' शब्दको पाकर, कोई २ विद्वान् उन्हें नन्द-वंशका अनुमान करता है।[2] उपरान्तके श्वेताम्बर ग्रंथ भी इस बातका समर्थन करते हुए मिलते हैं। उनमें लिखा है कि उदयन्‌के कोई पुत्र नहीं था; इसलिये एक नन्द नामक व्यक्तिको जो एक नाईके सम्बन्धसे वेश्या पुत्र था, लोगोंने राजा नियत किया था। इसका राजमंत्री कल्पक नामक जैनधर्मका दृढ़ श्रद्धानी था।[3] किन्तु इस कथाको सत्य मान लेना कठिन है। मालूम ऐसा होता है कि हिन्दू पुराणोंमें महानन्दिन्‌की शूद्र वर्णकी (संभवतः नाइन) एक रानीके गर्भसे महापद्मनन्दका जन्म हुआ लिखा है; उसी आधारसे शिशुनागवंशका अंत उदयन्‌से करके उपरोक्त कथाकारने नन्द नामक व्यक्तिको वेश्यापुत्र लिख मारा है। किन्तु उदयगिरिके हाथी-

१-कैहिइ० पृ० १६४। २-अहिइ० पृ० ४१। ३-हिलिजै० पृ० ४३।

गुफावाले शिलालेखमें जिस नन्दका उल्लेख आया है, उसे श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवालने नन्दिवर्द्धन ही बतलाया है ।[1] इसलिये वे नन्दराजाओंको दो भागोंमें (१) प्राचीन (२) और नवीन नन्द रूपमें स्थापित करते हैं ।

नन्दिवर्द्धन भी जैनधर्म भक्त प्रतीत होते हैं; क्योंकि कलिङ्ग विजय करके वहांसे वह एक जैन मुर्ति भी लाये थे और उसे उनने सुरक्षित रक्खा था । कलिङ्गमें उनने एक नहर भी बनवाई थी ।[2] अजातशत्रु, उदयन और नन्दिवर्द्धनकी मूर्तियां भी मिली हैं, जो कलकत्ते और मथुराके अजायबघरमें रक्खी हुई हैं ।[3] इससे इन राजाओंका विशेष प्रभावशाली होना प्रकट है । नन्दिवर्द्धनके द्वारा मगधराज्यकी उन्नति विशेष हुई दृष्टि पड़ती है, कि उसका आधिपत्य कलिङ्ग देशतक व्याप्त होगया था । महानन्दिनके सम्बन्धमें कुछ अधिक ज्ञात नहीं होता । यद्यपि यह प्रकट है कि उसकी शूद्रा रानीसे महापद्मनन्दका जन्म हुआ था, जिससे नंद-वंशकी उत्पत्ति हुई थी और वह मगधराज्यका अधिकारी हुआ था ।



१–जबिओसो, भा० ४ पृ० ४३५ ।
२–जबिओसो०, भाग ४ पृ० ४६३ ।
३–जबिओसो०, भाग १ पृ० ८८–९६ व भा० ६ पृ० १७३ ।

लिच्छिवि आदि गणराज्य।

ई० पू० ६ वीं शताब्दि।

प्राचीन भारतमें प्रजातंत्र राज्य।

उस समय जिस प्रकार उत्तरीय भारतमें मगधसाम्राज्य अपने स्वाधीन और पराक्रमी राजाओंके लिये प्रसिद्ध था, उसी प्रकार गणराज्यों अथवा प्रजातंत्र राज्योंमें वैशालीका लिच्छिवि वंश प्रधान था। यह बात तो आज स्पष्ट ही है कि प्राचीन भारतमें प्रजातंत्र राज्य थे। हिंदुओंके महाभारतमें ऐसे कई राज्योंका उल्लेख आया है। बौद्धोंकी जात कथाओंमें भी उससमय ऐसी राजसंस्थाओंकी झलक मिलती है।[1] जैनोंके शास्त्र भी इस बातका समर्थन करते हैं।[2] इन प्रजातंत्र राज्योंकी राज्य व्यवस्था नागरिक लोगोंकी एक सभा द्वारा होती थी; जिसका निर्णय वोटों द्वारा होता था। तिनके डालकर सब सभासद वोट देते थे और बहुमत सर्वमान्य होता था। वृद्ध और अनुभवी पुरुषोंको राज्य-प्रबंधके कार्य सौंपे जाते थे और उन्हींमेंसे एक प्रभावशाली व्यक्ति सभापति चुन लिया जाता था। यह सब राजा कहलाते थे।

वैशालीके लिच्छिवि क्षत्रियोंका प्रजातंत्र राज्य।

वैशालीके लिच्छिवि क्षत्रियोंका राज्य ऐसा ही था। उससमय इनके प्रजातंत्र राज्यमें आठ जातियां सम्मिलित थीं। विदेहके क्षत्री लोग भी इस प्रजातंत्र राज्यमें शामिल थे, जिसकी राजधानी मिथिला थी। लिच्छिवि और विदेह राज्योंका संयुक्त

१–भाइ०, पृ० ५८–५९। २–श्वे० कल्पसूत्र (१२८) में काशी-कौशल, लिच्छवि और मल्लिक गणराज्योंका उल्लेख है। दि० जैन शास्त्रोंसे भी यह सिद्ध है। भमबु० पृ० ६५–६६।

गणराज्य 'वृज्जि अथवा वज्जि' नामसे भी प्रसिद्ध था[1]। इस राज्यमें सम्मिलित हुई सब जातियां आपसमें बड़े प्रेम और स्नेहसे रहती थीं, जिसके कारण उनकी आर्थिक दशा समुन्नत होनेके साथ २ एकता ऐसी थी कि जिसने उन्हें एक बड़ा प्रभावशाली राज्य बना दिया था। मगधके बलवान राजा इनपर बहुत दिनोंसे आंख लगाये हुये बैठे थे; किन्तु इनकी एकताको देखकर उनकी हिम्मत पस्त होजाती थी। अंतमें मगधके राजा अजातशत्रुने इन लोगोंमें आपसी फूट पैदा करा दी थी और तब वह इनको सहज ही परास्त कर सका था। ऐक्य अवस्थामें उनका राज्य अवश्य ही एक आदर्श राज्य था वह प्राय: आजकलके प्रजातंत्र (Republic) राज्योंके समान था। जहांपर लिच्छिवि-गण दरबार करते थे, वहांपर उनने 'टाउनहॉल' बना लिये थे; जिन्हें वे 'सान्थागार' कहते थे।

वृज्जि-राजसंघमें जो जातियां सम्मिलित थीं, उनमेंसे सदस्य चुने जाकर वहां भेजे जाते थे और वहां बहुमतसे प्रत्येक आवश्यक कार्यका निर्णय होता था। बौद्ध ग्रन्थ इस विषयमें बतलाते हैं कि पहिले उनमें एक 'आसन पञ्ञापक' (आसन-प्रज्ञापक) नामक अधिकारी चुना जाता था, जो अवस्थानुसार आगन्तुकोंको आसन बतलाता था। उपस्थिति पर्याप्त हो जानेपर कोई भी आवश्यक प्रस्ताव संघके सम्मुख लाया जाता था। इस क्रियाको 'नात्ति' (ज्ञाप्ति) कहते थे। नात्तिके पश्चात प्रस्तावकी मंजूरी लीजाती थी, अर्थात उसपर विचार किया जावे या नहीं। यह प्रश्न एक दफेसे तीन दफे तक पुछा जाता था। यदि

१-भाइ० पृ० ५९।

उसपर विचार करके सब सहमत होते थे, तो वह पास होजाता था; किन्तु विरोधके होनेपर वोट लेकर निर्णय किया जाता था। अनुपस्थित सदस्यका वोट भी गिना जाता था। इन दरबारोंकी कार्रवाई चार-चार सदस्य (राजा) अंकित करते जाते थे। इनमें नायक अथवा चीफ मजिस्ट्रेट होते थे, जो राज्यसत्ता सम्पन्न कुलों-द्वारा चुने जाते थे। इन्हींके द्वारा दरबारमें निश्चित हुए प्रस्तावोंको कार्यरूपमें परिणत किया जाता था। इनमें मुख्य राजा (सभापति), उपराजा, भण्डारी, सेनापति आदि भी थे। इनका न्यायालय भी बिलकुल आदर्श ढंगका था; जहां दूधका दूध और पानीका पानी करनेके लिये कुछ उठा न रक्खा जाता था।

वृज्जि संघमें सर्व प्रमुख लिच्छिविक्षत्री थे। यह वशिष्ट गोत्रके

लिच्छिविक्षत्रियोंका सामान्य परिचय।

इक्ष्वाकुवंशी क्षत्री थे। इनका लिच्छिवि नाम कहांसे और कैसे किस कालमें पड़ा, इसके जाननेके लिये विश्वास योग्य साधन प्राप्त नहीं हैं; किंतु इतना स्पष्ट है कि जिससमय भगवान् महावीर इस संसारमें विद्यमान थे और धर्मका प्रचार कर रहे थे, उस समय वे एक उच्चवंशीय क्षत्री माने जाते थे। अन्यान्य क्षत्री उनसे विवाहसम्बन्ध करनेमें अपना बड़ा गौरव समझते थे। भगवान महावीरके पिता भी इन्हींके गण-राज्य अर्थात् 'वज्जिराजसंघ' में सम्मिलित थे। लिच्छिवि एक परिश्रमी, पराक्रमी और समृद्धिशाली जाति होनेके साथ ही साथ धार्मिक रुचि और भावको रखनेवाली थी। यह लोग बड़े दयालु और परोपकारी थे। इनकी शरीर आकृति भी सुडौल और सुन्दर

१-मय०, पृ० ५७-६३।

थी। यह लोग अलग२ रंगके कपड़े और सुन्दर बहुमूल्य आभूषण पहिनते थे। उनकी घोड़ेगाड़ियां सोनेकी थीं। हाथीकी अम्बारी सोनेकी थीं और पालकी भी सोनेकी थीं। इससे उनके विशेष समृद्धिशाली और पूर्ण सुखसम्पन्न होनेका पता चलता है। किन्तु ऐसी उच्च ऐहिक अवस्था होते हुये भी वे विलासिताप्रिय नहीं थे। उनमें व्यभिचार छूतक भी नहीं गया था। उन्हें स्वाधीनता बड़ी प्रिय थी। किसी प्रकारकी भी पराधीनता स्वीकार करना, उनके लिये सहज कार्य नहीं था।

भगवान महावीर उनके सभी और नागरिक ही थे; जिन्होंने प्राणी मात्रकी स्वाधीनताका उच्च घोष किया था। भला जब उनके मध्यसे एक महान् युगप्रधान और अनुपम तीर्थङ्करका जन्म हुआ था, तब उनके दिव्य चारित्र और अद्भुत उन्नतिके विषयमें कुछ अधिक कहना व्यर्थ है। हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापोंका उनमें निशान नहीं था। वे ललितकला और शिल्पको खूब अपनाते थे। उनके महल और देवमंदिर अपूर्व शिल्पकार्यके दो दो और तीन तीन मंजिलके बने हुये थे। वे तक्षशिलाके विश्वविद्यालयमें विद्याध्ययन करनेके लिये जाते थे।[1]

लिच्छवि क्षत्री जैनधर्मके परम उपासक थे।

यद्यपि लिच्छवि लोगोंमें यक्षादिकी पूजा पहलेसे प्रचलित थी; परन्तु जैनधर्म और बौद्ध धर्मकी गति भी उनके मध्य कम न थी। जैनधर्मका अस्तित्व उनके मध्य भगवान महावीरके बहुत पहलेसे था। भगवान महावीरके पिता राजा सिद्धार्थ और उनके मामा राजा

१–भम पृ० ५७–६३। २–सर रमेशचंद्र दत्तका "भारत वंशकी सभ्यताका इतिहास"–भम. पृ० ६५ क्षत्री क्लैन्स०, पृ० ८२ व कैहिइ० पृ०१५७।

चेटक जैनधर्मानुयायी थे और भगवान महावीरसे पहले हुये तीर्थङ्करोंकी उपासना करते थे, इनके अतिरिक्त और लोग भी जैनी थे; किन्तु भगवान महावीरके धर्म प्रचार करनेपर उनमें जैनधर्मको प्रधानता प्राप्त हुई थी। बड़े२ राजकर्मचारी भी जैनधर्मानुयायी थे।

वज्जियन संघके प्रमुख राजा चेटकके अतिरिक्त सेनापति सिंह, लिच्छिवि अभयकुमार और आनन्द आदि प्रसिद्ध व्यक्ति जैनधर्मके परमभक्त थे। सेनापति सिंह संभवतः राजा चेटकके पुत्रोंमेंसे एक थे। यह भगवान महावीरके अनन्य उपासक थे। बौद्ध धर्मकी अपेक्षा जैनधर्मकी प्रधानता लिच्छवियोंमें अधिक थी। लिच्छिवि राजधानी वैशालीमें जैनधर्मके अनुयायी एक विशाल संख्यामें थे। म० गौतमबुद्धके वहां कईवार अपने धर्मका प्रचार करनेपर भी जैनोंकी संख्या अधिक रही थी; यह बात बौद्धोंके 'महावग्ग' नामक ग्रंथमें सेनापति सिंहके कथानकसे विदित है।[1]

लिच्छिवि राजधानी वैशाली अथवा विशाला।

वज्जि राज संघकी राजधानी वैशाली, उस समय एक बड़ा प्रसिद्ध और वैभवशाली नगर था। कहते हैं कि वह तीन भागोंमें विभक्त था अर्थात् (१) वैशाली, (२) वणियग्राम और (३) कुण्डग्राम। कुण्डग्राम भगवान महावीरका जन्मस्थान था और उसमें ज्ञात्रिक क्षत्रियोंकी मुख्यता थी।[2] वैशालीकी विशालताके

१–भमबु० पृ० २३१–२३६। २–भम०, पृ० ६५ व वीर, भा० ४ पृ० २७६. श्वेताम्बर आम्नायके ग्रन्थोंमें स्पष्टतः भगवान महावीरका जन्म सम्बन्ध वैशालीसे प्रकट किया हुआ मिलता है। जैसे सूत्रकृताङ्ग (१, २, ३. २२), उत्तराध्ययन सूत्र (६।१७) व भगवती सूत्र (२।१ १२।२) में भगवानका उल्लेख वैशालीय या वैशालिक रूपमें हुआ है;

कारण ही उसका नामकरण 'विशाला' हुआ था। चीनी यात्री ह्युन्त्सांग वैशालीको २० मीलकी लम्बाई-चौड़ाईमें बसा बतलाया गया था। उसने उसके तीन कोटों और मार्गोंका भी उल्लेख किया है। वह सारे वृज्जि देशको ५००० ली (करीब १६०० मील) की परिधिमेंमें फैला बतलाया है और कहता है कि यह देश बड़ा सरसब्ज था। आम, केले आदि मेवोंके वृक्षोंसे भरपूर था। मनुष्य ईमानदार, शुभ कार्योंके प्रेमी, विद्याके पारिखी और विश्वासमें कभी कट्टर और कभी उदार थे।[1] वर्तमानके मुजफ्फरपुर जिलेका बसाढ़ ग्राम ही प्राचीन वैशाली है।

उपरान्तके जैनग्रंथोंमें विशाला अथवा वैशालीको सिंधु देशमें

जिससे भगवानका वैशालीके नागरिक होना प्रकट है। अभयदेवने भगवतीसूत्रकी टीकामें 'विशाला' को महावीर जननी लिखा है। दिगम्बर सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें यद्यपि ऐसा कोई प्रकट उल्लेख नहीं है, जिससे भगवानका सम्बन्ध वैशालीसे प्रकट होसके; परंतु उनमें जिन स्थानोंके जैसे कुण्डग्राम, कुलग्राम, वनषण्ड आदिके नाम आए हैं, वे सब वैशालीके निकट ही मिलते हैं। वनषण्ड श्वेताम्बरोंका 'दुइपलाश उज्जान' अथवा 'नायषण्डवन उज्जान' या 'नायषण्ड' है। कुलग्रामसे भाव अपने कुलके ग्रामके होसक्ते हैं अथवा कोल्लागके होंगे, जिसमें नाथवंशी क्षत्री अधिक थे और जिसके पास ही वनषण्ड उद्यान था, जहां भगवान महावीरने दीक्षा ग्रहण की थी। अतः दिगम्बर सम्प्रदायके उल्लेखोंसे भगवानका जन्मस्थान कुण्डग्राम वैशालीके निकट प्रमाणित होता है और चूंकि राजा सिद्धार्थ (भगवान महावीरके पिता) वैशालीके राजसंघमें शामिल थे, जैसे कि हम प्रगट करेंगे, तब वैशालीको उनका जन्मस्थान कहना अत्युक्ति नहीं रखता। कुण्डग्राम वैशालीका एक भाग अथवा सन्निवेश ही था।

१–क्षत्री क्लैन्स० पृ० ४२ व ५४.

अवस्थित बतलाया है;[१] किन्तु यह भ्रामक उल्लेख कवि कालिदासके "श्री विशालमविशालम्" वाक्यके कारण हुआ प्रतीत होता है; क्योंकि कालिदासजीने यह वाक्य उज्जैनीके लिये व्यवहृत किया था और वह अवश्य ही सिंधु-नद-वर्ती प्रदेशमें अवस्थित थी।[२] जैन कवियोंने अपने समयमें बहुप्रसिद्ध इस विशाला (उज्जैनी) को ही महाराज चेटककी राजधानी मानकर उसे सिंधु देशमें लिख दिया है। वैसे वह विदेह देशके निकट ही थी; जैसे कि आज उसके ध्वंसावशेष वहां मिल रहे हैं।

राजा चेटक और उनका परिवार।

वैशालीके राजा चेटक थे, यह बात जैन शास्त्र प्रकट करते हैं। इसके अर्थ यही हैं कि वह वज्जि प्रजातंत्र राज्यके प्रमुख राजा थे। यह इक्ष्वाकुवंशी व शिष्टगोत्री क्षत्री थे। उत्तरपुराणमें (पृ० ६४९) इनको सोमवंशी लिखा है, जो इक्ष्वाकुवंशका एक भेद है। इनकी रानीका नाम भद्रा था; जो अपने पतिके सर्वथा उपयुक्त थी। राजा चेटक बड़े पराक्रमी, वीर योद्धा और विनयी तथा अर्हंतदेवके अनुयायी थे।

१–भ्रेच० पृ० १५७, उ० पु० पृ० ६३४, इत्यादि।

२–भवभूतिके मालतीमाधव नामक नाटकमें उज्जैनीके पासमें सिन्धुनदी और उसके किनारे अवस्थित नगरका उल्लेख है। जैन कवि धनपालने इस प्रदेशके लोगोंका उल्लेख 'सैधव' नामसे किया है अर्थात् सिंधुदेशके वासी। अतएव उपरोक्त सिन्धुनदीकी अपेक्षा ही यह प्रदेश 'सिन्धु देश'के नामसे उल्लिखित हुआ प्रतीत होता है। पश्चिमीय सिंधु प्रदेश इससे अलग था। चूंकि उज्जैनी, जिसका उल्लेख कवि कालिदास 'मेघदूत' में विशाल रूपमें करते हैं, उपरोक्त सिंधुनदीके समीप थी, वह जैन लेखकों द्वारा सिंधुप्रदेशमें बताई जाने लगी।

वह राजनीतिमें कितने निपुण थे और उनकी प्रतिष्ठा आसपासके राज्योंमें कितनी थी, यह इसी बातसे अंदाजी जासक्ती है कि वह वज्जियन प्रजातंत्र राज्यके प्रमुख राजा चुने गये थे। पराक्रम और वीरतामें भी वह बड़े चढ़े थे। उस समयके बलवान राजा श्रेणिक बिम्बसारसे संग्राम ठाननेमें वह पीछे नहीं हटे थे और गांधार देशके सत्यक नामक राजासे भी उनकी रणांगणमें भेंट हुई थी और वह विजयी होकर लौटे थे। इसी तरह वह धार्मिक निष्ठामें भी सुदृढ़ थे। जिनेन्द्र भगवानकी पूजा-अर्चा करना वह रणक्षेत्रमें भी नहीं भूलते थे।[१]

राजा चेटकके दश पुत्र थे, जो (१) धन, (२) दत्तभद्र, (३) उपेन्द्र, (४) सुदत्त, (५) सिंहभद्र, (६) सुकुंभोज, (७) अकंपन, (८) सुपतंग, (९) प्रभंजन और (१०) प्रभासके नामसे प्रसिद्ध थे। इन दश भाइयोंकी सात बहिनें थीं। इनमें सबमें बड़ी त्रिशला प्रियकारिणी भगवान महावीरकी माता थीं। अवशेष मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलिनी, ज्येष्ठा और चंदना नामक थीं[२]।

राजा शतानीक और वत्सराज उदयन।

मृगावतीका विवाह वत्सदेशके कौशाम्बीनगरके स्वामी चंद्रवंशी राजा शतानीकके साथ हुआ था। इनके पुत्र वत्सराज उदयन् उस समयके राजाओंमें विशेष प्रसिद्ध थे। उज्जैनीके राजा चंडप्रद्योतन्की राजकुमारीसे इन्होंने बड़ी होशियारीसे विवाह कर पाया था। वत्सराजकी इस प्रेमकथाको लेकर 'स्वप्न वासवदत्त' नाटक आदि ग्रंथ रचे गए हैं। शतानीक परम जैनधर्म भक्त थे। जिस समय भगवान

१–उ० पु०, पृ० ६३४–६३५। २–उ० पु० पृ० ६३५।

महावीर धर्मप्रचार करते हुये कौशाम्बी पहुंचे थे, उस समय इस राजाने उनका धर्मोपदेश अच्छे भावों और बड़े ध्यानसे सुना था। भगवानकी वन्दना और उपासना बड़ी विनयसे की थी। और अन्तमें वह भगवानके संघमें संमिलित होगया था। पर पहले मृगावतीकी बहिन चन्दनाके यहां जो कौशाम्बीमें एक सेठके यहां पुत्रीके रूपमें रही थी, भगवानका आहार हुआ था। कौशाम्बी प्राचीन कालसे जैनोंका मुख्य केन्द्र रहा है और आज भी उसकी मान्यता जैनोंके निकट विशेष है। यहांपर प्राचीन जैन कीर्तियां विशेष मिलती हैं। कनिंघम साहबने वत्सराज उदयन्को यहां ई० पूर्व ६७० से ५४० तक राज्य करते लिखा है। वह 'विदेहपुत्र' अपनी माताकी अपेक्षा कहलाते थे।

राजा चेटककी तीसरी कन्या सुप्रभा दशार्ण (दशासन) देशमें

राजा दशरथ और परम सम्यक्ती राजा उदयन्।

हेरकच्छपुर (कमैठपुर) के स्वामी सूर्यवंशी राजा दशरथसे विवाही गई थी[२]। यह दशार्ण देश मंदसोरके निकट प्राचीन मत्सदेशके दक्षिणमें अनुमान किया गया है[३]। यह राजा भी जैन था। चौथी पुत्री प्रभावती कच्छदेशके रूरक नगरके राजा उदयनकी पट्टरानी हुई थी[४]। यह राजा उदयन् अपने सम्यक्त्वके लिये जैनशास्त्रोंमें बहुत प्रसिद्ध हैं। किन्हीं शास्त्रोंमें इनकी राजधानीका नाम वीतशोका लिखा हुआ मिलता है। श्वे० आम्नायकी 'उत्तराध्ययन सूत्र' सम्बन्धी कथाओंमें इन्हें पहले वैदिक धर्म भुक्त बतलाया है।

१-उ० पु० पृ० ६३६ व भम० पृ० १०८। २-उ० पु० पृ० ६३६। ३-एभिक्ष ट्राo पृ० ७२। ४-उ० पु० पृ० ६३६।

उपरान्त वह जैनधर्मके दृढ़ श्रद्धानी हुये थे और दिगंबर मुनिके वेषमें सर्वत्र विचरे थे। श्वेताम्बर कथाकार उनकी राजधानी वीत-भय नगरीको सिंधुसौवीर देशमें बतलाते हैं और कहते हैं कि वह १६ देशोंपर राज्य करते थे, जिनमें वीतभयादि ३६३ मुख्य नगर थे। संभवतः कच्छ देश भी इसमें संमिलित था; इसी कारण उनकी राजधानी कच्छ देशमें अवस्थित भी बताई गई है।

उक्त कथामें प्रभावतीके संसर्गसे राजा उदयन्‌को जैनधर्मासक्त होते लिखा है। राजाने राज्य प्रासादमें एक सुंदर मंदिर बनवाया था और उसमें गोशीर्षचन्दनकी सुन्दर मूर्ति विराजमान् की थी। कहते हैं कि एक गांधार देशवासी जैन व्यापारीकी कृपासे मंत्र पाकर उस मूर्तिकी पूजा करके एक दासी पुत्री स्वर्ण देहकी हुई थी। उसने उज्जैनीके राजा चन्द्रप्रद्योतन्‌से जाकर विवाह कर लिया। और उस गोशीर्ष चन्दनकी मूर्तिको भी वह अपने साथ लेगई। उदायन्‌ने प्रद्योतन्‌से लड़ाई ठान दी और उसे गिरफ्तार कर लिया; किन्तु मार्गमें पर्यूषण पर्वके अवसरपर उसे मुक्त कर दिया था। प्रद्योतन्‌ने उस समय श्रावकके व्रत ग्रहण किये और वह उज्जैनी वापस चला गया था। उदायन् भगवानकी मूर्ति लेकर वीतभय नगरको पहुंच गए।

यह नगर समुद्र तटपर था और यहांसे खूब व्यापार अन्य देशोंसे हुआ करता था। उक्त श्वेताम्बर कथाका निम्न अंश कल्पित प्रतीत होता है। संभव है कि वत्सराज उदायन्‌का जो युद्ध प्रद्योतन्‌से हुआ था, उसीको लक्ष्यकर यह अंश रच दिया गया हो। अगाड़ी इस कथामें है कि उदायन्‌की भावना थी कि भगवान

महावीरजीका शुभागमन वीतशोका नगरीमें होजावे। कदाचित समागम ही ऐसा लगा कि भगवानका समोशरण वहांके 'मृगवन' नामक उद्यानमें आकर विराजमान हुआ। उदायन्ने बड़ी भक्तिसे भगवान्की वंदना की और अन्तमें वह अपने भानजे केशीको राज्य सौंपकर नग्न श्रमण होगये।[1] दिगम्बर जैनशास्त्रोंमें यह राजा अपने 'निर्विचिकित्सा अंग' का पालन करनेके लिये प्रसिद्ध हैं। यह बड़े दानी और विचारशील राजा थे। सारी प्रजाका उनपर बहुत प्रेम था। दिगम्बर मान्यताके अनुसार उनने अपने पुत्रको राज्यसिंहासन पर बैठाया था और स्वयं वीर भगवानके समोशरणमें जाकर मुनि होगए थे। अन्तमें घातिया कर्मोंका नाशकर वह मोक्ष-लक्ष्मीके वल्लभ बने थे। रानी प्रभावती जिनदीक्षा ग्रहण करके समाधिमरण प्राप्त करके ब्रह्मस्वर्गमें देव हुई थी।[2]

चेलिनी और ज्येष्ठा।

राजा चेटककी अवशेष तीन कन्यायोंमेंसे चेलनीका विवाह मगधदेशके राजा श्रेणिक बिम्बसारसे हुआ था, यह पहले लिखा जा चुका है। चेलनीकी बहिन ज्येष्ठाका भी प्रेम मगधनरेश पर था; किंतु उसका मनोरथ सिद्ध नहीं हो सका था। गांधार देशस्थ महीपुरके राजा सात्यकने उसके साथ विवाह करना चाहा था; किंतु राजा चेटकने यह सम्बंध स्वीकार नहीं किया था और उसे रणक्षेत्रमें परास्त करके भगा दिया था। सात्यक जैन संघमें जाकर दिगम्बर जैन मुनि होगया था और कालांतरमें ज्येष्ठाने भी अपनी मामी यशस्वती

१-हिटे० पृ० ९८-११६। २-आक०, भा० १ पृ० ८८। ३-उ० पु०, पृ० ६३६।

आर्यिकासे जिनदीक्षा ग्रहण कर ली थी। कदाचित् सात्यक मुनिका प्रेम ज्येष्ठासे हटा नहीं था और हठात् एक दिवस उन्होंने अपने शीलरूपी रत्नको ज्येष्ठाके संसर्गसे खो दिया था। इस दुष्क्रियाका उन्हें बड़ा पश्चाताप हुआ था और प्रायश्चित्त लेकर वह फिरसे मुनि होगये थे। ज्येष्ठा गर्भवती हुई थी, सो उसको दया करके चेलनीने अपने यहां रक्खा था। पुत्र प्रसव करके वह भी प्रायश्चित्त लेकर पुनः आर्यिका हो गई थी और अपने कृतपापके लिये घोर तपश्चरण करने लगी थी। इनका पुत्र द्वादशाङ्गका पाठी रुद्र नामक मुनि हुआ था।

सती चंदना।

चंदना इन सब बहिनोंमें छोटी थी और उसका विवाह नहीं हुआ था। वह आजन्म कुमारी रही थी। वह सर्वगुण सम्पन्न परम सुन्दरी थीं। एक दिन जब वह राज्योद्यानमें वायुसेवन कर रहीं थीं, उस समय एक विद्याधर उन्हें उठाकर विमानमें ले उड़ा। किंतु अपनी स्त्रीके भयके कारण वह उनको अपने घर नहीं ले गया, बल्कि मार्गमें ही एक वनमें छोड़ गया। शोकातुर चन्दनाको उस समय एक भीलने ले जाकर अपने राजाके सुपुर्द कर दिया। इस दुष्ट भीलने चन्दनाको बहुत त्रास दिये; किन्तु वह सती अपने धर्मसे चलित न हुई। हठात् उसने एक व्यापारीके हाथ उनको बेच दिया; जिसने भी निराश होकर कौशाम्बीमें उन्हें कुछ रुपये लेकर वृषभसेन नामक धनिक सेठके हवाले कर दिया।

दयालु सेठने चंदनाको बड़े प्रेमसे घरमें रहने दिया। चंदना

१–आक०, भा० २ पृ० ९६।

सेठानीके गृहकार्यमें पूरी सहायता देती थी; किंतु उसके अपूर्व रूप लावण्यने सेठानीके हृदयमें डाह उत्पन्न कर दिया और वह चन्दनाको मनमाने कष्ट देने लगी। उधर चन्दनाके भी कष्टोंका अन्त आगया। भगवान महावीरका शुभागमन कौशाम्बीमें हुआ। दुखिया चन्दनाने उनको आहारदान देनेकी हिम्मत की। पतित-पावन प्रभुका आहार चन्दनाके यहां होगया। लोग बड़े आश्चर्यमें पड़ गये। चन्दनाका नाम चारों ओर प्रसिद्ध होगया। कौशाम्बी नरेशकी पट्टरानीने जब यह समाचार सुने तो वह अपनी छोटी बहिनको बड़े आदर और प्रेमसे राजमहलमें ले गई; किन्तु वह वहां अधिक दिन न ठहर सकी। भगवान महावीरके दिव्य एवं पवित्र चारित्रका प्रभाव उसके हृदयपर अंकित होगया। वैराग्यकी अटूट धारामें वह गोते लगाने लगीं और शीघ्र ही वीरनाथके पास पहुंचकर उनने जिनदीक्षा ले ली।

आर्यिका चंदना खूब ही दुद्धर तप तपतीं थीं और उनका ज्ञान भी बड़ा चढ़ा था। उस समय उनके समान अन्य कोई साध्वी नहीं थी। आत्मज्ञानका पावन प्रकाश वह चहुंओर फैलाने लगीं। फलतः शीघ्र ही उनको भगवानके आर्यिकासंघमें प्रमुखपद प्राप्त होगया था। वह ३६००० विदुषी साध्वीयोंके चारित्रकी देखभाल और उनको ज्ञानवान बनानेमें संलग्न रहतीं थीं। इसप्रकार स्वयं अपना आत्मकल्याण करते हुये एवं अन्योंको सन्मार्ग पर लगाते हुये, वह आयुके अंतमें स्वर्गसुखकी अधिकारी हुई थीं[1]।

१—उ० पु०, पृ० ६३७-६४०।

उपरान्तमें लिच्छवि वंश।

राजा चेटकका यह पारिवारिक परिचय बड़े महत्वका है। इससे प्रगट होता है कि उससमयके प्रायः मुख्य राज्योंसे उनका सम्पर्क विशेष था। जैनधर्मका विस्तार भी उससमय खूब होरहा था। लिच्छिवि प्रजातंत्र राज्य भी उनकी प्रमुखतामें खूब उन्नति कर रहा था। किन्तु उनकी यह उन्नति मगध नरेश अजातशत्रुको असह्य हुई थी और उसने इनपर आक्रमण किया था, यह लिखा जाचुका है। किन्हीं विद्वानोंका कहना है कि अभयकुमार, जिसका सम्बन्ध लिच्छिवियोंसे था, उससे डरकर अजातशत्रुने वैशालीसे युद्ध छेड़ दिया था;[1] किंतु जैन शास्त्रोंके अनुसार यह संभव नहीं है; क्योंकि अभयकुमारके मुनिदीक्षा ले लेनेके पश्चात् अजातशत्रुको मगधका राजसिंहासन मिला था। अतः अभयकुमारसे उसे डरनेके लिये कोई कारण शेष नहीं था।

यह संभव है कि अजातशत्रुके बौद्धधर्मकी ओर आकर्षित होकर अपने पिता श्रेणिक महाराजको कष्ट देनेके कारण, लिच्छिवियोंने कुछ रुष्टता धारण की हो और उसीसे चौकन्ना होकर अजातशत्रुने उनको अपने आधीन कर लेना उचित समझा हो। कुछ भी हो, इस युद्धके साथ ही लिच्छिवियोंकी स्वाधीनता जाती रही थी और वे मगध साम्राज्यके आधीन रहे थे। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें भी वह प्रजातंत्रात्मक रूपमें राज्य कर रहे थे; जिसका अनुकरण करनेकी सलाह कौटिल्यने दी थी। किन्तु जो स्वतंत्रता उनको चन्द्रगुप्तके राज्यमें प्राप्त थी, वह अशोकके समय

१-क्षत्री क्लैन्स०, पृ० १३१।

नहीं रही और उनने अशोककी आधीनता स्वीकार कर ली थी। गुप्तकाल तक इनके अस्तित्वका पता चलता है।

शाक्य और मल्ल क्षत्रियोंके गणराज्य।

वज्जियन प्रजातंत्रके उपरान्त दूसरा स्थान शाक्यवंशी क्षत्रियोंके प्रजातंत्रको प्राप्त था। उनकी राजधानी कपिलवस्तु थी, जो वर्तमानके गोरखपुर जिलेमें स्थित है। नृप शुद्धोदन उस समय इस राज्यके प्रमुख थे। म० गौतमबुद्धका जन्म इन्हींके गृहमें हुआ था। शाक्योंकी भी सत्ता उस समय अच्छी थी; किन्तु उपरान्त कुणिक अजातशत्रुके समयमें विट्टदाभ द्वारा उनका सर्व नाश हुआ था[२]। शाक्योंके बाद मल्ल गणराज्य प्रसिद्ध था, जिसमें मल्लवंशी क्षत्रियोंकी प्रधानता थी। बौद्ध ग्रन्थोंसे यह राज्य दो भागोंमें विभक्त प्रगट होता है। कुसीनारा जिस भागकी राजधानी थी, उससे म० बुद्धका संबंध विशेष रहा था। दूसरे भागकी राजधानी पावा थी। उससमय राजा हस्तिपाल इस राज्यके प्रमुख थे। भगवान महावीर जिस समय यहां पहुंचे थे, तब इस राजाने उनकी खूब विनय और भक्ति की थी। भगवानने निर्वाण-लाभ भी यहींसे किया था। उस समय अन्य राजाओंके साथ यहांके नौ राजाओंने दीपोत्सव मनाया था। जैनधर्मकी मान्यता इन लोगोंमें विशेष रही थी।[३] शाक्य प्रजातंत्र भी जैनधर्मके संसर्गसे अछूता नहीं बचा था। ऐसा मालूम होता है कि राजा शुद्धोदनकी श्रद्धा प्राचीन जैनधर्ममें थी।[४] लिच्छिवियोंकी तरह मल्लोंको भी अजातशत्रुने अपने आधीन कर लिया था।

१-पूर्व, पृ० १३६। २-अहि इ० पृ० ३७-३८। ३-क्षत्रीक्लैन्स०, पृ० १६३ व १७५। ४-भमबु० पृ० ३७।

विदेह देशवासी क्षत्रियोंका गणराज्य भी उस समय उल्लेखनीय था । यह लिच्छिवियोंके साथ वृजि-प्रजातंत्र-राज्यसंघमें सम्मिलित थे, यह लिखा जाचुका है । दिगम्बर जैनशास्त्रोंमें भगवान महावीरकी जन्मनगरीको विदेह देशमें स्थित बतलाया है ।[१] और श्वेताम्बरी शास्त्र महावीरजीको विदेहका निवासी अथवा विदेहके राजकुमार लिखते हैं ।[२] इन उल्लेखोंसे भी विदेह गणराज्यका वृजि-राज-संघमें सम्मिलित होना सिद्ध है । यदि विदेहका सम्पर्क इस राजसंघसे न होता तो वैशालीके निकट स्थित कुण्डग्रामको विदेह देशमें न लिखा जाता । अस्तु; विदेहमें जैनधर्मकी गति विशेष थी । भगवान महावीरने तीस वर्ष इसी देशमें बिताये थे । विदेहकी राजधानी मिथिला वैशालीसे उत्तर पश्चिमकी ओर ३५ मील थी और वह व्यापारके लिये बहु प्रख्यात थी ।[३]

इनके अतिरिक्त रायगामका कोलियगणराज्य, सुन्समार पर्वतका भग्ग राजसंघ, अल्लकप्पका बुलि प्रजातंत्रराज्य, पिप्पलिवनका मोरीयगणराज्य आदि अन्य कई छोटे मोटे प्रजातंत्रात्मक राज्य थे; जिनका कुछ विशेष हाल मालूम नहीं होता है ।



१-उ० पु०, पृ० ६०५ । २-Js. I, 256. ३-क्षत्री क्लैन्स, पृ० १४६ ।

ज्ञात्रिक क्षत्री और भगवान महावीर।

ई० पूर्व० ६२० ई० पूर्व ५४९।

ज्ञात्रिक क्षत्री।

लिच्छिवियोंके साथ वज्जि प्रदेशके प्रजातंत्रात्मक राजसंघमें ज्ञात्रिक वंशी क्षत्री भी सम्मिलित थे। इन क्षत्रियोंको 'नाय' अथवा 'नाथ' वंशी भी कहते हैं।[1] दिगम्बर जैन शास्त्रोंमें इनका 'हरिवंशी' रूपमें भी उल्लेख हुआ है।[2] मनुने मल्ल, भल्ल, लिच्छिवि, करण, खस व द्राविड़ क्षत्रियोंके साथ नाट अथवा नात (ज्ञात्रिक) क्षत्रियोंको व्रात्य लिखा है। (मनु० म० १०।२२) यह इसी कारण है कि इन लोगोंमें जैनधर्मकी प्रधानता थी। व्रात्य अथवा व्रतिन् नामसे जैनियोंका उल्लेख पहले हुआ मिलता है। (भ० पा० प्रस्तावना, पृ० ३२) भारतके धार्मिक इतिहासमें नाथ अथवा ज्ञात्रिक क्षत्रियोंका नाम अमर है। इनका महत्व इससे प्रकट है कि यही वह महत्वशाली जाति है जिसने भारतको एक बड़े भारी सुधारक और महापुरुषको समर्पित किया था। महापुरुष जैनियोंके अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर थे।

ज्ञात्रिक क्षत्रियोंका निवासस्थान।

आधुनिक साहित्यान्वेषणसे प्रगट हुआ है कि ज्ञात्रिक क्षत्रियोंका निवासस्थान मुख्यतः वैशाली (बसाढ़), कुण्डग्राम और वाणिय ग्राममें था।[3] कुण्डग्रामसे उत्तर-पूर्वीय दिशामें सन्निवेश कोल्लाग था। कहते हैं कि यहां ज्ञात्रिक अथवा नाथवंशी क्षत्री सबसे अधिक संख्यामें रहते थे।[4] वैशालीके बाहिर पास ही में कुण्डग्राम स्थित था; जो संभ-

---

१-सक्षद्राए ३०, पृ० ११५-११६। २-वृजैश०, पृ० ७ ३-उ० ६०, २-२ फुटनोट। ४-उद० २।४ फुट०।

वतः आजकलका 'वसुकुण्ड' गांव है।[1] कोई २ विद्वान् कोल्लागको ही भगवान महावीरका जन्मस्थान बतलाते हैं; किन्तु यह बात दिगम्बर और श्वेतांबर-दोनों जैन संप्रदायोंकी मान्यताके विरुद्ध है। श्वेताम्बर ग्रन्थोंसे पता चलता है कि कोल्लागके निकट एक चैत्यमंदिर था, जिसको 'दुइपलाश', 'दुइपलाश उज्जान' अथवा 'नायषण्डवन' कहते थे।[2] इस उद्यानमें एक बगीचा था; जिसमें एक भव्य मंदिर बना हुआ था। दिगम्बर जैन शास्त्रोंमें 'वनषण्ड' में अथवा नायषण्ड या ज्ञातृखंड वनमें जाकर भगवानको दीक्षा लेते लिखा है।[3] यह वनषण्ड उपरोक्त नायषण्डवन ही है; क्योंकि वह भगवानके जन्मस्थानके निकट था और वहांसे उठकर भगवान कुलपुर अथवा कुलग्राममें प्रथम पारणाके लिये गये थे। यह कुलपुर कोल्लाग ही प्रतीत होता है, जो नायषण्डवनके बिल्कुल समीप और नाथवंशी क्षत्रियोंके पूर्ण अधिकारमें था। कोल्लागका अपर नाम 'नायकुल' भी मिलता है।[4] इस दशामें कोल्लागका कुलपुर अथवा कुलग्राम होना चाहिये।

कुलपुर कोल्लाग है और ज्ञात्रिक क्षत्री वज्जियन प्रजातंत्रमें सम्मिलित थे।

दिगम्बराम्नायके ग्रन्थोंमें कुलग्रामका राजा कुलनृप लिखा है[5] अर्थात् राजा और नगरका नाम एक ही है। इससे भी कोल्लागका कुलपुर या कुलग्राम होने और वहांके निवासी नाथवंशी क्षत्रियोंका वृजि प्रजातंत्र-संघमें सम्मिष्ट होनेका परिचय मिलता है। कुलका व्यवहार उससमय साधारणतः वंशको लक्ष्य

१-कैहिइ० पृ० १५७। २-उद० २१४, कसू० ११५ व आसू० २।१५-२२। ३-उ० पु० पृ० ६०९। ४-उद० ६६। ५-उ०पु० पृ०६११।

करके होता था। किन्तु 'कुल' शब्दसे भाव केवल इतना ही नहीं था कि उस वंशके प्रमुख व्यक्तिका अधिकार मात्र उस कुलके लोगोंपर ही रहे; प्रत्युत उसकी मुख्यता और अधिकार उस कुलके आधिपत्यमें रहे, समस्त देशपर व्याप्त होता था।[1] कोल्लागके नाथ कुलवाले क्षत्री अवश्य ही वृज्जि प्रजातंत्र राज्यमें सम्मिलित थे। इसीलिये उनमेंके प्रमुख नेता, उनकी ओरसे उस संघमें प्रतिनिधित्वका अधिकार रखते थे। यही कारण है कि उनका उल्लेख 'कुलनृप' रूपमें हुआ है। यह नाम कुल अपेक्षा ही है-व्यक्तिगत नाम यह नहीं है।

इस उल्लेखसे यह भी विदित होता है कि राजा सिद्धार्थका विशेष सम्पर्क कोल्लागसे न होकर कुण्डग्रामसे था। यही कारण है कि वहांका नेता कोई अन्य व्यक्ति प्रगट किया गया है। इससे ज्ञातृवंशी अथवा नाथकुलके क्षत्रियोंके निवासस्थानकी स्पष्टता और उनका वृज्जि–प्रजातंत्रमें शामिल होना प्रगट है। प्रजातंत्र राजसंघमें इन क्षत्री कुलोंके मुखियायोंकी कौंसिल मुख्य कार्यकर्ती थी। इन सदस्योंका नामोल्लेख 'राजा' रूपमें होता था, यह बात कौटिल्य अर्थशास्त्रसे स्पष्ट है।[2]

ज्ञात्रिक क्षत्रियोंका धर्म। ज्ञातृवंशी क्षत्री मुख्यतः जैनोंके २३ वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथजीके धर्मशासनके भक्त थे। उपरान्त जब भगवान महावीरजीका धर्मप्रचार होगया था, तब वे नियमानुसार वीर संघके उपासक होगये थे।[3] जैनधर्म-

१–काछे० १९१८, पृ० १६२–१६४। २–अर्थशास्त्र, शामाशास्त्री, पृ० ४५५। ३–हॉजै० पृ० ११ व उद्० २१६।

मुक्त होनेके कारण यह लोग बड़े धर्मात्मा और पुण्यशाली थे। वे पापकर्मोंसे दूर रहते थे और पापसे भयभीत थे। वे हिंसाजनक बुरे काम नहीं करते थे। किसी प्राणीको कष्ट नहीं देते थे। और मांस भोजन भी नहीं करते थे।[१] उनकी ऐहिक दशा भी खूब समृद्धिशाली थी और उनका प्रभाव तथा महत्व भी विशेष था। उनका सम्बन्ध उनके प्रमुख द्वारा उस समयके करीबर सब ही प्रतिष्ठित राज्योंसे था। जैनियोंके अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीरका जन्म भी इस वंशमें हुआ था, यह लिखा जाचुका है।

राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला।

भगवान महावीरके पिता नृप सिद्धार्थ थे। यह राजा सर्वार्थ और रानी श्रीमतीके धर्मात्मा, न्यायी और ज्ञानवान वीर-पुत्र थे। इनको श्रेयांस और जसंश भी कहते थे।[२] यह काश्यपगोत्री इक्ष्वाकु अथवा नाथ या ज्ञातवंशी क्षत्री थे।[३] इनका विवाह वैशालीके लिच्छवि क्षत्रियोंके प्रमुख नेता राजा चेटककी पुत्री प्रियकारिणी अथवा त्रिशलासे हुआ था। त्रिशलाको विदेहदत्ता भी कहते थे।[४] यह परम विदुषी महिलारत्न थीं। श्वेताम्बर शास्त्रोंमें नृप सिद्धार्थको केवल क्षत्रिय सिद्धार्थ लिखा है। इसकारण कतिपय विद्वान् उन्हें साधारण सरदार समझते हैं, किंतु दिगम्बराम्नायके ग्रंथोंमें उन्हें स्पष्टतः राजा लिखा है। राजा चेटकके समान प्रसिद्ध राजवंशसे उनका सम्बंध होना, उनकी प्रतिष्ठा और आदरका विशेष प्रमाण है। वह नाथवंशके मुकुटमणि थे। ऐसा

१-Js. XLV. 416. २-आसू० ११।१५।१५. Js. XXII. 193. ३-उ० पु० पृ० ६०५। ४-Js. XXII. 193.

मालूम होता है कि उनके आधीन उनके कुलके अन्य राजा थे; जैसे कि एक कुलनृपका उल्लेख ऊपर होचुका है।

जैन शास्त्र कहते हैं कि राजा सिद्धार्थने आत्ममति और विक्रमके द्वारा अर्थ-प्रयोजनको सिद्ध कर लिया था। वे विद्यामें पारगामी और उसके अनन्य प्रचारक थे। सचमुच 'आपने (विद्याओंके) फलसे समस्त लोकको संयोजित करनेवाले उस निर्मल राजाको पाकर राजविद्याएं प्रकाशित होने लगी थीं।' फलतः यह प्रकट है कि भगवान महावीरजी एक बुद्धिमान्, धर्मज्ञ, परिश्रमी और प्रभावशाली राजाके पुत्र थे।

कुण्डग्राम।

राजा सिद्धार्थका मुख्य निवासस्थान कुण्डग्राम अथवा कुण्डपुर था। वह कोल्लागसे भिन्न और वैशालीके सन्निकट था, यह पहले बताया जाचुका है। बौद्ध ग्रन्थ 'महावग्ग' के उल्लेखसे भी कुण्डग्राममें नाथ अथवा ज्ञातृवंशी क्षत्रियोंका होना प्रकट है। वहां लिखा है कि एक मरतबा म० गौतम बुद्ध कोटिग्राममें ठहरे थे, जहां नाथिक लोग रहते थे। बुद्ध जिस भवनमें ठहरे थे उसका नाम 'नाथिक-इष्टिका भवन' (जिन्जकावसथ) था। कोटिग्रामसे वह वैशाली गये थे[१]। सर रमेशचंद्र दत्त इस कोटिग्रामको कुण्डग्राम ही बतलाते हैं और लिखते हैं[२] कि "यह कोटिग्राम वही है जो कि जैनियोंका कुण्डग्राम है और बौद्ध ग्रंथोंमें जिन नातिकोंका वर्णन है, वे ही ज्ञात्रिक क्षत्री थे।"

यह कोटिग्राम अथवा कुण्डग्राम वैशालीका समीपवर्ती नगर

१-महावग्ग ६।३०-३१ (SBE. XVII) पृ० १०८। २-भम० पृ० ६८।

था, इसलिये बड़ा वैभवशाली था। जैनशास्त्रोंमें इसकी शोभाका अपूर्व वर्णन मिलता है। फिर जिस समय भगवान महावीरका जन्म होनेको हुआ था, उस समय तो, वह कहते हैं, कि स्वयं कुबेरने आकर इस नगरका ऐसा दिव्यरूप बना दिया था कि उसे देखकर अलकापुरी भी लज्जित होती थी। भगवानके जन्म पर्यंत वहां स्वर्ण-और रत्नोंकी वर्षा हुई बतलाई गई है। राजा सिद्धार्थका राजमहल सात मंजिलका था और उसे 'सुनंदावर्त' प्रासाद कहते थे[1]।

स्वर्गलोकके पुष्पोत्तर विमानसे चयकर वहांके देवका जीव आषाढ़ शुक्ला षष्टीके उत्तराफाल्गुणी नक्षत्रमें रानी त्रिशलाके गर्भमें आया था। उससमय उनको १६ शुभ स्वप्न दृष्टि पड़े थे* और देवोंने आकर आनन्द उत्सव मनाया था। जैन शास्त्रोंके अनुसार प्रत्येक तीर्थंकरके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष अवसरपर देवगण आकर आनन्दोत्सव मनाते हैं। यह उत्सव भगवानके 'पंच-कल्याणक' उत्सव कहलाते हैं। योग्य समयपर चैत्र शुक्ला त्रयोदशीको, जब चन्द्रमा उत्तराफाल्गुणी पर था, रानी त्रिशलादेवीने जिनेन्द्र भगवान महावीरका प्रसव किया था। उस समय समस्त लोकमें अल्पकालके लिये एक आनन्द लहर दौड़ गई थी। भगवानका लालन-पालन बड़े लाड़-प्यार और होशयारीसे होता था। शैशवकालसे ही वे बड़े पराक्रमी थे।

भगवान महावीर-का जन्म और बाल्यजीवन।

१-केहिइ० पृ० १५७। २-उ० पु० पृ० ६०५। ३-उ० पु० पृ० ६०४। * श्वेताम्बरमें १४ स्वप्न बताए हैं। ४-उ० पु० पृ० ६०५ व Js. I. 266.

एक दफे उनने एक मत्त हाथीको देखते ही देखते वश कर लिया था और दूसरी बार जब वे राज्योद्यानमें बाल सहचरों समेत खेल रहे थे, तब उनने एक विकराल सर्पको बातकी बातमें कील दिया था। वह महापुरुष थे। उन्होंने अपने पूर्वभवोंमें इतना विशिष्ट पुण्य संचय कर लिया था कि उनके जन्मसे ही अनेक असाधारण लक्षण और गुण विद्यमान थे। वे जन्मसे ही मति, श्रुति और अवधिज्ञानसे विभूषित थे। इसलिये उनका ज्ञान अनायास बढ़ा चढ़ा था। राजमहलमें वे काव्य, पुराण आदि ग्रन्थोंका खूब पठन पाठन करते थे। इस छोटी उमरसे ही उनका स्वभाव त्यागवृत्तिको लिये हुये था। जब वह आठ वर्षके थे, तब उनने श्रावकोंके व्रतोंको ग्रहण कर लिया था। अहिंसा, सत्य, शील, अचौर्य और परिग्रह प्रमाण नियमोंका वह समुचित पालन करते थे[१]। संजयविजय नामक चारण मुनि उनके दर्शन पाकर सन्मतिको प्राप्त हुये थे।×

१-भम० पृ० ६९-८२। श्वेतांबरोंके अर्वाचीन ग्रथोंमें लिखा है कि 'ऐन्द्र' नामका एक व्याकरण ग्रंथ बनाया था, किन्तु यह ठीक प्रतीत नहीं होता। (जैन हि० भा० १४ पृ० ३४५)।

× म० बुद्धके समकालीन मतप्रवर्तकोंमें एक संजय अथवा संजय-वेरत्थीपुत्र नामक भी था। बौद्ध कहते हैं कि इनके शिष्य मौद्गलायन और सारीपुत्र थे; जो बौद्ध होगये थे। जैन शास्त्रोंमें मौद्गलायनको पहले जैन मुनि लिखा है। अत: संजय वेरत्थीपुत्रका भी जैन होना सुसंगत है। हम समझते हैं, संजय चारण मुनि और यह एक ही व्यक्ति थे। विशेषके लिये देखो 'भगवान महावीर और म० बुद्ध' पृ० २२-२३।

भगवान महावीरके नाम।

राजा सिद्धार्थने महान् पुत्रके जन्मके उपलक्षमें बड़ा आनंद मनाया था। कुण्डग्रामकी उस समय खूब अभिवृद्धि हुई थी। इसलिये उन्होंने भगवानका नाम 'वर्द्धमान' रक्खा था। वैसे साधारणतः वह ज्ञातृ क्षत्रिय रूपमें प्रख्यात थे[१]। उन्हें "महावीर" "वीर" "अतिवीर" "सन्मति" और "नाथकुलनन्दन" भी कहते थे[२]। दक्षिण भारतके एक कनड़ी भाषाके ग्रन्थमें भगवानका एक अन्य नाम "वसुदेवबान्धव" लिखा है[३]। हिन्दूशास्त्रोंमें उनका नामोल्लेख 'अर्हत् महिमन् या महामान्य' रूपमें हुआ है[४]। श्वेताम्बरोंके 'उपासक दशासूत्र' में उनको 'महामाहने' अथवा 'नायमुनि' लिखा है[५]। यह नाम उनकी साधु अवस्थाके प्रतीत होते हैं।

मिसेज स्टीवेन्सन कहती हैं कि वे ज्ञातपुत्र, नातपुत्र, शासननायक और बुद्ध नामोंसे भी परिचित हैं[७]। यह नाम विशेषण रूपमें हैं और इस तरहके विशेषण जैनशास्त्रोंमें १००८ बतलाये गये हैं[८]। 'वैशालिय' वे इस कारण कहलाते थे कि उनका सम्बन्ध वैशालीसे विशेष था। किन्तु बौद्धोंके पाली साहित्यमें उनका उल्लेख 'निगन्थ नाथपुत्त' के नामसे हुआ है[१०]। वह नाथवंशके राजर्षि थे, इसलिये बौद्धोंने उन्हें इस नामसे सम्बोधित किया है। जैनशास्त्रोंमें भी उनका उल्लेख इस रूपमें हुआ मिलता है।[११]

१–सक्षयद्राए ३०७। २–लाभ० पृ० ६। ३–जैग०, भा० २४ पृ० ३२। ४–म० पा०, पृ० ९६–९९। ५–उद० ७। ६–उद० ४९। ७–हॉजैं०, पृ० २७। ८–जिन सहस्रनाम स्तोत्र देखो। ९–Js. II, 261. १०–भमबु० पृ० १८८–२७० व Js. II. Intro. ११–Js. Pt. II. Intro. महावीर चरित पृ०, व उ० पु० पृ० ६०५......।

निर्ग्रन्थ (निगन्थ) के भाव 'बन्धनोंसे मुक्त' के हैं, यह बात बौद्ध शास्त्रोंसे भी प्रकट है[1]।

'निर्ग्रन्थ' जैनी हैं।

उस समय जैनोंका उल्लेख 'निर्ग्रन्थ' नामसे होता था; जैसे कि वे उपरान्तमें 'आर्हत' नामसे प्रख्यात हुये थे। किन्हीं लोगोंका विश्वास है कि जैन तीर्थंकरोंकी शिक्षा उस समय लिपिबद्ध नहीं थी; इसलिये उनको लोग 'निर्ग्रन्थ' कहते थे;[2] किन्तु जैन शास्त्रोंमें निर्ग्रन्थका अर्थ 'ग्रंथियोंसे रहित' किया गया है और इस शब्दका प्रयोग प्रायः जैन मुनियोंके लिये ही हुआ है;[3] यद्यपि बौद्ध शास्त्रोंमें वह गृहस्थ और मुनि सबके लिये समान रूपमें व्यवहृत हुआ मिलता है[4]। बौद्धोंके 'चुल्लनिद्देस' में निर्ग्रन्थ श्रावकोंका देवता निर्ग्रन्थ लिखा है[5]। यहांपर निर्ग्रन्थ शब्द दि० जैन मुनिके लिये प्रयुक्त हुआ है; किन्तु 'महावग्ग' के सीह नामक कथानकमें[6] और 'मज्झिमनिकाय' के 'सच्चक निगन्थपुत्त' के आख्यानमें 'निर्ग्रन्थ' शब्द जैन गृहस्थके लिये व्यवहृत हुआ है। अतएव उस समय जैनसंघ मात्र 'निर्ग्रन्थ' नामसे परिचित था। इस कारण भगवान महावीर ज्ञातृपुत्र भी 'निर्ग्रन्थ' कहे गये हैं। बौद्ध कहते हैं कि महावीरजी सर्व विद्याओंके पारगामी थे, इस कारण 'निगन्थ' कहलाते थे[8]।

१-डायोलॉग्स ऑफ दी बुद्ध, भा० २ पृ० ७४-७५। २-वीर, भा० ५ पृ० २३९-२४०। ३-मूला० ३०। ४-ममबु० पृ० २३५। ५-निगन्ठ सावकानाम् निगण्ठो देवता पृ० १७३। ६-महा० पृ० ११६। ७-मनि० भा० १ पृ० २२५। ८-भैबु० पृ० ३०२।

भगवान महावीर बालब्रह्मचारी थे।

भगवान महावीर गृहस्थ दशामें तीस वर्षकी अवस्था तक रहे थे। उस समय शीलधर्मके प्रचारकी विशेष आवश्यक्ता जानकर उन्होंने विवाह करना स्वीकार नहीं किया था। कलिंगदेशके राजा जितशत्रु अपनी यशोदरा नामकी कन्या उनको भेंट करनेके लिए कुण्डपुर लाये भी थे; किंतु भगवान अपने निश्चयमें दृढ़ रहे थे। वह बालब्रह्मचारी थे[1]। किन्तु श्वेताम्बराम्नायकी मान्यता इसके विरुद्ध है। वह कहते हैं कि भगवानने यशोदरासे विवाह कर लिया था और इस सम्बंधसे उनके प्रियदर्शना नामकी एक पुत्री हुई थी। प्रियदर्शनाका विवाह जमालि नामक किसी राजकुमारसे हुआ था; जो उपरांत वीर संघमें संमिलित हो मुनि होगया था और जिसने महावीरस्वामीके विपरीत असफल विद्रोह भी किया था। विवाह आदि विषयक यह व्याख्या श्वेतांबरोंके प्राचीन ग्रन्थ 'आचाराङ्गसूत्र' और 'कल्पसूत्र' में नहीं मिलती है और इसकी सादृश्यता बौद्धोंके म० बुद्धके जीवनसे बहुत कुछ है।[2] ऐसी दशामें उससमयमें शीलधर्मकी आवश्यक्ताको देखते हुए भगवानका बालब्रह्मचारी होना ही उचित जंचता है।

१–भमबु० पृ० ४२–४४।

२–श्वेताम्बर शास्त्रोंमें भगवान महावीरका यशोदाके साथ विवाह करना और उनके पुत्री होना संभवतः सिद्धान्तभेदको स्पष्ट करनेके लिये लिखा गया है; क्योंकि दिगम्बर जैन सिद्धान्तके अनुसार तीर्थंकर भगवानकी पुण्यप्रकृतिकी विशेषताके कारण उनके पुत्रीका जन्म होना असम्भव है। ऋषभदेवजीके कालदोषसे दो पुत्रियां हुई थीं। इसी सिद्धान्तभेदको स्पष्ट करनेके लिये श्वेताम्बरोंने शायद भगवानका विवाह व पुत्री होना लिख दिया है; वरन् कोई कारण नहीं कि यदि भगवानका विवाह हुआ होता

भगवान महावीरका गृहत्याग।

ब्रह्मचर्य अवस्थामें राजसुखका उपभोग करके भगवान महावीरने गृहत्याग किया था। इससमय इनकी अवस्था करीब तीस वर्षकी थी। उन्होंने उससमयके रागोन्मत्त राजकुमारों और आजीविकों एवं ब्राह्मण ऋषियों जैसे साधुओंको मानो पूर्ण ब्रह्मचर्यका महत्व हृदयंगम

तो दिगम्बराम्नायके शास्त्र उसका उल्लेख न करते, जब वे अन्य तीर्थंकरोंका विवाह हुआ लिखते हैं। बौद्ध ग्रन्थोंमें भी भगवानकी पुत्री आदिका कुछ उल्लेख नहीं मिलता है। श्वेताम्बर शास्त्रोंमें भगवानकी जीवनीका चित्रण बहुत कुछ म० बुद्धके जीवनचरित्रके ढंगपर हुआ है। ऐसा विदित होता है कि पाली पिटकोंको सामने रखकर श्वे० ग्रंथोंकी रचना ई० की ६ ठी श० में हुई है। इसका सप्रमाण वर्णन हम आगाड़ी करेंगे। यहां इतना बतला देना पर्याप्त है कि पाश्चात्य विद्वान् भी इस बातको स्वीकार करते हैं कि श्वेताम्बरोंने महावीरजीका जीवन वृतान्त म० बुद्धके जीवनचरित्रके अनुसार और उसीके आधारसे लिखा है। (इन्डियन सेक्ट्स ऑफ दी जैन्स, पृ० ४५) 'ललितविस्तर' और 'निदानकथा' नामक बौद्धग्रन्थोंमें जैसा चरित्र गौतम बुद्धका दिया हुआ है; उससे श्वेताम्बरों द्वारा वर्णित म० महावीरके चरित्रमें कई बातोंमें सादृश्यता है। (कोंहिइ०, पृ० १५६) उदाहरणके तौरपर देखिये, यह सादृश्य जन्मसे ही प्रारम्भ होजाता है। 'म० बुद्धके विषयमें कहा गया है कि उनको मालूम था, वह स्वर्गसे च्यय होकरके अमुक रीतिसे जन्म धारण करेंगे। म० महावीरके सम्बन्धमें भी श्वेताम्बर ग्रन्थ यही कहते हैं कि उनको अपने आगमनका ज्ञान तीन प्रकारसे था। युवावस्थाको लीजिये तो जैसे बौद्ध कहते हैं कि बुद्धका विवाह यशोदा नामक राजकन्यासे हुआ था, वैसे ही श्वेताम्बर भी बतलाते हैं कि महावीरजीका विवाह यशोदा नामक राजकुमारीसे हुआ था। श्वेताम्बर शास्त्र कहते हैं कि भगवानके माता पिताने उनको दीक्षा ग्रहण करनेसे रोका था; बुद्धके सम्बन्धमें यही कहा जाता है। श्वेताम्बरोंका मत है कि भगवा-

करानेके लिये तबतक ब्रह्मचारी रहकर कठिन इन्द्रियनिग्रह और परीषह जय करनेके मार्गमें पग बढ़ानेका निश्चय कर लिया था। अपने पिताके राजकार्यमें सहायता देते हुए और गृहस्थकी रंग-रलियोंमें रहते हुए भी भगवान संयमका विशेष रीतिसे अभ्यास कर रहे थे। उनके हृदयपर वैराग्यका गाढ़ा रंग पहलेसे ही चढ़ा हुआ था। सहसा एक रोज उनको आत्मज्ञान प्रकट हुआ और वह उठकर 'वनषण्ड' नामक उद्यानमें पहुंच गए। माता-पिता आदिने उनको बहुत कुछ रोकना चाहा; किन्तु वह उन सबको मीठी वाणीसे प्रसन्न कर विदा ले आये! मार्गशीर्ष शुक्लाकी दशमीको वह अपनी 'चन्द्रप्रभा' नामक पालखीमें आरूढ़ हो नायखंड

नकी गृहस्थदशामें ही उनके माता पिताका स्वर्गवास होगया था और उनके ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्द्धन राज्याधिकारी हुए थे। बौद्ध ग्रन्थोंमें भी म० बुद्धकी माताका जन्मते ही परलोकवासी होना लिखा है तथा उनमें उनके भाई नन्द बताये गये हैं। (साम्स० पृ० १२६) म० बुद्ध 'सम्बोधि' प्राप्त कर लेनेके पश्चात् भी कवलाहार करते थे। (महावग्ग SBE पृ० ८२) भगवान महावीरके विषयमें भी श्वेताम्बर शास्त्र यही कहते हैं। म० बुद्धके जीवनमें उनके भिक्षु संघमें मतभेद खड़ा हुआ था (महावग्ग ८); श्वेताम्बर भी कहते हैं कि भगवानके जमाई जमालीने उनके विरुद्ध एक असफल आवाज़ उठाई थी। बौद्ध कहते हैं कि परिनिव्वानके समय भी म० बुद्धने उपदेश दिया था। और उनके शरीरान्तपर लिच्छिवि, मल्ल आदि राजा आये थे (Beal's Life of Buddha, 101-131) श्वेताम्बर भी कहते हैं कि भगवान महावीरने पावामें पहुंचकर निर्वाण समयमें कुछ पहले तक उपदेश दिया था और उनके निर्वाणपर लिच्छिवि, मल्ल आदि राजगण आये थे। बुद्धकी मृत्यु उपरान्त उनका संघ वैशालीमें एकत्रित हुआ था और उसने पिटक ग्रंथोंको व्यवस्थित किया था। इसके बाद अशोकके समयमें

अथवा वनखंड उद्यानमें पहुंचकर उत्तराभिमुख हो अशोकवृक्षके नीचे रत्नमई शिलापर विराजमान होगए थे। उन्होंने सब वस्त्राभूषण इससमय त्याग दिये थे और सिद्धोंको नमस्कार करके पंचमुष्टि लोंच किया था। इसप्रकार निर्ग्रन्थ श्रमण हो वह ध्यानमग्न होगए और उनको शीघ्र ही सात लब्धियां एवं मनःपर्यय ज्ञानकी प्राप्ति हुई थी।

भगवान महावीरकी दिगम्बर दीक्षा।

श्वेताम्बर आम्नायके शास्त्रोंमें लिखा है कि भगवान दीक्षा समय नग्न हुये थे। इन्द्रने दीक्षा समयसे एक वर्ष और एक महीना उपरान्त 'देव-दूष्य वस्त्र' धारण कराया था। इसके पश्चात् वे नग्न होगये थे[२]।

भी वह एकत्रित हुआ था। इसीतरह श्वेताम्बर कहते हैं कि भगवान महावीरके उपरान्त जैनसंघ पाटलीपुत्रमें एकत्रित हुआ था। और उसने सिद्धान्तको सुव्यवस्थित किया था। फिर वल्लभीमें भी वह एकत्र हुआ था। सारांशतः भगवान महावीरके जीवन सम्बन्धमें जो घटनाऐं केवल श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें लिखी हुई हैं; उनका सादृश्य म० बुद्धके जीवनसे खूब है और श्वे० आगम ग्रन्थोंका संकलन भी प्रायः बौद्धोंके पिटक ग्रन्थोंके समान मिलता है। अतः यह जंचता है कि उनने बौद्धोंके आधारसे उक्त जीवन घटनाएं लिखीं हैं। इस अवस्थामें उनपर विश्वास करना ज़रा कठिन है।

१-जैनशास्त्रोंमें ज्ञान पांच प्रकारका बतलाया है:-(१) मति, (२) श्रुत, (३) अवधि, (४) मनःपर्यय, (५) केवलज्ञान। मतिज्ञान संसारके दृश्य पदार्थोंका ज्ञान है, जो इन्द्रियों व मनद्वारा जाना जासक्ता है। मतिज्ञानने साथर शास्त्रोंके स्वाध्याय और अध्ययनसे प्राप्त पदार्थोंके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। उन सब बातोंका ज्ञान जो वर्त रही हों विना वहां जाएही बैठे बैठे जान लेनेको अवधि कहते हैं। दूसरोंके मनोभावको जान लेना मनःपर्यय है और जगतके भूत भविष्य वर्तमानके समस्त पदार्थोंको युगपत जान लेना केवलज्ञान है। २-Js. I. P. 79.

'देवदूष्य वस्त्र' से क्या भाव है, यह श्वेताम्बर शास्त्रोंमें नहीं बतलाया गया है। वह कहते हैं कि देवदूष्य वस्त्र पहिने हुये भी भगवान नग्न दिखते थे। इसका साफ अर्थ यही है कि वे नग्न थे। एक निष्पक्ष व्यक्ति उनके कथनसे इसके अतिरिक्त और कोई मतलब निकाल ही नहीं सक्ता है[१]। फलतः श्वेताम्बरीय शास्त्रोंमें भी भगवानका नग्न दिगम्बर मुनि होना प्रगट है। अचेलक अथवा नग्न दशाको उनके 'आचारांग सूत्र' में सर्वोत्कृष्ट अवस्था बतलाई है[२]। अचेलकसे भाव यथाजात नग्न स्वरूपके अतिरिक्त यहांपर और कुछ नहीं होसक्ते; यह बात बौद्ध शास्त्रोंके कथनसे स्पष्ट है[३]।

बौद्ध शास्त्रोंमें जैन मुनियों अथवा निर्ग्रन्थ श्रमणोंको सर्वत्र नग्न साधु लिखा है[४] और यह साधु केवल भगवान महावीरके तीर्थके ही नहीं है, प्रत्युत उनसे पहले भगवान पार्श्वनाथजीके तीर्थके भी हैं[५]। अतएव भगवान पार्श्वनाथ एवं अन्य तीर्थकरोंका पूर्ण नग्न दशाको साधु अवस्थामें धारण करना प्रमाणित है। श्वेताम्बरीय आचारांग सूत्रमें भी शायद इसी अपेक्षा लिखा है कि 'तीर्थङ्करोंने भी इस नग्न वेशको धारण किया था।' इससे प्रत्यक्ष प्रगट है कि भगवान महावीरजीके अतिरिक्त अवशेष तीर्थङ्करोंने

१–कसू० स्टीवेन्सन, पृ० ८५ फुटनोट। २–Js. Pt. I. pp. 55–56. ३–दीनि० पाटिकसुत्त; वीर वर्ष ४ पृ० ३५३। ४–ममबु० पृ० ६०–६१ और २४९–२५५, जैसे दिव्यावदान पृ० १८५, जातकमाला (S. B. B. Vol. I.) पृ० १४५, महावग्ग ८, १५, ३,१, ३८, १६, डायोलॉगस ऑफ दी बुद्ध भा० ३ पृ० १४ इत्यादि। ५–ममबु० पृ० २३६–२४०। ६–J. S. I. pp. 57–58.

भी इस दिगम्बर दीक्षाको ग्रहण किया था। बौद्धाचार्य बुद्धघोष अचेलक शब्दके अर्थ नग्न ही करते हैं[1]। जैन मुनियोंका उल्लेख स्वयं जैन ग्रन्थों एवं बौद्धोंके पाली और चीनी भाषाओंके[3] ग्रन्थोंमें भी अचेलक रूपसे हुआ मिलता है। हिन्दुओंके प्राचीनसे प्राचीन शास्त्रोंमें भी जैन मुनियोंको 'नग्न' 'विवसन' आदि लिखा है[4]। अचेलक अर्थात् नग्न दशा ही कल्याणकारी है और यही मोक्ष प्राप्त करानेका सनातन लिंग है, यह बात जैनमतमें प्राचीनकालसे स्वीकृत है।

अतएव जैन मुनियोंके यथाजात दिगम्बर वेषमें शंका करना वृथा है। वास्तवमें सांसारिक बंधनोंसे मुक्ति उसी हालतमें मिल सकती है, जब मनुष्य बाह्य पदार्थोंसे रंचमात्र भी सम्बन्ध अथवा संसर्ग नहीं रखता है। इसी कारण एक जैन मुनिको अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओंपर सर्वथा विजयी होना परमावश्यक होता है। इस विजयमें उसे सर्वोपरि 'लज्जा' को परास्त करना पड़ता है। यह प्राकृत सुसंगत है। संयमी पुरुषको असली हालत-अपने प्राकृत स्वरूपमें पहुंचना है। अतएव यह यथाजात रूप उसके लिये परमावश्यक है। उस व्यक्तिकी निस्पृहता और इंद्रिय-निग्रहका प्रत्यक्ष प्रमाण है। नग्नदशामें वह सांसारिक संसर्गसे छूट जाता है। कपड़ोंकी झंझटसे छूटनेपर मनुष्य अनेक झंझटोंसे छूट-

१-कचेलको'ति निच्चेलो नग्गो—पापञ्च सूदन, Siamese Ed. II, p. 67. २-भमबु० पृ० २५५-दीनि. पाटिक सुत्त। ३-वीर, भा० ४ पृ० ३५३। ४-ऋग्वेद १०-१३५; वराहमिहिर संहिता १९-६१ व ४५-५० महाभारत ३।२६-२७; विष्णुपुराण ३।१८; भागवत ४।३, वेदान्तसूत्र २।२।३३-३६; दशकुमार चरित २ इत्यादि।

कर पूर्ण स्वतंत्र होजाता है। जैनोंके निकट विशेष आवश्यक जो जल है, सो इस भेषमें कपड़ोंके न होनेके कारण उसकी भी जरूरत नहीं पड़ती।

वस्तुतः हमारी बुराई भलाईकी जानकारी ही हमारे मुक्त होनेमें बाधक है। मुक्तिलाभ करनेके लिए हमें यह भूल जाना चाहिये कि हम नग्न हैं। जैन साधु इस बातको भूल गये हैं। इसीलिये उनको कपड़ोंकी आवश्यक्ता नहीं है। वह परमोत्कृष्ट और उपादेय दशाको पहुंच चुके हैं। इस दिगम्बर भेषको केवल जैनोंने ही नहीं प्रत्युत हिन्दुओं ईसाइयों और मुसलमानोंने भी साधुपनका एक चिन्ह माना है[१]। सारांशतः यह प्रगट है कि भगवान महावीरने गृह त्याग करके इसी दिगंबर भेषको धारण किया था। श्वेताम्बर जैन आचार्य अन्ततः कहते हैं कि " उन (भगवान् महावीर) के तीन नाम इसप्रकार ज्ञात हैं कि उनके माता-पिताने उनका नाम वर्द्धमान रक्खा था, क्योंकि वे रागद्वेषसे रहित थे; वे ' श्रमण ' इसलिये कहे जाते थे कि उन्होंने भयानक उपसर्ग और कठिन कष्ट सहन किये थे, उत्तम नग्न अवस्थाका अभ्यास किया था और सांसारिक दुःखोंको सहन किया था; और पूज्यनीय 'श्रमण महावीर', वे देवों द्वारा कहे गये थे[२]।"

भगवानका प्रथम पारणा।

दीक्षा ग्रहण कर लेनेके उपरान्त भगवान महावीरने ढाई दिनका उपवास किया और उसके पूर्ण होनेपर जब वह मुनि अवस्थामें सर्व प्रथम आहार ग्रहण करनेके लिये निकले तो कुलनगरके कुलनृपने उनको

१-भमबु० पृ० ५९-६०। २-Js. T. P. 193.

पड़गाहकर भक्तिपूर्वक आहारदान दिया था[1]। राजा और नगरका एक ही नाम, गणराज्यका द्योतक है और यह ऊपर कहा ही जा-चुका है कि यह कुलपुर नाथवंशी क्षत्रियोंकी विशेष वस्ती 'कोल्लग' ही थी और कुलनृप वहांके क्षत्रियोंके प्रमुख नेता थे। भगवानका पारणा उन्हींके यहां हुआ था। कुलपुरसे भगवान दशरथपुरको गये थे। वहां भी इसी कुलनृपने जाकर भगवानको दूध और चांवलका आहार दिया था। इसप्रकार परम पात्रको आहारदान देकर इस राजाने विशिष्ट पुण्य संचय किया था। उसके यहां देवोंने रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्य किये थे[2]।

भवनामक रुद्रका उपसर्ग।

इसके उपरान्त भगवान महावीर वनको वापस चले गये और ध्यानमग्न होगये थे। फिर वहांसे वे अन्यत्र विहार कर गये थे। कितने ही स्थानोंमें विचरते हुये वे उज्जयनी पहुंचे थे। अभी वे अल्पज्ञ थे और इस कारण मौनसे रहते हुये, केवल आत्मस्वरूपमें लीन रहते थे। उज्जयनी पहुंचकर वह 'अतिमुक्तक' नामक स्मशानभूमिमें रात्रिके समय प्रतिमायोग धारण करके, ध्यानलीन खड़े थे। उस समय भव नामक रुद्रने उनपर अनेक प्रकारके उपसर्ग किये थे; किन्तु वह उन 'विभव' अर्थात् संसार रहितको जीत न सका था। अन्तमें उसने उन जिननाथको नमस्कार किया और उनका नाम अतिवीर रक्खा था[3]।

१-उ पु० ६११-६१२। २-मम० पृ० ५८। ३-उ पु० ६१२-६१३।

श्वेताम्बर शास्त्रोंमें इसके अतिरिक्त भगवानपर अन्य बहुतसे उपसर्ग होनेका वर्णन मिलता है; किन्तु उनमें ऐतिहासिक तत्त्व बहुत कम होने और उनमें मात्र भगवानके कठोर तपश्चरण और महान् सहनशीलताको प्रगट करनेका मूल उद्देश्य रहनेके कारण उनको यहांपर लिखना अनावश्यक है। सचमुच भगवान् महावीरके जीवनका महत्व उनकी इस कष्टसहिष्णुतामें नहीं है, प्रत्युत उस आत्मबल और देह विरक्तिमें है, जहांसे इस गुणका और इसके साथ २ और भी कई गुणोंका उद्भव हुआ था। एकवार अपने अनुपम सौन्दर्यसे विश्वको विमोहित करनेवाली अनेक सुन्दर सलोनी देवरमणियां महावीरजीके पास आकर रास रचने लगीं और नानाप्रकारके हावभाव, कटाक्ष और मोहक अंग विशेषसे वे अपनी केलि-कामना प्रगट करने लगीं, कि जिसे देखकर किसी साधारण युवा तपस्वीका स्खलित होजाना बहुत सम्भव था; किन्तु भगवान् महावीरपर इस काम-सैन्यका भी कुछ असर न हुआ। महावीर अजेय थे। फलतः देव-रमणियां अपनासा मुँह लेकर चली गई। यह घटना उनके आत्म-बल और इंद्रिय निग्रहकी पूर्णताकी द्योतक है[1]।

अन्य उपसर्ग।

श्वेताम्बरोंके 'भगवतीसूत्र' में कथन है[2] कि गृह त्यागकर दूसरे वर्ष जब भगवान् छद्मस्थ दशामें राजगृहके निकट नालन्दा नामक गांवमें विराजमान थे; तब मक्खलिपुत्र गोशाल नामक एक भिक्षु भी भगवानके अतिशयको और राजगृहके श्रेष्ठी विजय द्वारा उनका विशेष आदर होता

मक्खलि गोशाल।

१-वंभम० पृ० १५४-१५५। २-भगवती १५-उरा० Appendix.

देखकर उनका शिष्य होनेको तत्पर था। किन्तु इस समय भगवानने उसको अपना शिष्य नहीं बनाया। नालन्दासे भगवान् कोल्लाग पहुंच गये, जहां ब्राह्मण बाहुलने उनको आहार दिया था। गोशाल भगवानको ढूंढ़ता हुआ वहां ठीक उसी समय पहुंचा जब बहुतसे लोग बाहुलके उक्त आहारदानकी प्रशंसा कर रहे थे। यहांपर गोशालकी प्रार्थनाको महावीरजीने स्वीकार कर लिया लिखा है; अर्थात उन्होंने गोशालको अपना शिष्य बना लिया। फिर गोशाल और महावीरजी दोनों जने साथ साथ छे वर्ष तक पणियभूमिमें रहे। 'भगवतीसूत्र' का यह कथन श्वेताम्बरोंके दूसरे ग्रन्थ 'कल्पसूत्र' (१२२) से ठीक नहीं बैठता। वहां भगवानको पणियभूमिमें केवल एक वर्ष ही व्यतीत किया लिखा है। इसके अतिरिक्त यह भी ठीक नहीं है कि भगवान जब स्वयं छद्मस्थ थे तब उन्होंने गोशालको अपना शिष्य बनाया हो। उनके आचाराङ्गसूत्रमें स्पष्ट लिखा है कि भगवान छद्मस्थ दशामें बोलते नहीं थे—मौनका अभ्यास करते थे।[१] अतएव 'भगवती' का उपरोक्त कथन स्वयं उनके ही ग्रंथसे बाधित है एवं अन्य विद्वान् भी अन्य प्रकार इसी निष्कर्षपर पहुंचे हैं कि मक्खलिगोशाल भगवान महावीरका शिष्य नहीं था।[२]

उपरान्त 'भगवतीसूत्र' में बतलाया है कि भगवान महावीर गोशाल जब सिद्धस्थगामसे कुम्मगामको जारहे थे, तो मार्गमें एक फल फूली लता विशेषको देखकर गोशालने जिज्ञासा की कि 'लताका नाश होगा या नहीं और फिर उसके बीज कहां प्रकट

१–आसू० Js. I P. 80–87. २–भंजी पृ० ११८, हिस्टी० पृ० २६ व Js. II Intr.

होंगे ।' महावीरजीने उत्तरमें कहा कि 'लताका नाश होगा, किंतु उसके बीजोंसे फिर उसकी उत्पत्ति होगी ।' गोशालने इसपर विश्वास नहीं किया । उसने लौटकर लताको नोंचकर फेंक दिया । होनीके सिर इसी समय पानी भी बरस गया; जिससे उसकी जड़ हरी होगई और उसमें बीज लग आये ।

जब गोशाल और महावीरजी वहांसे फिर निकले तो गोशालने महावीरजीको उनके कथनकी याद दिलाई और कहा कि लता नष्ट नहीं हुई है । महावीरजीने लतापर तबतक जो हालत गुजरी थी, वह ज्योंकी त्यों सब बात बता दी । इस घटनासे गोशालने यह विश्वास कर लिया कि केवल वृक्षलता ही नष्ट होनेपर फिर उसी शरीरमें जीवित होते हों, केवल यही बात नहीं है; बल्कि प्रत्येक जीवित प्राणी इसी प्रकार पुनः मृतशरीरमें जीवित (Reanimate) होसक्ता है ! भगवान महावीर गोशालकी इस मान्यतासे सहमत नहीं हुये । इसपर गोशालने अपनी रास्ता ली और तपश्चरणका अभ्यास करके उसने मंत्रवादमें कुछ योग्यता पाली । फलतः वह अपनेको 'जिन' घोषित करने लगा और श्रावस्तीमें जाकर आजीविक संप्रदायका नेता बन गया । इसी समय अपनी संप्रदायके सिद्धांतोंको उसने निश्चित किया था; जिनको उसने 'पूर्वों'के 'महानिमित्त' नामक एक भागसे लिया था ।

भगवानने उसके जिनत्वको स्वीकार नहीं किया था । गोशालने जैन संप्रदायको कष्ट पहुंचानेके बहु प्रयत्न किये थे और अन्ततः उसकी मृत्यु बुरी तरेह श्रावस्तीमें एक कुम्मारके घर हुई थी।

१–आजी पृ० ४१ ।

श्वेताम्बराचार्यने इस कथामें गोशालको खूब हीनाचारी प्रगट करनेका प्रयत्न किया है; जिसमें वह सिद्धान्त विरोधको भी भूल गये हैं। अतः उनके कथनमें ऐतिहासिक तत्त्व प्रायः नहीं के बराबर है। जब छद्मस्थ दशामें गोशालका भगवानका शिष्य होना ही बाधित है, तब शेष कथाको महत्व देना जरा कठिन है।

दिगम्बर शास्त्रोंमें गोशालका उल्लेख।

दिगम्बर जैन संप्रदायके शास्त्र 'भगवती' के उपरोक्त कथनसे सहमत नहीं हैं। उनमें लिखा है कि मक्खलीगोशाल भगवान पार्श्वनाथजीकी शिष्यपरंपराके एक मुनि थे; परन्तु जिस समय भगवान महावीरके समवशरणमें उनकी नियुक्ति गणधरपद पर नहीं हुई, तो वह रुष्ट होकर श्रावस्तीमें आकर आजीविक संप्रदायके नेता बन गए थे। और अपनेको तीर्थंकर प्रतिघोषित करके यह उपदेश देने लगे थे कि ज्ञानसे मोक्ष नहीं होता; अज्ञानसे ही मोक्ष होता है। देव या ईश्वर कोई है ही नहीं। इसलिए स्वेच्छापूर्वक शून्यका ध्यान ही करना चाहिये।

अन्यश्रोतोंसे दिगम्बर शास्त्रोंका समर्थन, गोशाल पार्श्वनाथकी परंपराका शिष्य।

देवसेनाचार्यके (१०वीं शताब्दी) दर्शनसार' और 'भावसंग्रह' नामक ग्रन्थोंमें यह वर्णन विशेष रीतिसे है। श्री नेमिचन्द्राचार्यके 'गोमट्टसार' में भी गोशालकी गणना अज्ञानमतमें की गई है। यही बात श्वेताम्बरोंके 'सूत्रकृतांग' ग्रंथमें लिखी हुई है[2]। बौद्धोंके 'समञ फलसुत्त'में भी गोशालकी इस अज्ञानमतरूप मान्यताका उल्लेख मिलता है। वहां गोशालको यह मत प्रगट करते हुए लिखा है कि 'अज्ञानी और ज्ञानी

१–भमबु० पृ० २०। २–सूत्रकृतांग २।१।३४५।

संसारमें भ्रमण करते हुये समान रीतिसे दुःखका अन्त करते हैं।' (संधावित्वा संसरित्वा दुःखस्सान्तम् करिस्सन्ति[1]), पातंजलिने भी अपने पाणनिसूत्रके भाष्यमें गोशालके सम्बंधमें कुछ ऐसा ही सिद्धांत निर्दिष्ट किया है। उसने लिखा है कि वह 'मस्करि' केवल बांसकी छड़ी हाथमें लेनेके कारण नहीं कहलाता था; प्रत्युत इसलिये कि वह कहता था-"कर्म मत करो, कर्म मत करो, केवल शांति ही वांछनीय है।" (मा कृत कर्माणि, मा कृत कर्माणि इत्यादि)[2]।

अतएव दिगम्बर जैनाचार्यने मक्खलिगोशालको जो अज्ञान मतका प्रचारक लिखा है, वह ठीक प्रतीत होता है। और अन्य श्रोतोंसे यह भी प्रगट है कि वह विधिकी रेखको अमिट मानता था। कहता था कि जो बात होनी है, वह अवश्य होगी; और उसमें पाप-पुण्य कुछ नहीं है। इस अवस्थामें उसके निकट ईश्वरका अस्तित्व न होना स्वाभाविक है। इस प्रकार दि० शास्त्रोंका उपरोक्त कथन ठीक जंचता है। और यह मानना पड़ता है कि मक्खलि गोशाल भगवान पार्श्वनाथजीके तीर्थका एक मुनि था और बहुश्रुती होते हुये भी जब उसे श्री वीर भगवानके समवशरणमें प्रमुख स्थान न मिला, तो वह उनसे रुष्ट होकर स्वतंत्र रीतिसे अज्ञानमतका प्रचार करने लगा।

मक्खलि गोशाल और पूरण कस्सप। पूरण जैन मुनि था।

किन्तु देवसेनाचार्यजीने मक्खलि गोशालका नामोल्लेख 'मस्करिपूरण' रूपमें किया है[3]। संभव है, इससे उसका भाव गोशालसे न समझा जाय और उपरोक्त कथनको असंगत माना जाय; किंतु

१-वीनि० भा० २ पृ० ५१-५४। २-ऑजीवी पृ० १२। ३-भावसंग्रह गा० १७६।

वास्तवमें बात यह है कि मक्खलि गोशालका नामोल्लेख 'मक्खलि गोशाल' के अतिरिक्त 'मंखलिपुत्र गोशाल' और 'मस्करि' रूपमें भी हुआ मिलता है। देवसेनाचार्यने मस्करि रूपमें उन्हींका उल्लेख किया है। उन्होंने मस्करिकी शिक्षायें बतलाई हैं उनका सामंजस्य मक्खलि गोशालकी शिक्षाओंसे बैठ जाना, इस बातकी पर्याप्त साक्षी है कि उनका भाव मक्खलि गोशालसे ही है। पूरणसे देवसेनाचार्यका अभिप्राय उस समयके एक अन्य प्रख्यात साधुसे है। बौद्ध लोग–(१) पूरण कस्सप, (२) मक्खलि गोशाल, (३) अजित केस-कम्बली, (४) पकुढकच्चायन, (५) संजय वैरत्थी पुत्र और (६) निगन्ठ नाथपुत्तकी गणना उस समयकी प्रख्यात ऋषियोंमें करते हैं[1]। निगन्ठ नाथपुत्त अर्थात भगवान् महावीरके अतिरिक्त अवशेषकी म० बुद्धने तीव्र आलोचना भी की है[2]।

यह सब ही ऋषिगण भगवान् महावीरसे वयमें अधिक और उनसे पहलेके थे[3]। जिस पूरणका उल्लेख देवसेनाचार्यने किया है, वह पूरण कस्सप ही प्रतीत होता है। इसका सम्बंध गोशालसे विशेष था, इस कारण इन दोनोंका उल्लेख साथ साथ किया जाना सुसंगत है। बौद्धोंके 'अंगुत्तर निकाय' में पूरणको गोशालका शिष्य प्रगट करने जैसा उल्लेख है तथा गोशालके छै अभिजाति सिद्धांतको पूरणका बतलाया गया है[4]। यहां गलती होना अशक्य है; बल्कि इस सिद्धांत मिश्रणसे उनका पारस्परिक घनिष्ट सम्बंध ही प्रगट होता है; जिसे डॉ० जार्ल चारपेन्टियर सा० भी स्वीकार करते हैं[5]।

१–डीनि० भा० २ पृ० १५० । २–हिग्ली० पृ० २७–२८ । ३–हिग्ली० पृ० २५–२६ । ४–अंगु० भा० ३ पृ० ३८३ । ५–इऐ० भा० ४३ ।

दोनों ही साधु पुण्य-पापको भी नहीं मानते थे। अतः गोशाल और पूरणका एक ही मतके अनुयायी होना सिद्ध है और बहुत करके वह गुरु शिष्यवत् थे।

इस दशामें जैनाचार्यने उन दोनोंका नामोल्लेख एक साथ प्रकट करके, यह स्पष्ट कर दिया है कि उनका सम्बंध अवश्य एक ही मतसे था; जिसको आजीविक कहते थे। कुछ विद्वान् गोशालको आजीविक मतका नेता और पूरणको अचेलक मतका मुखिया समझते हैं; किंतु यह यथार्थताके विपरीत है।[1]

'अचेलक' निर्ग्रंथोंका द्योतक है। नामका कोई अलग सम्प्रदाय नहीं था।

वास्तवमें उस समय अचेलक नामका कोई स्वतंत्र संप्रदाय नहीं था। अंगुत्तर निकायमें उस समयके तब इस प्रख्यात मतोंकी जो सूची दी है, उसमें अचेलक नामका कोई संप्रदाय नहीं है।[2] मालूम तो ऐसा होता है कि अचेलक शब्द उस समय श्रमण शब्दकी तरह नग्न साधुओंके लिये व्यवहृत होता था और मुख्यतः उसका प्रयोग जैन संप्रदाय और उसके साधुओंके लिये होता था। निर्ग्रंथ श्रावकका पुत्र सच्चक अचेलक लोगोंकी जिन क्रियायोंका उल्लेख करता है, वह ठीक जैन मुनियोंकी क्रियायोंके समान है। इसके अतिरिक्त और भी कई स्थलोंपर बौद्धोंने 'अचेलक' शब्दका प्रयोग जैनोंके लिये किया है।[4] अतएव आजी-

१-Js. II. Intro. XXVIII ff. २-भमबु० पृ० २०८। ३-वीर भा० ३ पृ० ३१९-३२१ व भा० ४ पृ० ३५३। ४-चीनी त्रिपिटकमें भी 'अचेलक'का व्यवहार जैनोंके लिये हुआ है (वीर ४।३५३); दीनि० उ० पृ० २३ व आजी० १३५।

विक संप्रदायके समान अचेलकको भी एक संप्रदाय मानना उचित नहीं है और न वह आजीविकोंका ही अपर नाम था।

भगवान महावीरपर गोशालका प्रभाव नहीं पड़ा था।

किन्हीं विद्वानोंका यह भी अनुमान है कि भगवान महावीरजीने अपने धर्म निर्माणमें बहुतसी बातोंकी सहायता आजीविक संप्रदायसे ली थी।[१] खासकर वह कहते हैं कि नग्नताको भगवान महावीरने गोशालसे ग्रहण किया था; किंतु उनके इस कथनमें बहुत कम तथ्य है। जिस समय श्वेतांबरोंके अनुसार गोशाल महावीरजीको मिला था, उस समय वह सवस्त्र था। भगवानके साथ रहकर उसने वस्त्रोंका त्याग किया था और तब उसको भगवानने अपना शिष्य बनाया था, यह प्रगट है।[२] अथ च यह भी ज्ञात है कि भगवान महावीरजीने साधु दीक्षा ग्रहण करनेके समयसे ही नग्नभेष धारण किया था; जैसे कि ऊपर लिखा जाचुका है। अतएव यह बिल्कुल असंभव है कि गोशाल द्वारा प्रभावित होकर महावीरजीने नग्नभेष धारण किया हो। इसी प्रकार आजीविकोंके कतिपय सिद्धांतोंकी सदृशता भ० महावीरके सिद्धांतोंसे होती देखकर, यह कहना कि महावीरजीने अपने सिद्धांत गठनमें गोशालसे सहायता ली, कुछ महत्त्व नहीं रखता; क्योंकि आजीविक संप्रदायकी उत्पत्ति जिस समय हुई थी, उस समय भगवान पार्श्वनाथ द्वारा जैनधर्मका पुनः प्रचार होचुका था।

१-Js. II. Intros. XXIX; आजी०, हिग्ली० पृ० ३८-४३ व हिप्रीइफि० पृ० ३९६-३९९। २-उद० हार्णले, Appendix पृ० २।

अतः जैनधर्ममें वह नियम आजीविकोंके पहलेसे ही स्वीकृत थे। भगवान महावीरने भी उन्हींका प्रतिपादन किया था। आधुनिक विद्वानोंको भी यह मान्य है[1] कि आजीविक नेता मक्खलिगोशाल, पूरणकस्सप आदिपर जैनधर्मका विशेष प्रभाव पड़ा था और उनने जैनधर्मसे बहुत कुछ सीखा था। आजीविक सम्प्रदायका निकास ही जैन धर्मसे हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं। जैनधर्मके आधारसे आजी-

आजीविकोंने जैनोंसे अपने सिद्धान्त लिये थे।

१–स्व० जेम्स डी०एल्विस सा० लिखते हैं कि 'दिगम्बर' एक प्राचीन संप्रदाय समझा जाता था और उपरोक्त साधुओंके सिद्धांतोंपर जैनधर्मका प्रभाव पड़ा था। ("In James d' Alwis' paper (Ind. Anti. VIII) on the six Tirthakas the "Digamberas" appear to have been regarded as an old order of ascetics and all of these heretical teachers betray the influence of Jainism in their doctrines."–Ind. Antri. Vol. IX. P. 161). डॉ० हर्मन जैकोबी भी यही बात प्रकट करते हैं, यथा: "The preceding four Tirthakar appear all to have adopted some or other doctrines or practices of the Jaina system, probably from the Jains themselves......It appears from the preceding remarks that Jain ideas & practices must have been current at the time of Mahavira and independently of him. This combined with other arguments, leads us to the opinion that the Nirgranthas (Jainas) were really in existence long before Mahavira, who was the roformer of the already existing sect."–Ind. Anti IX. 162.

विकोंने अपने सिद्धान्त निश्चित किये थे, यह एक मान्य विषय है।[1] तथापि निम्न विशेषताओंको ध्यानमें रखनेसे यह स्पष्ट दृष्टि पड़ता है कि आजीविक मतका विकास जैनमतसे हुआ था:—

(१) आजीविक संप्रदायका नामकरण 'आजीविक' रूपमें इसी कारण हुआ प्रतीत होता है कि आजीविक साधु, जिनकी बाह्यक्रियायें प्रायः जैन साधुओंके अनुरूप थीं, किसी प्रकारकी आजीविका करने लगे थे। जैन शास्त्रोंमें साधुओंको 'आजीवो' नामक दोष अर्थात् किसी प्रकारकी आजीविका करनेसे विलग रहनेका उपदेश है।[2] वस्तुतः आजीविक साधुगण प्रायः ज्योतिषियोंके रूपमें उस समय आजीविका करने लगे थे, यह प्रकट है।[3] अतः उनका नामकरण ही उनका निकास जैनधर्मसे हुआ प्रगट करता है।

(२) आजीविक साधुओंका नग्नभेष और कठिन परीषह सहन करनेसे भी उनका उद्गम जैन श्रोतसे हुआ प्रतिभाषित होता है।

(३) आजीविक साधु प्रायः जैन तीर्थंकरोंके भी भक्त मिलते थे; जैसे उपक नामक आजीविक साधु अनंतजिन नामक चौदहवें जैन तीर्थंकरका उपासक था।

(४) सैद्धान्तिक विषयमें आजीविक जैनोंके समान ही आत्माका अस्तित्व मानते थे और उसको 'अरोगी' अर्थात् सांसारिक मलोंसे रहित स्वीकार करते थे तथा संसार परिभ्रमण सिद्धान्त भी उन्हें मान्य था।[6]

१-कैहिइ०, पृ० १६२ व इरिइ० भाग १ पृ० २६१। २—मूलाचार—'धादीदूतनिमित्ते आजीवो वणिवगेद्दयादि। ३-आजी० पृ० ६७-६८। ४-आजी० पृ० ५५ व ६२। ५-ठाम० पृ० ३०, मारिय-परियेसण-सुत्त, इहिक्वा० भा० ३ पृ० २४७। ६-Js. I. Intro. XXIX.

(५) जैनोंकी विशेषता अणुवाद (Atomic Thoery) में है और भारतीय दर्शनमें उन्हींके यहां इसका सर्व प्राचीन रूप मिलता है। आजीविक संप्रदायको भी यह नियम प्राय: जैनधर्मके अनुसार ही स्वीकृत था।[1]

(६) जैनोंके द्वादशाङ्गश्रुतज्ञानमें 'पूर्व' नामक भी १२ ग्रंथ थे। उन्हींमेंसे अष्टाङ्ग महानिमित्तज्ञानको आजीविकोंने ग्रहण किया था[2]।

(७) मक्खलिगोशालने आजीविक संप्रदायमें 'चत्तारि पाणगायं चत्तारि अपाणगायं' नियम नियत किया था; जो जैनोंके सल्लेखनाव्रतके समान था[3]।

(८) आजीविक संप्रदायने जैनोंके कतिपय खास शब्दों (Terms) को ग्रहण कर लिया था; यथा 'सब्बे सत्ता, सब्बे पाणा, सब्बे भूता, सब्बे जीवा, 'संज्ञी', 'असंज्ञी', 'अभिक्कम्म' इत्यादि।[4]

(९) गोशालका छै अभिजाति सिद्धान्त जैनोंके षट्लेश्या सिद्धान्तके सदृश है।[5]

(१०) गोशाल अपनेको 'तीर्थंकर' प्रगट करता था। तीर्थंकर–मान्यता सिवाय जैनधर्मके और किसी संप्रदायमें नहीं है।

(११) जीवोंके एक इन्द्री, द्वेन्द्रिय आदि भेद भी जैनोंके समान आजीविकोंको स्वीकृत थे।[6]

इन बातोंके देखनेसे आजीविकोंका निकास भगवान पार्श्व-

१–हरिइं० भा० २ पृ० १९९। २–आजी० भा० १ पृ० ४१ व सम० पृ० १७७–१७८। ३–आजी० पृ० ५३–५४। ४–वीर भा० ३ पृ० ३१८। ५–Js. II. Intro. ६–Js. II. Intro.

नाथके तीर्थमें जैनधर्मसे हुआ मानना कुछ अनुचित नहीं जंचता है । गोशाल और पूरण इस संप्रदायके मुख्य नेता थे । गोशालने इस धर्मका प्रचार २४ वर्षतक करके श्रावणीमें हालाहलाकी कुंभारशालामें महावीरजीके निर्वाणसे सोलह वर्ष पहले मरण किया था । इस समय उसने अपने कृतदोषोंका प्रायश्चित्त भी लेलिया था और प्रगट कर दिया था कि वह सर्वज्ञ नहीं है ।[1] आजीविक साधु अच्युत अथवा सहस्रार स्वर्गतक गमन करते हैं ।[2] गोशालके मृत्यु उपरान्त भी आजीविकमतका प्रचार रहा था । संभवतः महापद्म नन्द आजीविक था और अशोकने नागार्जुनी पर्वतपर इनके लिये गुफायें बनवाई थीं ।[3]

गोशाल भगवानके साथ रहा था, परन्तु उनका शिष्य नहीं था।

उपरोक्त कथनसे यह स्पष्ट है कि भगवान् महावीरकी छद्मस्थ दशामें मक्खलि गोशाल उनके साथ अवश्य रहा था । श्वेताम्बर शास्त्र तो यह स्पष्टतः प्रगट करते ही हैं, किन्तु दिगम्बर शास्त्रके इस कथनसे कि भगवान् महावीरजीके समोशरणमें उसे अग्रस्थान न मिलनेके कारण वह उनसे रुष्ट होकर प्रथक होगया था, यह प्रगट है कि वह भगवान महावीरजीके केवलज्ञान प्राप्त करनेके समय अवश्य उनके निकट था । अतः वह भगवान महावीर द्वारा उपदेश प्रारम्भ होनेके जरा पहले हीसे अपने अज्ञानमतका प्रचार करने लगा था । डॉ० हार्णले सा० भगवान महावीरके केवलज्ञान

१-विशेषके लिये 'आजी०', 'भम', 'वीर' वर्ष ३ अंक १२-१३ व दिगम्बर जैन, भा० १९ अंक १-२ ६-७ से । २-त्रिलोकसार ५४५ व आचारसार १२७।६ । ३१५-आजी० पृ० ६७-६९ ।

प्राप्त करनेके समयसे दो वर्ष पहिले गोशालने स्वधर्म प्रचार प्रारम्भ किया, बतलाते हैं[१] ।

भगवान महावीर उज्जैनीसे विहार करके कौशांबी पहुंचे थे।

महावीरको केवल-ज्ञानकी प्राप्ति ।

यहांपर उनका आहार दलित अवस्थामें ही रहती हुई राजकुमारी चन्दनाके यहां हुआ था; जिससे भगवानका पतितोद्धारक स्वरूप स्पष्ट होकर मन मोह लेता है। कौशांबीसे भगवान पुनः एकांतवासमें निश्चल ध्यानारूढ़ रहे थे । उन्होंने एक टक बारह वर्ष तक दुद्धर तपश्चरण करनेका कठिन परन्तु दृढ़तम आत्मबल प्रगट करनेवाला नियम ग्रहण किया था। इस बारह वर्षके तपश्चरणके उपरांत उनको पूर्णज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। दिगम्बर और श्वेतांबर दोनों ही संप्रदायोंके शास्त्र जीवनकी इस मुख्य घटनाके समय महावीरजीकी अवस्था ब्यालीस वर्षकी बतलाते हैं[२]। श्वेतांबर शास्त्र कहते हैं कि उपरोक्त बारह वर्षकी घोर तपस्याका अभ्यास उनने लाढ़ देशके दो भागों—वज्र-भूमि और सुब्भभूमिके मध्य जाकर किया था और उनको वहीं केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी[३]। महावीरकी महान् विजयके ही कारण लाढ़का उक्त प्रदेश 'विजयभूमि' के नामसे प्रख्यात हुआ था। भगवानने 'विजय मुहूर्त' में ही सर्वज्ञपद पाया था।

उस समय यह लाढ़ देश बड़ा दुश्चर था और भगवानको यहांपर बड़ी गहन कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा था। किन्तु

१–Appendiss. २–हरि० पृ० ५७५ व Js. I. p. 269. ३–Js. I, p, 263. ४–इहिक० भा० ४ पृ० ४४ । ५–कैहिइ० पृ० १५८ ।

वे उन सबपर विजयी हुये थे और उन्होंने सर्वज्ञ होकर 'विजय-धर्म' प्रतिघोषित करनेका उच्च निनाद किया था। केवलज्ञान प्राप्तिकी महत्वपूर्ण घटनाके विषयमें कहा गया है कि एक 'सुव्रत' नामक दिनको ऋजुकूला अथवा ऋजुपालिका नदीके वामतटपर जृम्भक नामक ग्रामके निकट पहुंच कर, अपराह्नके समक्ष अच्छी तरहसे षष्टोपवासको धारण करके सालवृक्षके नीचे एक चट्टानपर आसन जमाकर महावीरजीने वैशाख शुक्ला दशमीके तिथिमें सर्वज्ञपदको प्राप्त किया था। इस समय उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र और विजय-मुहूर्त था। जिस स्थानपर भगवानने केवलज्ञानकी विभूति पाई थी, वह स्थान सामाग नामक कृषकके खेतमें था और एक प्राचीन मंदिरसे उत्तर पूर्वकी ओर था[२]। वहां महावीरजी सर्वज्ञ हुये और परम वंदनीय परमात्मा होगये थे। वह शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप सशरीर ईश्वर अथवा पूज्य अर्हंत या तीर्थंकर हुये थे। समस्त लोकमें आनंद छागया और देवोंने आकर उस समय आनंदोत्सव मनाया था।

भगवान महावीरका केवलज्ञान-स्थान।

आज स्पष्टरूपमें यह विदित नहीं है कि भगवान महावीरका केवलज्ञान स्थान कहांपर है? भगवानके जन्म व निर्वाणस्थानोंके समान जैन समाजमें किसी भी ऐसे स्थानकी मान्यता नहीं है कि वह केवलज्ञान प्राप्तिका पवित्र स्थान कहा जासके। जयपुर रियासतके चांदनगांवमें एक नदीके निकटसे भगवान महावीरजीकी एक बहुप्राचीन मूर्ति भूगर्भसे उपलब्ध हुई थी। वह मूर्ति वहींपर एक विशाल मंदिर

१-उपु० पृ० ६१४ व Js. I, 201. २-आचारांग Js. I. pp. 20/57.

बनवाकर विराजमान करदी गई थी और वहीं निकटमें भगवानके चरणचिह्न भी हैं।[१] इस प्रकार जाहिरा शास्त्रोंमें बताये हुये केवलज्ञान स्थानके वर्णनसे इस स्थानकी आकृति ठीक एकसी बैठती है और इससे यह भ्रम होसक्ता है कि यही स्थान भगवान महावीरजीके केवलज्ञान प्राप्त करनेका दिव्यस्थान होगा; किंतु जैन समाजमें यह स्थान केवल एक अतिशय तीर्थरूपमें 'महावीरजी'के नामसे मान्य है। तिसपर शास्त्रोंमें बताया हुआ केवलज्ञान स्थान कौसाम्बीसे अगाड़ी कहीं होना उचित है; क्योंकि उज्जयनीसे कौसाम्बीको जाते हुये उपरोक्त अतिशयक्षेत्र पीछे मार्गमें रह जाता है। और श्वेतांबर शास्त्र जृम्भक ग्राम आदिको लाढ देशमें स्थित बतलाते हैं।[२]

अतः यह केवलज्ञान स्थान मगधदेशमें कहीं होना युक्तिसंगत है। किन्हीं दिगम्बर जैन शास्त्रोंमें उसे मगधदेशमें बतलाया भी है।[३] लाढदेशका विजयभुमि प्रान्त आजकलके बिहार ओड़ीसा प्रांतस्थ छोटा नागपुर डिवीजनके मानभूम और सिंहभूम जिलों इतना माना गया है। स्व० नंदुलाल डे महाशयने सम्मेदशिखर पर्वतसे २९-३० मीलकी दूरीपर स्थित झरियाको जृम्भक ग्राम प्रगट किया है; जो अपनी कोयलोंकी खानोंके लिये प्रसिद्ध है और बराकर नदीको ऋजुकूला नदी सिद्ध की है।[४]

१-वीर भा० ३ पृ० ३१७ पर हमने भ्रमसे उसी स्थानको केवलज्ञान स्थान अनुमान किया था। २-कसू० Js. I, p. 263. ३-वृजैश० पृ० ६१। ४-इहिक्वा० भा० ४ पृ० ४४-४६ व वीर भा० ५ पृ०

यह स्थान मानभूम ज़िलेमें है और प्राचीन मगधका राज्याधिकार यहां था। अतएव यह बहुत संभव है कि उक्त स्थान ही महावीरजीका केवलज्ञान स्थान हो। इसके लिये झिरियाके निकटवर्ती ध्वंशावशेषोंकी जांच पड़ताल होना जरूरी है। इतना तो विदित ही है कि इन जिलोंमें 'सराक' नामक प्राचीन जैनी बहुत मिलते हैं और इनमें एक समय जैनोंका राज्य भी था। किंतु कालदोष एवं अन्य संप्रदायोंके उपद्रवोंसे यहांके जैनियोंका ह्रास इतना बेढब हुआ कि वे अपने धर्म और सांप्रदायिक संस्थाओंके बारेमें कुछ भी याद न रख सके। यही कारण है कि इस प्रांतमें स्थित भगवान महावीरजीके केवलज्ञान स्थानका पता आज नहीं चलता है। डा० स्टीन सा० ने पंजाब प्रांतसे रावलपिंडी जिलेमें कोटेरा नामक ग्रामके सन्निकट 'मूर्ति' नामक पहाड़ीपर एक प्राचीन जीर्ण जैन मंदिरके विषयमें लिखा है कि यहींपर भगवान महावीरजीने ज्ञान लाभ किया था। किंतु कौशाम्बीसे इतनी दूरीपर और सो भी नदीके सन्निकट न होकर पहाड़ीके ऊपर भगवानका केवलज्ञान स्थान होना ठीक नहीं जंचता। केवलज्ञान स्थान तो मगधदेशमें ही कहीं और बहुत करके झिरियाके सन्निकट ही था। उपरोक्त स्थान भगवानके समोशरणको वहां आया हुआ व्यक्त करनेवाला अतिशयक्षेत्र होगा; क्योंकि यह तो विदित है कि भगवान महावीर विहार करते हुये तक्षशिला आये थे[3] और मूर्तिपर्वत उसके निकट था।

१–बविओजैंस्मा० पृ० ४२–७७। २–कजाइ० पृ० ६८३। ३–हॉजै० पृ० ८० फु० नो०

भगवान महावीरने जिस अपूर्व त्यागवृत्ति और अमोघ आत्म-

भगवान महावीर सर्वज्ञ थे। अजैन ग्रंथोंकी साक्षी।

शक्तिका अवलंबन किया था, उसीका फल था कि वह एक सामान्य मनुष्यसे आत्मोन्नति करते२ परमात्मपद जैसे परमोत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हुये थे। वह सर्वज्ञ हो गये थे।[1] जैन शास्त्र कहते हैं कि ज्ञात्रिक महावीर भी अनंतज्ञान और अनंतदर्शनके धारी थे। प्रत्येक पदार्थको उनने प्रत्यक्ष देख लिया था और वे सर्व प्रकारके पाप-मलसे निर्मूल थे। वह समस्त विश्वमें सर्वोच्च और महाविद्वान थे। उन्हें सर्वोत्कृष्ट, प्रभावशाली, दर्शन, ज्ञान और चारित्रसे परिपूर्ण और निर्वाण सिद्धान्त प्रचारकोंमें सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है।[2] यह मान्यता केवल जैनोंकी ही नहीं है। ब्राह्मण और बौद्ध ग्रन्थ भी भगवान महावीरजीकी सर्वज्ञताको स्वीकार करते हैं।[3] बौद्धोंके अंगुत्तरनिकायमें लिखा है कि भगवान महावीरजी सर्वज्ञाता और सर्वदर्शी थे। उनकी सर्वज्ञता अनंत थी। वह हमारे चलने, बैठने, सोते, जागते हर समय सर्वज्ञ थे।[4] वह जानते थे कि किसने किस प्रकारका पाप किया है और किसने नहीं किया है।[5] बौद्ध शास्त्र कहते हैं कि महावीर संघके आचार्य, दर्शन शास्त्रके प्रणेता, बहुप्रख्यात, तत्ववेत्ता रूपमें प्रसिद्ध, जनता द्वारा सम्मानित, अनुभवशील वय प्राप्त साधु और आयुमें अधिक थे। (डायोलॉगस

१–उपु० पृ० ६१४। २–Js. II, pp. 287–270. ३–मज्झिमनिकाय १।२३८ व ९२–९३, अंगुत्तरनिकाय ३।७४, न्यायबिन्दु अ० ३, चुल्लवग्ग SBE. XX 78, Ind, Anti. VIII. 313. पंचतंत्र (Keilhorn, V I.) इत्यादि। ४–अं० नि० भाग १ पृ० २२०। ५–मज्झि० भाग २ पृ० २१४–२२८।

आफ दी बुद्ध पृ० ६६) वे चातुर्याम संवरसे स्वरक्षित, देखी और सुनी बातोंको ज्योंका त्यों प्रगट करनेवाले साधु थे (संयुत्त० भा० १ पृ० ९१) जनतामें उनकी विशेष मान्यता थी। (पूर्व पृ० ९४)।

भगवानका दिव्य प्रभाव ।

सचमुच तीर्थंकर भगवानके दिव्य जीवनमें केवलज्ञानप्राप्तिकी एक ऐसी बड़ी और मुख्य घटना है कि उसका महत्व लगाना सामान्य व्यक्तिके लिये जरा टेढ़ी खीर है। हां ! जिसको आत्माके अनन्तज्ञान और अनन्त शक्तिमें विश्वास है, वह सहजमें ही इस घटनाका मूल्य समझ सक्ता है। केवलज्ञान प्राप्त करना अथवा सर्वज्ञ होजाना, मनुष्य जीवनमें एक अनुपम और अद्वितीय अवसर है। भगवान महावीर जब सर्वज्ञ होगये, तो उनकी मान्यता जनसाधारणमें विशेष होगई। उस समयके प्रख्यात राजाओंने भक्तिपूर्वक उनका स्वागत किया। प्रत्येक प्राणी तीर्थंकर भगवानको पाकर परमानन्दमें मग्न होगया। बौद्ध शास्त्र भी महावीरजीके इस विशेष प्रभावको स्पष्ट स्वीकार करते हैं[१]। मालूम तो ऐसा होता है कि भगवान महावीरके कार्य-क्षेत्रमें अवतीर्ण होनेसे उस समयके प्रायः सब ही मतप्रवर्तकोंके आसन ढीले होगये थे और भगवानकी प्राणी मात्रके लिये हितकर शिक्षाको प्रमुखस्थान मिल गया था।

म० गौतम बुद्धके जीवनपर भगवान महावीरका प्रभाव।

उस समयके प्रख्यात मतप्रवर्तक म० गौतम बुद्धके विषयमें तो स्पष्ट है कि उनके जीवनपर भगवान महावीरकी सर्वज्ञ अवस्थाका ऐसा प्रबल प्रभाव पड़ा था कि भगवान महावीरके धर्म

१ अंगुत्तरनिकाय भा० १ पृ० ९४ ।

प्रचारके अन्तराल काल तक उनके दर्शन ही मुश्किलसे होते हैं। म० बुद्धके ६० से ७० वर्षके मध्यवर्ती जीवन घटनाओंका उल्लेख नहींके बराबर मिलता है[1]। रेवरेन्ड बिशप बिगन्डेट सा० तो कहते हैं कि यह काल प्रायः घटनाओंके उल्लेखसे कोरा है[2]। (An almost blank) म० बुद्धके उपरोक्त जीवनकालकी घटनाओंके न मिलनेका कारण सचमुच भगवान महावीरके धर्मप्रचारका प्रभाव है; क्योंकि यह अन्यत्र प्रमाणित किया जाचुका है कि जिससमय भगवान महावीरजीने अपना धर्मप्रचार प्रारम्भ किया था, उस समय म० बुद्ध अपने 'मध्य मार्ग' का प्रचार प्रारम्भ कर चुके थे और अनुमानसे ४९ या ४८ वर्षकी अवस्थामें थे[3]। अतः यह बिलकुल सम्भव है कि महावीरजीका उपदेश इस अन्तराल कालमें इतना प्रभावशाली अवश्य होगया था कि म० बुद्धके जीवनके ६० वें वर्षसे उनकी जीवन घटनायें प्रायः नहीं मिलती हैं।

'सामगाम सुतन्त' में भगवान महावीरजीके निर्वाण प्राप्तिकी खबर पाकर म० बुद्धके प्रमुख शिष्य आनन्द बड़े हर्षित हुये थे और बड़ी उत्सुकतासे यह समाचार म० बुद्धको सुनानेके लिये दौड़े गये थे,[4] इससे भी साफ प्रगट है कि म० गौतमबुद्धको महावीरजीके धर्मप्रचारके समक्ष अवश्य ही हानि उठानी पड़ी थी; क्योंकि यदि ऐसा न होता तो महावीरजीके निर्वाण पालेनेकी घटनाको बौद्ध बड़ी उत्कण्ठा और हर्षभावसे नहीं देखते। भगवान महावीरके समक्ष म० बुद्धका प्रभाव क्षीण पड़नेमें एक और कारण

१-भमबु० पृ० १००-११० । २-सॉन्डर्स, गौतमबुद्ध पृ० ५४ ।
३-भमबु० पृ० १०१ । ४-डायोलॉग्स ऑफ बुद्ध भा० ३ पृ० ११२ ।

दोनों मत प्रवर्तकोंका विभिन्न मात्राका ज्ञान भी था। महावीरजी पूर्ण सर्वज्ञ और त्रिकालदर्शी थे, यह बात स्वयं बौद्ध शास्त्र प्रगट करते हैं; जैसे कि ऊपर व्यक्त किया गया है। किन्तु म० बुद्धको यद्यपि बौद्ध शास्त्र सर्वज्ञ बतलाते हैं; परन्तु यह बात वह स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि म० बुद्धकी सर्वज्ञता हरसमय उनके निकट नहीं रहती थी। वह जब जिस बातको जानना चाहते थे, उस बातको ध्यानसे जान लेते थे। अतः म० बुद्धका ज्ञान पूर्ण सर्वज्ञता न होकर एक प्रकारका अवधिज्ञान प्रगट होता है[२]।

गौतम बुद्धका ज्ञान!

ज्ञानके इस तारतम्यको समझकर ही शायद म० बुद्धने कभी भी जैन तीर्थंकरसे मिलनेका प्रयास नहीं किया था और न उनने महावीरजीकी वैसी तीव्र आलोचना की है, जैसे कि उन्होंने उस समयके अन्य मत-प्रवर्तकोंकी की थी। किन्तु इस कथनसे यहां हमारा भाव म० बुद्धके गौरवपूर्ण व्यक्तित्वकी अवज्ञा करनेका नहीं है। हमारा उद्देश्य मात्र भगवान महावीरके दिव्य प्रभावको प्रगट करनेका है; जिसका विशिष्ट रूप स्वयं बौद्ध शास्त्र प्रगट करते हैं। बौद्धोंके कथनसे यह भी प्रगट होता है कि उस समयके विदेशी लोगों-यवनों (Indo-Greeks) में भी भगवान महावीरजीकी मान्यता विशेष होगई थी[3]। सर्वज्ञ प्रभुका महत्व किसको अछूता छोड़ सक्ता है?

भगवानके केवली होते ही जनता उनके अनुपम महान् व्यक्तित्वपर एकदम मोहित होगई प्रगट होती है। इस दिव्य घटनाके

१-मिलिन्दपन्ह (SBE.) भा० ३५ पृ० १५४। २-ममबु० पृ० ७२-७५। ३-हिग्लीं० पृ० ७८।

उपलक्षमें ही उन स्थानोंके नाम भगवान महावीरजीकी अपेक्षा उल्लिखित हुये जिनका सम्पर्क महावीरजीसे था। कहते हैं मानभूमि जिला, मान्यभूमि रूपमें भगवानके अपरनाम "मान्य श्रमण" की अपेक्षा कहलाया था। सिंघभूम जिलाका शुद्ध नाम 'सिंहभूमि' बताया गया है और कहा गया है कि वीर प्रभुकी सिंहवृत्ति थी और उनका चिन्ह 'सिंह' था; इसलिये यह जिला उन्हींकी अपेक्षा इस नामसे प्रख्यात् हुआ था[2]। इनके अतिरिक्त विजयभूमि, वर्द्धमान (वर्दवान), वीरभूमि आदि स्थान भी भगवान महावीरजीके पवित्र नाम और उनके सम्बन्धको प्रगट करनेवाले हैं[3]। सचमुच बंगाल व विहारमें उससमय जैनधर्मकी गति विशेष थी और जनता भगवान महावीरको पाकर फूले अंग नहीं समाई थी।

म० बुद्ध एक समय जैन मुनि थे।

म० गौतम बुद्ध बौद्धधर्मके प्रणेता थे और वह भगवान महावीरके समकालीन थे। जैन शास्त्रोंमें उनको भगवान पार्श्वनाथजीके तीर्थके मुनि पिहिताश्रवका शिष्य बतलाया है। लिखा है कि दिगम्बर जैन मुनिपदसे भ्रष्ट होकर रक्ताम्बर पहिनकर बुद्धने क्षणिकवादका प्रचार किया और मृत मांस ग्रहण करनेमें कुछ संकोच नहीं किया था। जैन शास्त्रके इस कथनकी पुष्टि स्वयं बौद्ध ग्रन्थोंसे होती है। उनमें एक स्थानपर स्वयं गौतम बुद्ध इस बातको स्वीकार करते हैं

१–इंहिक्वा० भा० ४ पृ० ४५। २–पूर्व प्रमाण। ३–वर भा० ३ पृ० ३७० व बविओ जैस्मा० पृ० १०९। ४–ममबु० पृ० ४८–४९. म० बुद्धको अनात्मवाद सहसा मान्य नहीं था। उनने स्पष्टतः आत्माके अस्तित्वसे इन्कार नहीं किया था। यह उनकी जैन दशाका प्रभाव कहा जासकता है।

कि उनने दाढ़ी और सिरके बाल नोंचनेकी परीषहको सहन किया था[1]। यह परीषह जैन मुनियोंका खास चिन्ह है। तिसपर गया शीर्षपर उन्होंने पांच भिक्षुओंके साथ जो साधु जीवन व्यतीत किया था, वह ठीक जैन साधुके जीवनके समान था। पांच भिक्षुओंके नाम भी जैन साधुओंके अनुरूप थे[2]। कहा गया है कि 'भिक्षु' शब्दका व्यवहार सर्व प्रथम केवल जैनों अथवा बौद्धों द्वारा हुआ था[3]; किन्तु जिस समय म० बुद्ध उन पांच भिक्षुओंके साथ थे उस समय उन्होंने बौद्धधर्मका नींवारोपण नहीं किया था। अतः निःसंदेह उक्त भिक्षुगण जैन थे और उनके साथ ही म० बुद्धने जैन साधुका जीवन व्यतीत किया था; जैसे कि वह स्वयं स्वीकार करते हैं। सर भाण्डारकर भी म० बुद्धको एक समय जैन मुनि हुआ बतला चुके हैं[4]। किन्तु जैन मुनिकी कठिन परीषहोंको सहन करनेपर भी म० बुद्धको शीघ्र ही केवलज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई तो वह हताश होगये और उन्होंने मध्यका मार्ग ढूंढ़ निकाला; जो जैनधर्मकी कठिन तपस्या और हिन्दु धर्मके क्रियाकाण्डके बीच एक राजीनामा मात्र था।

भगवान महावीर और म० गौतमबुद्ध एक व्यक्ति नहीं थे और जैनधर्म बौद्धधर्मकी शाखा नहीं है।

किन्हीं लोगोंका यह खयाल है कि म० गौतमबुद्ध और भगवान महावीर एक व्यक्ति थे और जैनधर्म बौद्धधर्मकी एक शाखा है, किंतु इस मान्यतामें कुछ भी तथ्य नहीं है।[5] स्वयं बौद्ध ग्रंथोंसे भगवान महावीरजीका स्वतंत्र

१-डिस्कोर्सेस ऑफ गोतम १।९७-९९। २-भमबु० पृ० ४७।
३-डायोलॉगस ऑफ बुद्ध (SBB) Intro, ४-जैहि भा० १ पृ० ५।
५-Js. II. Intro.

व्यक्तित्व प्रमाणित है; जैसे कि पहले बौद्धग्रंथोंके उद्धरण दिये जा चुके हैं। इन दोनों महापुरुषोंकी कतिपय जीवन घटनायें अवश्य मिलती जुलती हैं; किंतु उनमें विभिन्नतायें भी इतनी बेढब हैं कि उनको एक व्यक्ति नहीं कहा जासक्ता है। म० गौतमबुद्धके पिताका नाम जहां शाक्यवंशी शुद्धोदन था, वहां भगवान महावीरजीके पिता ज्ञातृकुलके रत्न नृप सिद्धार्थ थे। म० बुद्धके जन्मके साथ ही उनकी माताका देहांत होगया था; किंतु भगवान महावीरकी माता रानी त्रिशला अपने पुत्रके गृह त्याग करनेके समय तक जीवित थीं। भगवान महावीर बालब्रह्मचारी थे; पर म० बुद्धका विवाह यशोदा नामक राजकुमारीसे हुआ था; जिससे उन्हें राहुल नामक पुत्ररत्नकी प्राप्ति भी हुई थी। भगवान महावीरने गृहत्याग कर जैन मुनिके एक नियमित जीवन क्रमका अभ्यास किया था। म० बुद्धको ठीक इसके विपरीत एकसे अधिक संप्रदायके साधुओंके पास ज्ञान लाभकी जिज्ञासासे जाना पड़ा था। म० बुद्धने पूर्ण सर्वज्ञ हुये विना ही ३९ वर्षकी अवस्थामें बौद्धधर्मको जन्म देकर उसका प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया था। किंतु भगवान महावीरजीने किसी नवीन धर्मकी स्थापना नहीं की थी। उन्होंने सर्वज्ञ होकर ४२ वर्षकी अवस्थासे जैनधर्मका पुनः प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया था।

दोनों धर्मनेताओंके धर्मप्रचार प्रणालीमें भी जमीन आस्मानका अन्तर था। म० बुद्धको अपने धर्मप्रचारमें सफलता उनकी मीठी वाणी और प्रभावशाली मुखाकृतिके कारण मिली थी।[१] लोग मंत्रमुग्धकी तरह उनके उपदेशको ग्रहण करते थे। उसकी

१–सान्डर्स गौतम बुद्ध पृ० ७५।

सार्थकता अथवा औचित्यकी ओर ध्यान ही नहीं देते थे। भगवान महावीरका धर्मप्रचार ठीक वैज्ञानिक ढंगपर होता था। उनके निकट जिज्ञासुकी शंकाओंका अन्त एकदम हो जाता था। इसका कारण यही था कि वह त्रिकाल और त्रिलोकदर्शी सर्वज्ञ थे। उन्होंने आत्मा और लोकके अस्तित्व एवं कर्मवादको पूर्णतः स्पष्ट प्रतिपादित करके सैद्धांतिक जिज्ञासुओंकी पूरी मनः संतुष्टि कर दी थी। उनने वनस्पति, पृथ्वी, जल, अग्नि वायु आदि स्थावर पदार्थोंमें भी जीव प्रमाणित किया था और कर्मवर्गणाओंका अस्तित्व और उनका सूक्ष्मरूप प्रकट करके अणुवादका प्राचीन रूप स्पष्ट कर दिया था। इसके विपरीत म० बुद्धने यह भी नहीं बतलाया था कि आत्मा है या नहीं। उनने आत्मा, लोक, कर्मफल आदि सैद्धांतिक बातोंको अधूरी छोड़ दिया था।[1] इस अपेक्षा विद्वज्जन म० बुद्धके धर्मको प्रारम्भमें एक सैद्धांतिक मत न मानकर सामाजिक क्रांति ही मानते हैं।[2] दोनों ही धर्मनेताओंने यद्यपि अहिंसातत्त्वको स्वीकार किया है; परन्तु जो विशेषता इस तत्त्वको भगवान महावीरके निकट प्राप्त हुई, वह विशेषरूप उसे म०बुद्धके हाथोंसे नसीब नहीं हुआ।

म० बुद्धने अहिंसा तत्त्वको मानते हुये भी मृत पशुओंके मांसको ग्रहण करना विधेय रक्खा था और इसी शिथिलताका आज यह परिणाम है कि प्रायः सर्व ही बौद्ध धर्मानुयायी मांसभक्षक मिलते हैं[3]। किन्तु जैनधर्मके विशिष्ट अहिंसा तत्त्वसे प्रभावित

१–ममबु० पृ० ११८–१२०। २–कीथ, बुद्धिस्ट फिलासफी पृ० ६२। ३–डाभाइ० पृ० १३१।

होकर प्रत्येक जैनी पूर्ण शाकाहारी है और उनका हृदय हर समय दयासे भीजा रहता है; जिससे वे प्राणीमात्रकी हितचिन्तना करनेमें अग्रसर हैं[१]। जैन संघमें गृहस्थों अर्थात् श्रावक और श्राविकाओंको भी मुनियों और आर्यिकाओंके साथ स्थान मिला रहा है; किन्तु बौद्ध संघमें केवल भिक्षु और भिक्षुणी–यही दो अंग प्रारंभसे हैं। विद्वानोंका मत है कि जैन संघकी उपरोक्त विशेषताके कारण ही जैनोंका अस्तित्व आज भी भारतमें है और उसके अभावमें बौद्ध धर्म अपने जन्मस्थानमें ढूंढ़नेपर भी मुश्किलसे मिलता है[२]। बौद्ध और जैनधर्मके शास्त्र भी विभिन्न हैं। जैन शास्त्र 'अंग और पूर्व' कहलाते हैं; बौद्धोंके ग्रन्थ समूह रूपमें 'त्रिपिटक' नामसे प्रख्यात् हैं। जैन साधु नग्न रहते और कठिन तपस्या एवं व्रतोंका अभ्यास करना आवश्यक समझते हैं, किन्तु बौद्धोंको यह बातें पसन्द नहीं हैं। वह इन्हें धार्मिक चिन्ह नहीं मानते। बौद्ध साधु 'भिक्षु' अथवा 'श्रावक' कहलाते हैं, जैन साधु 'श्रमण' 'अचेलक' अथवा 'आर्य' या 'मुनि' नामसे परिचित हैं। जैनधर्ममें श्रावक गृहस्थको कहते हैं। जैन अपने तीर्थंकरोंको मानते हैं और बौद्ध केवल म० बुद्धकी पूजा करते हैं। इन एवं ऐसी ही अन्य विभिन्नताओंके होते हुये भी जैनधर्म और बौद्धधर्ममें बहुत सादृश्य भी है। 'आश्रव' 'संवर' आदि कितने ही खास शब्दों और सिद्धान्तोंको बौद्धोंने स्वयं जैनोंसे ग्रहण किया है[३] और स्वयं म० बुद्ध पहले जैनधर्मके बहुश्रुती साधु थे; ऐसी

१–रि. इ० पृ० २३०। २–कैहि इ० पृ० १६९। ३–इरि इ० भा० ७ पृ० ४७२।

दशामें उक्त दोनों धर्मोंमें सादृश्य होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है[1]। दोनों धर्मोंमें न वेदोंकी ही मान्यता है और न ब्राह्मणोंका आदर है। वे यज्ञोंमें होनेवाली हिंसाका घोर विरोध रखते हैं। जाति और कुलके घमंडको दोनों ही धर्मोंमें पाखण्ड बतलाया गया हैं और उनका द्वार प्रत्येक प्राणीके लिये सदासे खुला रहा है।

बौद्ध और जैनोंके निकट रत्नत्रय अथवा त्रि-रत्न मुख्य हैं और आदरणीय हैं; परन्तु दोनोंके निकट इनका अभिप्राय भिन्न भिन्न है। बौद्धधर्मके अनुसार त्रिरत्न (१) बुद्ध (२) धर्म और (३) संघ हैं×। जैनधर्ममें रत्नत्रय (१) सम्यग्दर्शन (Right Belief) (२) सम्यग्ज्ञान (Right Knowledge) और (३) सम्यग्चारित्र (Right Conduct) को कहते हैं। बौद्ध और जैन जगतको रचनेवाले ईश्वरका अस्तित्व नहीं मानते हैं; यद्यपि जैनधर्ममें ईश्वरवाद स्वीकृत है। वे मोक्ष व निर्वाण प्राप्ति अपना उद्देश्य समझते हैं; किन्तु इसका भाव दोनोंके निकट भिन्न है। बौद्ध निर्वाणसे मतलब पूर्ण क्षय होनेका समझते हैं; किन्तु जैनोंके निकट निर्वाण दशासे भाव अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य और अनंतसुख पूर्ण अवस्थासे है। इस प्रकार जैनधर्म और बौद्धधर्ममें मौलिक भेद स्पष्ट है और यह भी प्रगट है कि भगवान महावीर एक स्वाधीन और म० बुद्धसे विभिन्न महापुरुष थे; जिन्हें बौद्ध लोग निगन्ठ

१–भमबु० पृ० ११७–१७८।

× बौद्धधर्ममें यही तीन शरण माने गये हैं। जैनधर्ममें (१)–अरहन्त, (२) सिद्ध, (३) साधु, (४) व केवली भगवान द्वारा प्रतिपादित धर्म–यह चार शरण माने हैं।

नातपुत्त कहते हैं। जैनधर्मका उल्लेख बौद्ध ग्रन्थोंमें एक पूर्व निश्चित और म० बुद्धके पहिलेसे प्रचलित धर्मके रूपमें हुआ मिलता है। अतएव जैनधर्मको बौद्धधर्मकी शाखा नहीं कहा जासक्ता। हां! इसके विपरीत यह कह सक्ते हैं कि म० गौतम बुद्धने जैनधर्मसे अपने धर्म निर्माणमें बहुत कुछ सहायता ली थी। भगवान महावीरके पवित्र जीवनका उनपर काफी प्रभाव पड़ा था।

जिस समय भगवान महावीर सर्वज्ञ होगये तो नियमानुसार

भगवान महावीरका प्रारंभिक उपदेश।

उनकी वाणी नहीं खिरी। नियम यह है कि जिस समय तीर्थंकर केवली होजाते हैं, उस समयसे उनकी आयुपर्यंत नियमित रूपसे प्रतिदिन तीन समय मेघ गर्जनाके समान अनायास ही वाणी खिरती रहती है; जिसे प्रत्येक जीव अपनी२ भाषामें समझ लेते हैं। यह वाणी अर्धमागधी भाषामय परिणत होती है, जो सात प्रकारकी प्राकृत भाषाओंमेंसे एक है[1]। किन्तु भगवान महावीरजीके सर्वज्ञ होजानेपर भी यह प्रसंग सहज ही उपस्थित न हुआ। जैन शास्त्र कहते हैं कि उस समय भगवानके निकट ऐसा कोई योग्य पुरुष नहीं था, जो उनकी वाणीको ग्रहण करता। इसी कारण भगवानकी वाणी नहीं खिरी थी। देवलोकका इन्द्र अपने देवपरिकर सहित भगवानका 'केवलज्ञान कल्याणक' उत्सव मनाने आया था। वहां भी वह उपस्थित था। उसने अपने ज्ञानबलसे जान लिया था कि वेदपारांगत प्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान् इन्द्रभूति गौतम भगवानकी दिव्यध्वनिको अब धारण करनेकी योग्यता रखता है। इन्द्रकी आज्ञासे भगवानके

१-चरचा समाधान पृ० ३९।

उपदेश निमित्त सभागृह पहले ही बन गया था जिनमें अनेक कोट, वापी, तड़ाग, जिन मंदिर, चैत्य, स्तूप, मानस्तम्भ आदिके अतिरिक्त भगवानकी मनमोहक 'गन्धकुटी' और बारह कोठे थे। इन कोठोंमें साधु–साध्वी, देव–देवांगना, नर-नारी और तिर्यंच–पशु भी समान भावसे बैठकर भगवानका अव्याबाध सुख–संदेश सुनते थे[1]। इंद्र सभाजनोंको भगवानकी वाणी रूपी अमृतके लिये तृषातुर देखकर शीघ्र ही बड़ी कुशलता पूर्वक इन्द्रभूति गौतम और उनके भाई वायुभूति व अग्निभूतिको वहां ले आया।

वे भगवानका दिव्य उपदेश सुनकर जैनधर्ममें दीक्षित होगये और भगवानकी वाणीको ग्रहण करके उसकी अंग-पूर्वमय रचना इन्द्र-भूतिने उसी रोज कर डाली थी। मनःपर्यय ज्ञानकी निधि उनको तत्क्षण मिल गई थी और वह भगवानके प्रमुख गणधर पदपर आसीन हुये थे। वायुभूति और अग्निभूति भी अन्य दो गणधर हुये थे[2]। इनके अतिरिक्त भगवानके गणधर व अन्य शिष्य थे, उनका वर्णन अगाड़ीकी पंक्तियोंमें है। श्वे० शास्त्र कहते हैं कि भगवानका यह प्रथम समवशरण अपाया नामक नगरीके बाहर रचा गया था[3]; किन्तु दिगम्बर शास्त्र उसे राजगृहके निकट जृम्भक ग्राममें बतलाते हैं।

भगवानके उपदेशका ढंग और बहुप्रचार।

अब भगवान महावीरने उस सत्य संदेशको, जिसे उन्होंने अत्यन्त कठिन तपश्चर्याके बाद प्राप्त किया था, प्राकृत रूपमें सारे विश्वको देना

१–ममबु० पृ० ११०, व वीर भा० ५ पृ० २३०–२३४। २–उ० पु० ६१५। ३–संमम० पृ० ९९९।

प्रारम्भ कर दिया था। उनका उपदेश हितमित पूर्ण शब्दोंमें समस्त जगतके जीवोंके लिये कल्याणकारी था। उस आदर्श रूप उपदेशको सुनकर किसीका हृदय जरा भी मलिन या दुखित नहीं होता था। बल्कि उसका प्रभाव यह होता था कि प्रकृत जाति विरोधी जीव भी अपने पारस्परिक वैरभावको छोड़ देते थे। सिंह और भेड़, कुत्ता और बिल्ली बड़े आनंदसे एक दूसरेके समीप बैठे हुये भगवानके दिव्य संदेशको ग्रहण करते थे। पशुओंपर भगवानका ऐसा प्रभाव पड़ा हो, इस बातको चुपचाप ग्रहण कर लेना इस जमानेमें जरा कठिन कार्य है। किंतु जो पशु विज्ञानसे परिचित हैं और पशुओंके मनोबल एवं शिक्षाओंको ग्रहण करनेकी सूक्ष्म शक्तिकी ओर जिनका ध्यान गया है, वह उक्त प्रकार भगवान महावीरके उपदेशका प्रभाव उन पर पड़ा माननेमें कुछ अचरज नहीं करेंगे।

सचमुच वीतराग सर्व हितैषी अथवा सत्य एवं प्रेमकी साक्षात जीती जागती प्रतिमाके निकट विश्वप्रेमका आश्चर्यकारी किंतु अपूर्व वातावरण उपस्थित होना, कुछ भी अप्राकृत दृष्टि नहीं पड़ता! विश्वका उत्कृष्ट कल्याण करनेके निमित्त ही भगवानके तीर्थङ्कर पदका निर्माण हुआ था! 'लेकिन उन्होंने अपना निर्माण सिद्ध करनेके निमित्त कभी किसी प्रकारका अनुचित प्रभाव डालनेकी कोशिश नहीं की और न कभी उन्होंने किसीको आचार विचार छोड़कर अपने दलमें आनेके लिए प्रलोभित ही किया। उनकी उपदेश पद्धति शांत, रुचिकर, दुश्मनोंके दिलोंमें भी अपना असर पैदा करनेवाली, मर्मस्पर्शी और सरल थी।' 'सबसे पहिले उन्होंने

इस बातकी घोषणाकी कि जगत्‌का प्रत्येक प्राणी जो अशांति, अज्ञान और अत्यन्त दुःखकी ज्वालामें जल रहा है, मेरे उपदेशसे लाभ उठा सक्ता है। अज्ञानके चक्रमें छटपटाता हुआ प्रत्येक जीव चाहे वह तिर्यंच हो चाहे मनुष्य, आर्य्य हो चाहे म्लेच्छ, ब्राह्मण हो या शूद्र, पुरुष हो या स्त्री, मेरे धर्मके उदार झण्डेके नीचे आ सक्ता है। सत्यका प्रत्येक इच्छुक मेरे पास आकर अपनी आत्मपिपसाको बुझा सक्ता है। इस घोषणाके प्रचारित होते ही हजारों सत्यके भूखे प्राणी महावीरकी शरणमें आने लगे।'[1]

महावीरजीकी महान् उदार आत्माके निकट सबको स्थान मिल गया। कवि सम्राट् सर रविन्द्रनाथ टागोर कहते हैं कि 'महावीरस्वामीने गंभीरनादसे मोक्षमार्गका ऐसा संदेश भारतवर्षमें फैलाया कि धर्म मात्र सामाजिक रूढ़ियोंमें नहीं है; किन्तु वह वास्तविक सत्य है। संप्रदाय विशेषके बाहिरी क्रियाकाण्डका अभ्यास करनेसे मोक्ष प्राप्त नहीं होसक्ती; किन्तु वह सत्य धर्मके स्वरूपमें आश्रय लेनेसे प्राप्त होती है। धर्ममें मनुष्य और मनुष्यका भेद स्थाई नहीं रह सक्ता। कहते हुये आश्चर्य होता है कि महावीरजीकी इस शिक्षाने समाजके हृदयमें बैठी हुई भेदभावनाको शीघ्र नष्ट कर दिया और सारे देशको अपने वश कर लिया!"[2]।

इसप्रकार भगवानका ४२ वर्षसे ७२ वर्ष तकका दीर्घ जीवन केवल लोक कल्याणके हितार्थ व्यतीत हुआ था। इस उपदेशका परिणाम यह निकला था कि (१) जाति-पांतिका जरा भी भेद रक्खे बिना जनता हरएक मनुष्यको—चाहे वह शूद्र अथवा चोर

१-चंभम० पृ० १७३। २-भम० पृ० २७१।

म्लेच्छ हो–धर्मसाधन करने देनेका पाठ सीख गई ! उसे विश्वास होगया कि 'श्रेष्ठताका आधार जन्म नहीं बल्कि गुण हैं, और गुणोंमें भी पवित्र जीवनकी महत्ता स्थापित करना।' (२) पुरुषोंके ही समान स्त्रियोंके विकासके लिये भी विद्या और आचार मार्गके द्वार खुल गये थे। जनता महिला–महिमासे भली भांति परिचित होगई थी। (३) भगवानके दिव्य उपदेशका संकलन लोकभाषा अर्थात् अर्धमागधी प्राकृतमें हुआ था; जिससे सामान्य जनतामें तत्वज्ञानकी बढ़वारी और विश्वप्रेमकी पुण्य भावनाका उद्गम हुआ था। (४) ऐहिक और पारलौकिक सुखके लिये होनेवाले यज्ञ आदि कर्मकांडोंकी अपेक्षा संयम तथा तपस्याके स्वावलम्बी तथा पुरुषार्थ-प्रधान मार्गकी महत्ता स्थापित होगई थी' और जनता अहिंसाधर्मसे प्रीति करने लगी थी; (५) और 'त्याग एवं तपस्याके नामरूप शिथिलाचारके स्थानपर सच्चे त्याग और सच्चे तपस्याकी प्रतिष्ठा करके भोगकी जगह योगके महत्वका वायुमंडल चारों ओर उत्पन्न होगया था।'[१]

इस विशिष्ट वायुमंडलमें रहती हुई जनता 'अनेकान्त' और 'स्याद्वाद' सिद्धान्तको पाकर साम्प्रदायिक द्वेष और मतभेदको बहुत कुछ भूल गई थी। ऐसे ही और भी अनेक सुयोग्य सुधार उस-समय साधारण जनतामें होगये थे। जनता आनन्दमग्न थी !

भगवानका विहार और धर्मप्रचार।

भगवान महावीरने जृम्भक ग्रामके निकटसे अपना दिव्योपदेश प्रारंभ किया था और फिर समग्र आर्यखंडमें उनका धर्मप्रचार और विहार हुआ था। सर्व

१–संयम० पृ० १७७–१७८।

[प्रथम उनका शुभागमन मगधमें राजगृहके निकट विपुलाचल पर्वत-पर हुआ था। यहांपर सम्राट् श्रेणिक और उनके अन्य पुत्रोंने भगवानकी विशेष भक्ति की थी। यहांपर भगवानका आगमन कई दफे हुआ था। राजगृहमें अभिनवश्रेष्ठीने उनका विशेष आदर किया था[1]। अर्जुन नामक एक माली भी यहां भगवानकी शरणमें आया था[2]। अर्जुन अपनी पत्नीके दुश्चरित्रसे बड़ा क्रुद्ध होगया था और उसने कई एक मनुष्योंके प्राण भी लेलिये थे; किन्तु भगवान महावीरजीके उपदेशको सुनकर वह बिलकुल शांत होगया और साधु दशामें उसने समताभावसे अनेक उपसर्ग सहे थे; यह श्वेतांबर शास्त्र प्रगट करते हैं। जिस समय राजा श्रेणिक वीर प्रभूकी वंदनाके लिये समस्त पुरवासियों समेत जारहे थे, उस समय एक मैंढक उनके हाथीके पैरसे दबकर प्राणांत कर गया था। दिगम्बर शास्त्र कहते हैं कि वह वीर प्रभूकी भक्तिके प्रभावसे मरकर देव हुआ था[3]।

कौशलमें वीर प्रभूका प्रभाव।

राजगृहसे भगवान श्रावस्ती गये थे। यह आजीविक संप्रदायका मुख्य केन्द्र था, किन्तु तौभी भगवानका यहांपर भी काफी प्रभाव पड़ा था। उस समय यहांपर राजा प्रसेनजित अथवा अग्निदत्त राज्य करते थे। उन्होंने भगवानका स्वागत किया था। जैनोंकी मान्यता उनके निकट थी[4] और उनकी रानी मल्लिकाने एक सभागृह बनवाया था; जिसमें ब्राह्मण, जैनी आदि परस्पर तत्त्वचर्चा किया करते थे[5]।

१-डिजैबा० पृ० १६। २-अंतगतदसाओ, डिजैबा० पृ० ९६। ३-आक० भा० ३ पृ० २८८-२९३। ४-लावबु० पृ० ११६। ५-लावबु०, पृ० १०९।

यह इक्ष्वाकुवंशी क्षत्री थे। प्रसेनजितका पुत्र विदुरथ था और इसके साथ ही इस वंशका अन्त होगया था। कौशल उस समय मगधके आधीन था। श्रावस्तीसे भगवानने कौशलके वैषष्ठी आदि नगरोंमें विहार करके ज्ञानामृतकी वर्षा की थी। और इस प्रकार हिमालयकी तलहटीतक वे दिव्यध्वनिको प्रध्वनित करते विचरे थे[1]।

मिथिला, वैशाली, व चंपा आदिमें जिनेन्द्र देवका धर्मघोष।

मिथिलामें भगवानने अपने सदुपदेशसे जनताको कृतार्थ किया था[2]। वैशालीमें उनका शुभागमन कई-बार हुआ था। राजा चेटक आदि प्रधान पुरुष उनकी भक्ति और विनय करनेमें अग्रसर रहे थे। वहां आनंद नामक श्रेष्टी और उसकी पत्नी शिवनंदा गृहस्थ धर्म पालनेमें प्रसिद्ध थे। इनने महावीरजीके सन्निकट श्रावकके बारहव्रत ग्रहण किये थे[3]। पोलाशपुरमें भगवानका स्वागत राजा विजयसेनने बड़े आदरसे किया था। ऐमत्ता नामक उनका पुत्र भगवानके चरणोंमें मुनि हुआ था[4]। अंगदेशके अधिपति कुणिकने भी चंपामें भगवानके शुभागमनपर अपने अहोभाग्य समझे थे। और वह भगवानके साथ२ कौशांबीतक गया था[5]।

सेठ सुदर्शन।

चम्पाके राजा दधिवाहन, श्वेतवाहन, अथवा धाड़ीवाहन, जो विमलवाहन मुनिराजके निकट पहले ही मुनि होगये थे, भगवान महावीरके संघमें संमिलित हुये थे। इनकी अभया नामक रानीने चम्पाके प्रसिद्ध राजसेठ सुदर्शनको मिथ्या दोष लगाया था। किन्तु सुदर्शन निर्दोष

१–भम० पृ० १०८। २–हॉजै० पृ० ३९...। ३–उद० १–९० और हिजैबा० पृ० ७५। ४–हिजैबा० पृ० २७। ५–भम० पृ० १०८।

सिद्ध हुये थे।* अन्ततः सुदर्शन सेठके साथ ही यह राजा भी जैन मुनि हुये थे। सुदर्शन सेठ अपने शीलधर्मके लिये बहु प्रख्यात हैं। इन्होंने मुक्तिलाभ किया था। राजा दधिवाहन मुनि दशामें जब वीर संघमें शामिल होगये, तब एकदा वह विपुलाचल पर्वत पर समोशरणके बाहरी परकोटेमें ध्यानमग्न थे। उस समय लोगोंके मुखसे यह सुनकर उनके परिणाम क्रुद्ध होचले थे। और उनके कारण उनकी आकृति बिगड़ी दिखाई पड़ती थी, कि उनके मंत्रिमंडलने उनके बालपुत्रको धोखा दिया है। श्रेणिक महाराजने वीर प्रभूसे यह हाल जानकर उनको सन्मार्ग सुझाया था और इसके बाद शीघ्र ही वह मुक्त हुए थे[२]। इस घटनाके बाद ही शायद मगधका आधिपत्य अंगदेश पर होगया था। चम्पामें जैनोंका 'पुण्यभद्द' (पुण्यभद्र) चैत्य (मंदिर) प्रसिद्ध था। यहांपर एक प्रसिद्ध सेठ कामदेवने भगवानसे श्रावकके बारह व्रत ग्रहण किये थे[३]।

बनारसमें भगवान महावीर। इसी विहारके मध्य एक समय भगवान महावीरजीका समोशरण बनारस पहुंचा था। वहांपर राजा जितशत्रुने उनका विशेष आदर किया था। यहांपर चूलनीपिया और सुरादेव नामक गृहस्थोंने अपनी अपनी पत्नियों सहित श्रावकके व्रत ग्रहण किये थे[४]। यहांके जितारि नामक राजाकी पुत्री मुण्डिकाको वृषभश्री आर्यिकाने जैनी बनाया था।

* राजा दधिवाहनका समय भ० महावीरके लगभग होनेके कारण ही सुदर्शन सेठको उनका समकालीन लिखा है।

१-सुदर्शनचरित, पृ० १-१०५ व डिजैब० पृ० २। २-उपु० पृ० ६९९। ३-उद० अध्या० २। ४-उद० अध्या० ३। ५-सकों० पृ० ५४।

बनारससे अन्यत्र विहार करते हुए वे कलिंगदेशमें पहुंचे थे[१]। वहांपर राजा सिद्धार्थके बहनोई जितशत्रुने भगवानका खूब स्वागत किया था और अन्तमें वह दिगम्बर मुनि हो मोक्ष गये थे[२]। उस ओरके पुण्ड्र, बंग, ताम्रलिप्ति[३] आदि देशोंमें विहार करते हुए भगवान कौशांबी पहुंचे थे। कौशांबीके नृप शतानीकने भगवानके उपदेशको विशेष भाव और ध्यानसे सुना था, भगवानकी वंदना उपासना बड़ी विनयसे की थी और अन्तमें वह भगवानके संघमें संमिलित होगया था[४]। उनका पुत्र उदयन् वत्सराज राज्याधिकारी हुआ था।

वीर समोशरण कलिङ्ग व बङ्ग आदिमें।

इस प्रकार राजगृह, कौशांबी आदिकी ओर धर्मचक्रकी प्रगति विशेष रूपसे हुई थी। बौद्ध शास्त्र कहते हैं कि उस समय भगवान महावीर मगध व अंग आदि देशोंमें खूब ही तत्त्वज्ञानकी उन्नति कर रहे थे[५]।

मगध आदिमें धर्म प्रचार।

एकदा विहार करते हुए भगवानका समोशरण पाञ्चालदेशकी राजधानी और पूर्व तीर्थंकर श्री विमलनाथजीके चार कल्याणकोंके पवित्र स्थान कांपिल्यमें पहुंचा था और वहां फिर एकवार धर्मकी[६] अमोघवर्षा होने लगी थी। उस समय कुन्दकोलिय नामक एक शास्त्रज्ञ और धर्मात्मा श्रावक यहांपर था। यहीं पड़ोसमें संकाश्य (संकसा) ग्राम भी विशेष प्रख्यात् था। भगवान विमलनाथजीका केवलज्ञान स्थान संभवतः वही 'अघहतिया' (अघहतग्राम) में था। वहांपर आज

पाञ्चालमें भगवानका प्रचार।

१-हरि० पृ० १८। २-हरि० पृ० ६२३। ३-वीर वर्ष ३ पृ० ३००। ४-भम० पृ० १०८ व उप्र० पृ० ६३४। ५-मनि० भा० १ पृ० २। ६-उद० व्या० ६।

भी जैनोंकी प्राचीन कीर्तियां विशेष मिलती हैं। बौद्ध और जैनोंमें इस स्थानकी मालिकी पर पहिले झगड़ा भी हुआ था* । उस समयके लगभग कांपिल्यके राजा द्विमुख अथवा जय प्रख्यात् थे। उनके पास एक ऐसा ताज था कि उसको सिरपर धारण करनेसे राजाके दो मुख दृष्टि पड़ते थे! इस ताजको उज्जैनके राजा प्रद्योतने मांगा था। जयने इसके बदलेमें प्रद्योतसे नलगिरि हाथी, रथ, व रानी और लोहजंघ लेखक चाहा था। हठात् दोनों राजाओंमें युद्ध छिड़ा; जिसका अन्त पारस्परिक प्रेममें हुआ था। प्रद्योतने मदनमंजरी नामक एक कन्या जय राजासे ग्रहण की थी और वह उज्जैनको वापस चला गया था। राजा जय जैन मुनि हुये थे। श्वेताम्बर शास्त्रोंमें उनको प्रत्येकबुद्ध लिखा है।[१]

उत्तर मथुरामें भगवानका शुभागमन।

कांपिल्यसे अगाड़ी बढ़कर भगवानका समोशरण उस समयकी एक प्रख्यात नगरी सौरदेशकी राजधानी उत्तर मथुरामें पहुंचा था। उस समय भी वहांपर जैनधर्मकी गति थी। तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथजीके समयका बना हुआ एक सुन्दर स्तूप और चैत्यमंदिर वहां मौजूद था। भगवानके धर्मोपदेशसे वहां 'सत्य' खूब प्रकाशमान् हुआ था। जैन शास्त्र कहते हैं कि उस समय मथुरामें पद्मोदय राजाके पुत्र उदितोदय राज्याधिकारी थे[२]। बौद्धशास्त्रोंमें यहांके नृपको "अवन्तिपुत्र" लिखा है[३]। संभव है कि दोनों राजकुलोंमें परस्पर सम्बंध हो। उदितोदयका राजसेठ अर्हद्दास अपने सम्यक्त्वके लिये

* वीर वर्ष १ पृ० ३३६। १-हिटे० पृ० १४०। २-सक्कौ० पृ० ४। ३-कैहिइ०, पृ० १८५।

प्रख्यात था। उसीके संसर्गसे राजाको भी जैनधर्ममें प्रतीत हुई थी। अर्हदास सेठने भगवान महावीरजीके निकटसे व्रत नियम ग्रहण किये थे[१]। उत्तर मथुराके समान ही दक्षिण मथुरामें भी जैनधर्मका अस्तित्व उस समय विद्यमान था। भगवानके निर्वाणोपरांत यहांपर गुप्ताचार्यके आधीन एक बड़ा जैनसंघ होनेका उल्लेख मिलता है[३]।

दक्षिण भारतमें वीर प्रभू।

भगवान महावीरजीका विहार दक्षिण भारतमें भी हुआ था। कांचीपुरका राजा वसुपाल था और वह संभवतः भगवानका भक्त था। (आर्क० भा० ३ पृ० १८१) जिस समय भगवान हेमांगदेशमें पहुंचे थे, उस समय राजा सत्यंधरके पुत्र जीवंधर राज्याधिकारी थे। हेमांगदेश आजकलका मईसूर (Mysore) प्रांतवर्ती देश अनुमान किया गया है; क्योंकि यहींपर सोनेकी खाने हैं, मलय पर्वतवर्ती वन है और समुद्र निकट है। हेमांगदेशके विषयमें यह सब बातें विशेषण रूपमें लिखीं हैं। हेमांग देशकी राजधानी राजपुर थी; जिसके निकट 'सुरमलय' नामक उद्यान था। भगवानका समोशरण इसी उद्यानमें अवतरित हुआ था। राजा जीवंधर भगवान महावीरको अपनी राजधानीमें पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ था। अन्तमें वह अपने पुत्रको राजा बनाकर मुनि होगया था। मुनि होकर वह वीर संघके साथ रहा था। जब वीरसंघ विहार करता हुआ उत्तरापथकी ओर पहुंचा था, तब जीवंधर मुनिराजने अग्रह केवलीरूपमें राजगृहके विपुलाचल पर्वतसे

१-प्रकौ० पृ० ६। २-वीर वर्ष ३ पृ० ३५४। ३-आर्क० भा० १ पृ० ९३।

ठीक उस समय निर्वाणलाभ किया था, जिस समय भगवान महावीर पावामें मुक्त हुए थे। जैनशास्त्रोंमें इन्हें एक बड़ा प्रतापी राजा लिखा है। इनने दक्षिणके पल्लव आदि देशोंके राजाओं एवं उत्तरापथके राजाओंसे भी युद्ध किया था। (उपु० पृ० ६९१-६९७) जैन कवियोंने इनके विषयमें अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। दक्षिण भारतमें विचरते हुए भगवानका समोशरण उज्जैनके निकट स्थित सुरम्य देशकी पोदनपुर नामक राजधानीमें पहुंचा था। उस समय यहांका राजा विद्रदाज जैनधर्म भक्त था।[1]

राजपूतानामें श्रीमहावीरका विहार।

पोदनपुरसे वीर प्रभूका समोशरण मालवा और राजपूतानाकी ओर आया था। जयपुर राज्यान्तर्गत महावीर (पटौदा) स्थान भगवानकी पुनीति पावन स्मृतिका वहां आज भी प्रगट चिन्ह है। उज्जैनमें उस समय राजा चन्द्रप्रद्योत राज्याधिकारी थे और वह जैनधर्मके प्रेमी थे।[2] उनने कालसंदीव नामक उपाध्यायसे म्लेच्छ भाषा सीखी थी। कालसंदीव जैन मुनि हुए थे और अपने शिष्य स्वेतसंदीव सहित वीरसंघमें संमिलित होगये थे। (आक० भा० ३ पृ० ११०) भगवान महावीरके निर्वाण समय चन्द्रप्रद्योतका पुत्र "पालक" राज्य सिंहासनपर बैठा था। राजा प्रद्योतन जैन मुनि होगये थे। उज्जैनके समीपमें ही दशार्ण देश था। इस समय वहांके राजा दशरथ भगवानके निकट सम्बन्धी थे; यह पहिले लिखा जाचुका है। उनके राज्यके निकट जब वीरप्रभु पहुंचे थे, तो यह सम्भव नहीं कि

१-जैप्र० पृ० २२१। २-आक० भा० ३ पृ० ५। ३-हरि० पृ० १२ (भूमिका)।

जैनधर्मके प्रेमी यह राजा भगवानका विशेष स्वागत करनेमें पीछे रहे हों।[1] उससमय मेवाड़ प्रांतमें स्थित मज्झिमिका नगरी भी बहु प्रख्यात् थी। वीर निर्वाण संवत् ८४ के एक शिलालेखमें इस नगरीका उल्लेख है;[1] उससे प्रगट होता है कि भगवान महावीरजीका आदर इस नगरके निवासियोंमें खूब था। सारांशतः जैनधर्मकी गति इस प्रांतमें अत्यन्त प्राचीनकालसे है। उज्जैन तो जैनोंका मुख्य ही केन्द्र था।

गुजरात और ससुदेशमें वीर प्रभूका पवित्र विहार।

राजपूतानेकी तरह गुजरातमें भी जैनधर्मका अस्तित्व प्राचीन कालसे है। भगवान महावीरजीका समोशरण दक्षिण प्रांतकी ओर होता हुआ यहां भी अवश्य पहुंचा था; इस व्याख्याको पुष्ट करनेवाले उल्लेख मिलते हैं। बावीसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथजीका निर्वाणस्थान इसी प्रांतमें है। गिरिनगर (जूनागढ़) के राजा जैन थे, यह जैन शास्त्रोंसे प्रगट है[2]। कच्छदेश और सिन्धुसौवीरके राजा उदायन जैनधर्मके परमभक्त थे; यह पहले लिखा जा चुका है। उनकी राजधानी रोरुकनगरमें भगवानका समोशरण पहुंचा था। रोरुक उस समय एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। लाटदेशमें उससमय जैनधर्मका खूब प्रचार था। भृगुकच्छमें राजा वसुपाल थे। यहां

१–राइ० भा० १ पृ० ३५८–स्वयं मध्यमिकासे प्राप्त वि० सं० पूर्वकी तीसरी शताब्दिके आसपासकी लिपिमें अंकित लेखोंमेंसे एकमें पढ़ा गया है कि "सर्व भूतों (जीवों)की दयाके निमित्त......बनवाया।" यह उल्लेख स्पष्टतः जैनोंसे सम्बन्ध रखता हैं, बौद्धोंसे नहीं। क्योंकि बौद्धोंने सब भूतों (पृथ्वी जलादि)में जीव नहीं माना है। देखो कैहिइ० पृ० १६१। २–हरि० पृ० ४९६। ३–कैहिइ० पृ० २१२।

जैनधर्मकी महिमा अधिक थी। (आक० भा० २ पृ० ४४)

सिंधुदेशमें विहार और धर्मप्रचार करते हुये भगवानका शुभागमन पंजाब और काश्मीरमें भी हुआ था। गांधारदेशकी राजधानी तक्षशिलामें भगवानका समोशरण खूब ही शोभा पाता था। आज भी वहांपर कई भग्न जैन स्तूप मौजूद हैं। (तक्ष०, पृ० ७२) वहीं निकटमें कोटेरा ग्रामके पास भगवानके शुभागमनको सूचित करनेवाला एक ध्वंश जैनमंदिर अब भी विद्यमान है[1]। जैनधर्मकी बाहुल्यता यहां खूब होगई थी। यही कारण है कि सिकन्दर महानको यहांपर दिगंबर जैन मुनि एक बड़ी संख्यामें मिले थे।

पंजाब और काश्मीरमें वीर-सन्देशका प्रतिघोष।

फलतः भगवान महावीरजीका विहार समग्र भारतमें हुआ था। ई०से पूर्व चौथी शताब्दीमें जैन धर्म लंकामें भी पहुंच गया था।[2] अतएव इस समयसे पहिले जैनधर्म दक्षिण भारतमें आ गया था, यह प्रगट होता है। जैनशास्त्र कहते हैं कि भगवान महावीरका समोशरण दक्षिण प्रान्तके विविध स्थानोंमें पहुंचा था। आज भी कितने ही अतिशयक्षेत्र इस व्याख्याका प्रकट समर्थन करते हैं।

समग्र भारतमें वीरप्रभूका धर्मचक्र प्रवर्तन।

श्री जिनसेनाचार्यजीके कथनसे भगवानका समग्र भारत किंवा अन्य आर्य देशोंमें विहार करना प्रगट है। वह लिखते हैं कि "जिसप्रकार भव्यवत्सल भगवान ऋषभदेवने पहिले अनेक देशोंमें विहार कर उन्हें धर्मात्मा बनाया था, उसीप्रकार भगवान महावीरने भी मध्यके (काशी, कौशल, कौशल्य, कुसंध्य, अश्वष्ट, साल्व, त्रिगर्त

१-कजाइ० पृ० ६८२-६८३। २-लाम० पृ० ३०।

पांचाल, भद्रकार, पाटचर, मौक, मत्स्य, कनीय, सौरसेन एवं वृकार्थक) समुद्रतटके (कलिंग, कुरुजांगल, कैकेय, आत्रेय, कांबोज, वाल्हीक, यवनश्रुति, सिंधु, गांधार, सौवीर, सूरभीरु, दशेरुक, वाडवान, भारद्वाज और क्वाथतोय) और उत्तर दिशाके (तार्ण, कार्ण, प्रच्छाल आदि) देशोंमें विहारकर उन्हें धर्मकी ओर ऋजु किया था।"[1]

श्वेताम्बर शास्त्रोंमें चातुर्मास वर्णन।

श्वेताम्बराम्नायके 'कल्पसूत्र' ग्रंथमें भगवानके विहारका उल्लेख चातुर्मासोंके रूपमें किया है। वहां लिखा है कि चार चतुर्मास तो भगवानने वैशाली और वणियग्राममें विताए थे; चौदह राजगृह और नालन्दाके निकटवर्तमें, छै मिथिलामें; दो भद्रिकामें; एक अलभीकमें; एक पाण्डभूमिमें; एक श्रावस्तीमें और अंतिम पावापुरमें पूर्ण किया था। किन्तु दिगम्बराम्नायके शास्त्र इस कथनसे सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि एक सर्वज्ञ तीर्थंकरके लिये 'चतुर्मास' नियमको पालन करना आवश्यक नहीं है। उधर श्वेताम्बर शास्त्रोंमें परस्पर इस वर्णनमें मतभेद है।

भगवान महावीरजीका सुखदविहार और विदेशोंमें धर्मप्रचार।

उपरोक्त वर्णनसे शायद यह ख्याल हो कि भगवानका विहार केवल भारतवर्षमें हुआ था; किन्तु यह मानना ठीक नहीं होगा। जैन शास्त्र स्पष्ट कहते हैं कि भगवानका विहार और धर्मप्रचार समस्त आर्यखंडमें हुआ था। भरतक्षेत्रके अन्तर्गत आर्यखंडका जो विस्तृत क्षेत्रफल जैन शास्त्रोंमें बतलाया गया है, उसको देखते हुये वर्तमानका उपलब्ध जगत उसीके अन्तर्गत सिद्ध

1-हरि० पृ० १८।

होता है[1]। श्रवणबेलगोलाके मान्य पंडिताचार्य श्री चारुकीर्तिजी महाराज एवं स्व० पं० गोपालदासजी बरैया प्रभृति विद्वान् भी इस ही मतका पोषण कर चुके हैं। उक्त पंडिताचार्य महाराजका तो कहना था कि दक्षिण भारतमें करीब एक या डेढ़ हजार वर्ष पहिले बहुतसे जैनी अरबदेशसे आकर बसे थे[2]। अब यदि वहांपर जैन धर्मका प्रचार न हुआ होता तो वहांपर जैनियोंका एक बड़ी संख्यामें होना असंभव था। श्री जिनसेनाचार्यजी महाराजने जिन देशोंमें भगवानका विहार हुआ लिखा है, उनमेंसे यवनश्रुति[3], क्वाथतोय[4], सुरभीरु[5], तार्ण, कार्ण आदि देश अवश्य ही भारतके बाहर स्थित प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन ग्रीक (यूनानी) विद्वान् भगवान महावीरजीके समयके लगभग जैन मुनियोंका अस्तित्व बैक्ट्रिया और अबीसिनियामें बतलाते हैं[6]। विलफर्ड सा०ने 'शंकर प्रादुर्भव'

१-भपा०, पृ० १५६। २-ऐरि०, भा० ९ पृ० २८३। ३-यवन श्रुति पारस्य अथवा यूनानका बोधक प्रतीत होता है। ४-क्वाथतोय अर्थात् उस समुद्र तटका देश जिसका जल क्वाथके समान था। अतः इस प्रदेशका 'रेडसी' (Red Sea) के निकट होना उचित है। उस समुद्रके किनारे वाले देशों जैसे अबीसिनिया, अरब आदिमें जैन धर्मका अस्तित्व मिलता है। देखो लाम० पृ० १८-१९ व भपा० पृ० १७३-२०२। ५-सूरभीरु देश संभवतः 'सुरभि' नामक देशका बोधक है, जो मध्य ऐशियामें क्षीरसागर (.Caspian Sea) के निकट अक्षस (Oxus) नदीसे उत्तरकी ओर स्थित था। यह आज कलके खीव (Khiva) प्रान्तका खनत अथवा खरिस्म प्रदेश है। देखो इहिका० भा० २ पृ० २९। ६-एइमे० पृ० १०४ "Sarmanaeans were the philosopers of the Baktrians." व मंपा० पृ० १०१ (श्रमण जैन मुनिको कहते हैं)।

नामक वैदिक ग्रन्थके आधारसे जैनोंका उल्लेख किया है[१]। उसमें भगवान पार्श्वनाथ और महावीरजी इन अंतिम दो तीर्थंकरोंका उल्लेख 'जिन' 'अर्हन्' अथवा 'महिमन्' (महामान्य) रूपमें हुआ है[२]। उक्त सा०ने लिखा है कि 'अर्हन्' ने चारों ओर विहार किया था और उनके चरणचिह्न दूर दूर देशोंमें मिलते हैं। लंका, श्याम, आदिमें इन चरणचिन्होंकी पूजा भी होती है। पारस्य, सिरिया (Syria) और ऐशिया मध्यमें 'महिमन्' (महामान्य=महावीरजी) के स्मारक मिलते हैं। मिश्रमें 'मेमनन' (Memnon) की प्रसिद्ध मूर्ति 'महिमन्' (महामान्य) की पवित्र स्मृति और आदरके लिये निर्मित हुई थी।[३] अतः इन उल्लेखोंसे भी भगवान महावीरका भारतेतर देशोंमें विहार और धर्म प्रचार करना सिद्ध है। जैन शास्त्रोंमें कितने ही विदेशी पुरुषोंका वर्णन मिलता है, जिन्होंने जैनधर्म धारण किया था। आर्द्रक नामक यवन अथवा पारस्यदेश-वासी राजकुमारका उल्लेख ऊपर होचुका है। उसी तरह यूनानी लोगों (योद्धाओं) का भगवान महावीरजीका भक्त होना प्रकट है। फणिक अथवा पणिक (Phonecia) देशके प्रसिद्ध व्यापारियोंमें जैनधर्मकी प्रवृत्ति होनेके चिह्न मिलते हैं।[४] भगवानका समोशरण जिस समय वहां पहुंचा था, उस समय एक 'पणिक' व्यापारी उनके दर्शनोंको गया था। भगवानका उपदेश सुनकर वह प्रति-बुद्ध हुआ था और जैन मुनि होकर वीर संघके साथ भारत आया था। जिस समय वह गंगानदीको नावपर बैठे हुये पार कर रहा

१—ऐरि० भा० ३, पृ० १९३–१९४। २—भपा० पृ० ९७–९९। ३—ऐरि० भा० ३, १९६–१९९। ४—भपा० पृ० २०१–२०२।

था, उसी समय बड़े जोरोंका आंधी–पानी आया था और नांवके डूबते २ उनने अपने ध्यानबलसे केवलज्ञान विभूतिको प्राप्त करके मोक्ष सुख पाया था। इनके अतिरिक्त भगवानके भक्त विद्याधर लोग अवश्य ही विदेशोंके निवासी थे। अतः यह स्पष्ट है कि भगवान महावीरजीका उपदेश संपूर्ण आर्यखण्डमें हुआ था, जो वर्तमानकी उपलब्ध दुनियासे कहीं ज्यादा विस्तृत है।

भगवान महावीरका उपदेश अर्थात् जैनधर्म।

ज्ञातृपुत्र महावीरने ठीक तीस वर्षतक चारोंओर विहार करके पतितपावन सत्यधर्मका संदेश फैलाया था। सत्य सदासे है और वैसा ही रहेगा। भगवान महावीरने भी उसी सनातन सत्यका प्रतिपादन अपने समयके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुसार किया था। उन्होंने स्पष्ट प्रकट कर दिया था कि केवल थोथे क्रियाकाण्ड-द्वारा अथवा वनवासी जीवनमें मात्र ज्ञानका आराधन करके कोई भी सच्चे सुखको नहीं पासक्ता है। और यह प्राकृत सिद्धान्त है कि प्रत्येक प्राणी सुखका भूखा है। सांसारिक भोगोपभोगकी सलौनी सामग्रीको भोगते चले जाइए किन्तु तृप्ति नहीं होती है। वासना और तृष्णा शान्त नहीं होती, मनुष्य अतृप्त और दुखी ही रहता है। फलतः भोगोपभोगकी सामग्री द्वारा सच्चा सुख पालेना असंभव है। उसको पालेनेके लिये त्यागमय जीवन अथवा निर्वृत्तिमार्गका अनुसरण करना आवश्यक है। भगवानने उच्च स्वरसे यही कहा कि सुख भोगसे नहीं योगसे मिल सक्ता है। वासनाका क्षय हुये बिना मनुष्यको पूर्ण और अक्षयसुख नहीं होसक्ता। त्यागमई

१–आक० भा० २ पृ० २४३।

सन्यास जीवनमें भी यदि वासना-तृप्तिके साधन जुटाये रक्खे जांये और केवलज्ञानकी आराधनासे अविनाशी सुख पालेनेका प्रयत्न किया जाय तो उसमें असफलताका मिलना ही संभव है। त्यागी हुये-घर छोड़ा-स्त्री पुत्रसे नाता तोड़ा और फिर भी निर्लिप्तभावकी आड़ लेकर वासना वर्द्धन सामग्रीको इकट्ठा कर लिया, वासनाको तृप्त करनेका सामान जुटालिया, तो फिर वास्तविक सत्यमें विश्वास ही कहां रहा ? यह निश्चय ही शिथिल होगया कि भोगसे नहीं, योगसे पूर्ण और अक्षय सुख मिलता है। और यह हरकोई जानता है कि किसी कार्यको सफल बनानेके लिये तद्वत् विश्वास ही मूल कारण है। दृढ़ निश्चय अथवा अटल विश्वास फलका देनेवाला है।

भगवान महावीरने इन आवश्यक्ताओंको देखकर ही और उनका प्रत्यक्ष अनुभव पाकर 'सम्यग्दर्शन' अथवा यथार्थ श्रद्धाको सच्चे सुखके मार्गमें प्रमुख स्थान दिया था। किन्तु वह यह भी जानते थे कि जिस प्रकार कोरा कर्मकांड और निरा ज्ञान इच्छित फल पानेके लिये कार्यकारी नहीं है, उसी प्रकार मात्र श्रद्धानसे भी काम नहीं चल सक्ता। इसीलिये इन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका युगपत होना अक्षय और पूर्ण सुख पानेके लिये आवश्यक बतलाया था।

सम्यग्दर्शनको पाकर मनुष्योंको निवृत्ति मार्गमें दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न हुई थी। वह जान गये थे कि यह जगत अनादि निधन है। जीव और अजीवका लीला-क्षेत्र है। यह दोनों द्रव्य अकृत्रिम अनंत और अविनाशी हैं। अजीवने जीवको अपने प्रभावमें दबा रक्खा है। जीव शरीर बन्धनमें पड़ा हुआ है। वह इच्छाओं और

वासनाओंका गुलाम बन रहा है। ज्यों ज्यों वह भोगवासनाओंको तृप्त करनेका प्रयत्न करता है, वैसे ही इसके दुःख और कष्ट अधिक बढ़ते हैं। एक सूक्ष्म अजीव पदार्थ, जिसको 'कर्मवर्गणा' (Karmic Molecules) कहते हैं, उसके इस भोगप्रयासमें कषायोद्रेकसे आकर्षित होकर उसमें एक काल विशेषके लिये सम्बद्ध होजाता है और फिर अपना सुख दुख रूप फल दिखाकर वह अलग होता है। इस आगमन क्रियाको भगवानने 'आस्रव' तत्त्व बतलाया और बन्धन तथा रुकने व विलग होनेके प्रयोगको क्रमशः "बंध", "संवर" और "निर्जरा" तत्त्वके नामसे उल्लेख किया था। कर्मोंके आवागमनका यह तारतम्य उस समय तक बराबर जारी रहता है, जबतक कि जीवात्मा इच्छाओं और वासनाओंसे अपना पिंड छुड़ा नहीं लेता है।

जिस समय वह भोगके स्थानपर योगका महत्व समझ जाता है, उस समय उसका जीवन एक नये ढंगका होजाता है। पहले जहां वह भोगवार्ताओंको प्रमुखस्थान देता था, वहां अब वह पद पद पर संयमी जीवन बितानेकी कोशिश करता है। वह सच्चे सुखके सनातन मार्गपर आजाता है और क्रमशः इच्छाओं और वासनाओंका पूर्ण निरोध करके कर्मोंसे अपना पीछा छुड़ा लेता है। बस, वह मुक्त होजाता है और सदाके वास्ते पूर्ण एवं अक्षय सुखका भोक्ता बन जाता है।

लोग उसे पूर्णताका आदर्श मानकर उसकी उपासना और विनय करते हैं। वह जगतपुज्य बन जाता है। और सिद्ध-बुद्ध, सच्चिदानन्द परमात्मा कहलाता है। भगवान महावीरने इस सनातन मार्गका पूरा २ अनुसरण अपने जीवनमें किया था और

वह सफल हुये थे। त्रिलोक वंदनीय परमात्मा कहकर आज जगत उनको नमस्कार करता है।

इसप्रकार भगवान महावीरने मोक्षमार्गको निर्दिष्ट करते हुये मनुष्योंकी स्वाधीनताका पाठ पढ़ाया था। उन्होंने बतला दिया कि अपने आप पर विश्वास करो। और सच्ची श्रद्धाके साथ अपने आपका और अपने चहुंओरके पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करो। जिस समय मनुष्यको सच्चे ज्ञानका भान हो जायगा, वह कभी भी असद्प्रवृत्तिमें लीन नहीं होगा। भोगविलास उसे नीरस जंचेंगे और त्यागके कार्य बड़े मीठे और सुहावने। बस उसका चारित्र यथार्थ और निर्मल होगा। भगवान यह अच्छी तरह जानते थे कि मनुष्यमात्रके लिये यह संभव नहीं है कि वह उनके समान ही एकदम रसीली रमणी और राजसी भोगसामग्रीको पैरोंसे ठुकरा कर नीरसयोग और महान् त्यागके बीहड़ मगका पथचर बन जावे। और वह यह भी समझते थे कि गृहस्थजीवनमें निरे योगकी शिक्षासे भी काम नहीं चल सक्ता है। इसीलिये भगवानने दो प्रकारके धर्म मार्गका निरूपण किया था। पहला मार्ग तो उन निस्पृही साधुओंके लिये बतलाया था, जो उसी भवसे मोक्षसुख पानेके लालसी हों और दूसरा उसीका अपर्याप्तरूप गृहस्थोंके लिये निर्दिष्ट किया था। दोनों मार्गवालोंके लिये अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतोंका पालना आवश्यक बतलाया था। साधुलोग इन व्रतोंको पूर्णरूपसे पालते हैं; किन्तु एक गृहस्थ इनको एक देश अर्थात् आंशिकरूपमें व्यवहारमें लाता है।

एक मुनि प्रत्येक दशामें मन वचन काय पूर्वक पूर्ण अहिं-

सक रहेगा। वह अपनी क्षुधा और तृषाकी निवृत्तिके लिये अन्न-जल भी स्वतः ग्रहण नहीं करेगा। यथाजात नग्नरूपमें रहकर शेष व्रतोंका एवं अन्य नियमों और तप ध्यानका अभ्यास करेगा। किन्तु इसके प्रतिकूल एक गृहस्थ केवल जानबूझकर कषायके वश होकर किसीके प्राणोंको पीड़ा नहीं पहुंचायेगा। वह गृहस्थी जीवनको सुविधा पूर्वक व्यतीत करनेके लिये आजीविका भी करेगा—रोटी पानी भी लायगा और बनायेगा। अधर्मी और अत्याचारीके अन्यायका प्रतीकार करनेके लिये शस्त्र—प्रयोग भी करेगा। सारांशतः उसके लिये हर हालतमें पूर्ण अहिंसक रहना असंभव है। इसलिये ही वह इन व्रतोंको आंशिकरूपमें ही पाल सक्ता है; यद्यपि वह अपने बिसात पूर्ण अहिंसक बननेकी ही कोशिश करेगा। यही नहीं कि स्वयं जीवित रहे और अन्य प्राणियोंको जीवित रहने दे, किन्तु वह अन्य प्राणियोंको जीवित रहने देनेमें अपनी जान भरसक प्रयत्न करेगा, स्वयं स्वाधीन रहेगा और दूसरोंको भी स्वतंत्रताका सलौना स्वाद लेने देगा।

मतलब यह है कि वह संसारमें शांति और प्रेमका साम्राज्य फैलानेमें अग्रसर होगा। अहिंसाके साथ२ अन्य व्रतोंका भी यथाशक्ति अभ्यास करेगा। अपनी इच्छाओं और आवश्यक्ताओंको नियंत्रित और कमती करता हुआ, वह आत्मोन्नतिके मार्गमें अगाड़ी बढ़ जायगा और एक रोज अवश्य ही पूर्ण योगका अभ्यास करनेमें दत्तचित्त हुआ मिलेगा। इसका परिणाम यह होगा कि वह कर्मोंको परास्त कर विजय लाभ करेगा और पूर्ण सुखका अधिकारी बनेगा। उसके अभ्युत्थान और आनंदकी कुंजी उसकी मुट्ठीमें है

उसको संभाले और काममें ले। बस, आनंद ही आनंद है।

यह स्वावलम्बी जीवनका संदेश भगवान महावीरने उस समयके लोगोंको बताया था और इसको सुनकर उनमें नवस्फूर्ति और नवजीवनका संचार हुआ था। यही विजयमार्ग जैनधर्म है। इसमें कायरता और भीरुताको तनिक भी स्थान नहीं है। भगवानने स्पष्ट कहा था कि यदि तुम मेरे धर्ममें श्रद्धा लाना चाहते हो तो पहले निशङ्क होनेका अभ्यास करलो। यदि तुम निशङ्क नहीं हो, तो विजयमार्गपर तुम नहीं चल सक्के। जैनधर्म तुम्हारे लिये नहीं है। वह निशङ्क वीरोंका ही धर्म है।

भगवान महावीर और अवशेष तीर्थङ्कर।

भगवान महावीरका यह उपदेश जैनधर्मके पुरातन रूपरेखासे कुछ भी विरोध नहीं रखता था। ऐसा ही उपदेश महावीरजीसे पहले हुये तेईस तीर्थंकर एक दूसरेसे बिलकुल स्वाधीनरूप वैज्ञानिक ढंगपर अपने समयकी आवश्यक्तानुसार करते हैं। तीर्थंकर स्वयंबुद्ध होते हैं और वह सर्वज्ञ दशामें सत्य धर्मका प्ररूपण करते हैं। इसलिये उनके द्वारा प्रतिपादित धर्ममें परस्पर कुछ भी विरोध नहीं होता। वह मूलमें सर्वथा एक समान होता है और उनका विवेचित सैद्धांतिक अंश तो पूर्णतः कुछ भी परस्परमें विपरीतता नहीं रखता है। व्यवहार चारित्र सम्बन्धी नियमोंमें यह अवश्य है कि प्रत्येक तीर्थङ्कर अपने समयानुकूल उसको निर्दिष्ट करता है। इसी कारण जैन शास्त्रोंमें कहा गया है कि—"अजितसे लेकर पार्श्वनाथ पर्यंत बाईस तीर्थंकरोंने सामायिक संयमका और ऋषभदेव तथा महावीर भगवानने 'छेदोपस्थापना संयमका उपदेश दिया है।'

भाव यह है कि ऋषभदेव और महावीर भगवानने सामायिकादि पांच प्रकारके चारित्रका प्रतिपादन किया है, जिसमें छेदोपस्थापनाकी यहां प्रधानता है। शेष बाईस तीर्थंकरोंने केवल ही केवल सामायिक चारित्रका प्रतिपादन किया है। इस शासन भेदका कारण आचार्यने बतलाया है कि "पांच महाव्रतों (छेदोपस्थापना) का कथन इस बजहसे किया गया है कि इनके द्वारा सामायिकका दूसरोंको उपदेश देना, स्वयं अनुष्ठान करना, पृथक् २ रूपसे भावनामें लाना सुगम होजाता है। आदि तीर्थमें शिष्य मुश्किलसे शुद्ध किये जाते हैं; क्योंकि वे अतिशय सरल स्वभाव होते हैं। और अंतिम तीर्थमें शिष्यजन कठिनतासे निर्वाह करते हैं; क्योंकि वे अतिशय वक्र स्वभाव होते हैं। साथ ही इन दोनों समयोंके शिष्य स्पष्ट रूपसे योग्य अयोग्यको नहीं जानते हैं। इसलिये आदि और अन्तके तीर्थोंमें इस छेदोपस्थापनाके उपदेशकी जरूरत पैदा हुई है[२]।"

इसी प्रकार ऋषभ और महावीरजीके तीर्थके लोगोंके लिये अपराधके होने और न होनेकी अपेक्षा न करके प्रतिक्रमण करना अनिवार्य होता; किन्तु मध्यके बाईस तीर्थंकरोंका धर्म अपराधके होनेपर ही प्रतिक्रमणका विधान करता है[३]। इस तरह तीर्थंकरोंका यह शासनभेद द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुसार है और मूलभावमें परस्पर कुछ भी विरोध नहीं रखता। सब ही तीर्थंकरोंका महान् व्यक्तित्व और उनका धर्म प्रायः एक समान होता है।

१-मूला० ७-३२। २-मूला० ७।१२५-१२९ विशेषके लिये देखो जैन हितैषी भा० १२ अंक ७-८।

श्री ज्ञातृपुत्र महावीर और भगवान पार्श्वनाथ।

तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ भगवान महावीरजीसे ढाईसौ वर्ष पहिले हुये थे। उनका वैयक्तिक और पारस्परिक सम्बंध उपरोक्त उल्लेखके अतिरिक्त और कुछ भी अधिक दृष्टि नहीं पड़ता। किंतु श्वेतांबर शास्त्रोंमें उनके और महावीरजीके धर्ममें कुछ विशेष अन्तर बतलाया है। श्वेतांबर कहते हैं कि पार्श्वनाथजीने केवल चार व्रतोंका ही निरूपण किया था और उनके तीर्थके साधु सवस्त्र रहते थे। भगवान महावीरने उन चार व्रतोंमें गर्भित शीलव्रतको प्रथक्‌रूप देकर पांच व्रतोंका उपदेश दिया और उन्होंने साधु जीवनको कठिन तपस्यासे परिपूर्ण बनानेके लिये नग्नताका विधान किया था।[1] श्वेतांबरोंका यह कथन उनके विशेष प्रमाणिक और मूल आचारांगादि ग्रन्थोंमें नहीं है। और यह अन्यथा भी बाधित है।

बौद्ध ग्रन्थोंमें अवश्य भगवान महावीरको 'चातुर्याम संवर' से वेष्ठित बतलाया है[2] किन्तु वह श्वेतांबरोंके चार व्रतोंके समान नहीं है। वह ठीक वैसी ही चार क्रियायें हैं जैसी कि जैन साधुओंके लिये दि० जैन ग्रन्थोंमें मिलती हैं[3]। किन्तु हमारा अनुमान है कि उपरांत ईसवीकी छठीं शताब्दिमें जब श्वेतांबर ग्रन्थोंका संकलन हुआ था, तब बौद्ध ग्रन्थोंमें जैनोंके लिये 'चातुर्याम संवर' नियमका प्रयोग देखकर श्वेतांबरोंने उसका सम्बंध पार्श्वनाथजीसे बैठा दिया; क्योंकि यह तो विदित ही है कि श्वेतांबर आगम-

१–उसू० पृ० १६९–१७५। २–दीति० भा० १ पृ० ५७–५८।
३–भमबु० पृ० २२२–२२७।

ग्रन्थोंमें बहुत कुछ बौद्धोंके पिटकत्रयके ही समान और सम्भवतः उनका उद्धरण है।

डॉ० जैकोबीने भी बौद्धोंके उपर्युक्त चातुर्याम संवर नियमको भगवान पार्श्वनाथका चातुर्व्रत नियम प्रगट किया है। जैसे कि श्वेतांबर बतलाते हैं;[1] किन्तु उनकी यह मान्यता निराधार है[2]। अतएव यह उचित जंचता है कि भगवान पार्श्वनाथजी और महावीरजीके धर्मोंमें सामायिक और छेदोपस्थापना (पंच महाव्रत) रूप प्रधानताको पाकर, श्वेतांबरोंने पार्श्वनाथजीके धर्ममें चार व्रत और महावीर भगवानके धर्ममें पंचमहाव्रतोंका होना प्रगट कर दिया। वैसे यथार्थमें दोनों ही तीर्थंकरोंके धर्मोंमें व्रत पांच ही माने गये थे। यही हाल नग्नताके विषयमें है। भगवान पार्श्वनाथजीको अथवा उनके तीर्थके मुनियोंको वस्त्र धारण करते हुए बतलाना निराधार है।

बौद्ध ग्रन्थोंसे यह सिद्ध है कि पार्श्वनाथजीके तीर्थके साधु नग्न रहते थे[3]। और मुनि भेषका नग्न होना प्राकृत समुचित है; जैसे कि पहिले प्रगट किया जाचुका है और जिससे श्वेतांबर शास्त्र भी सहमत हैं। अतएव यह कहना कि भगवान महावीरने नग्नताका प्रचार किया, कुछ भी महत्व नहीं रखता। किन्हीं विद्वानोंका यह खयाल है कि पार्श्वनाथजीके धर्ममें तात्विक सिद्धांत पूर्णतः निर्दिष्ट नहीं थे[4]। किन्तु यह खयाल जैन मान्यताके विरुद्ध है। जैन स्पष्ट कहते हैं कि भगवान पार्श्वनाथके धर्ममें भी वैसे ही तत्त्व

१–Js. Pt., Intro. p. 23. २–भमबु० पृ० २२४।
३–भमबु० पृ० २३६–२३७। ४–हिप्रिइफि० पृ० ३९९......

और सिद्धांत थे, जैसे कि अन्य तीर्थंकरोंके धर्मोंमें थे[1] और जैनोंकी इस मान्यताको अब कई विद्वान् सत्य स्वीकार कर चुके हैं[2]।

श्री महावीर न जैनधर्मके संस्थापक थे और न जैन धर्म हिन्दू धर्मकी शाखा है।

किन्हीं विद्वानोंका यह मत है कि भगवान महावीरजी जैन धर्मके संस्थापक हैं और उन्होंने ही जैनधर्मका नींवारोपण वैदिक धर्मके विरोधमें किया था; किंतु उनका यह मत निर्मूल है। आजसे करीब दो हजार वर्ष पहलेके लोग भी भगवान ऋषभनाथजीकी विनय करते थे[3]। और उन लोगोंने अन्य तेईस तीर्थंकरोंकी मूर्तियां निर्मित की थी[4]। अब यदि जैनधर्मके संस्थापक भगवान महावीरजी माने जावें, तो कोई कारण नहीं दिखता कि इतने प्राचीन जमानेमें लोग भगवान ऋषभनाथको जैनधर्मका प्रमुख समझते और उनकी एवं उनके बाद हुये तीर्थंकरोंकी मूर्तियां बनाते और उपासना करते। जिसपर स्वयं वैदिक[5] एवं बौद्धग्रन्थोंमें[6] इस युगमें जैनधर्मके प्रथम प्रचारक श्री ऋषभदेव ही बताये गये हैं।

अथच जैनोंके सूक्ष्म सिद्धान्त, जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि आदिमें जीव बतलाना, अणु और परमाणुओंका अति प्राचीन पर मौलिक एवं पूर्ण वर्णन करना, आदर्श पूजा आदि ऐसे नियम हैं जो जैनधर्मका अस्तित्व एक बहुत ही प्राचीनकाल तकमें सिद्ध कर-

१—मपा० पृ० ३८५–३८८। २—डॉ० ग्लेसेनाथ (Dev Jainusmus). और डॉ० जार्लकॉर्पेन्टियर यह स्वीकार करते हैं (कैहिइ० पृ० १५४के उसू० भूमिका पृ० २१) ३—जैविओसो भा० ३ पृ० ४४७ व जैस्तू० पृ० २४...... ४—जैबिओजैस्मा० पृ० ८८–१००। ५—भागवत ४–५ व मपा० भूमिका। ६—मलशाख वीर वर्ष ४ पृ० ३५३।

नेको पर्याप्त हैं[1] । अतः उसकी स्थापना आजसे केवल ढाईहजार वर्ष पहले भगवान महावीरजी द्वारा हुई मानना बिलकुल निराधार है। यही बात उसे वैदिक धर्मके विरोधरूप प्रगट हुआ बतानेमें है। किसी भी वैदिकग्रंथमें यह लिखा हुआ नहीं मिलता कि जैनधर्मका निकास वैदिक धर्मसे हुआ था। प्रत्युत दोनों धर्मोंके सिद्धान्तोंकी परस्पर तुलना करनेसे जैनधर्मकी प्राचीनता वैदिक धर्मसे अधिक प्रमाणित होती है[2]। हिन्दुओंके 'भागवत'में ऋषभदेवजीको आठवां अवतार माना है[3] और बारहवें अवतार वामनका उल्लेख वेदोंमें है।

अतः ऋषभदेवजी, जोकि जैनोंके प्रथम तीर्थंकर हैं, का समय वेदोंसे भी पहले ठहरता है। ऋषभदेवजीको वृषभ और आदिनाथ भी कहते हैं। ऋग्वेद आदिमें वृषभ अथवा ऋषभ नामक महापुरुषका उल्लेख आया है[4]। यह ऋषभ अवश्य ही जैन तीर्थंकर होना चाहिये; क्योंकि हिन्दू पुराणकारोंके वर्णनसे यह स्पष्ट है कि हिन्दुओंको जिन ऋषभदेवका परिचय था, वह जैन तीर्थंकर थे। अतएव जैनधर्मको वैदिक धर्मकी शाखा कहना कुछ ठीक नहीं जंचता। कतिपय हिन्दू विद्वानोंका भी यही मत है[5]।

भगवान महावीरका निर्वाण।

इस प्रकार भगवान महावीरका सम्बन्ध अन्य तीर्थंकरों और धर्मोंसे देखकर हम अपने प्रकृत विषयपर आजाते हैं। पहिले लिखा जाचुका है कि भगवान महावीरका विहार समग्र आर्यखंडमें होगया था। भगवा-

१–विशेषके लिये 'भगवान पार्श्वनाथ' नामक हमारी पुस्तककी भूमिका देखिये। २–सजै० पृ० ७–८७. ३–भागवत ५। ४–५–६. अ०; हिवि० भा० ३ पृ० ४४४. ४–हिग्ली० पृ० ७५ व भपा० प्रस्तावना पृ० २०–२२. ५–वीर वर्ष ५ पृ० ३३५ व० भपा० प्रस्तावना पृ० ३२.

नने अपनी ४२ वर्षकी अवस्थासे यह धर्म प्रचार कार्यप्रारम्भ करके ७२ वर्षकी अवस्था तक बड़ी सफलतासे किया था। जिस समय भगवान ७२ वर्षके हुये, उस समय उन्हें निर्वाण लाभ हुआ था। जैन शास्त्र कहते हैं कि भगवान विहार करते हुये पावापुर नगरमें पहुंचे और वहांके 'मनोहर' नामक वनमें सरोवरके मध्य महामणियोंकी शिलापर विराजमान हुये थे।

पावानगर धन सम्पदामें भरपूर मल्लराजाओंकी राजधानी थी।[1] उस समय यहांके राजा हस्तिपाल थे और वह भगवान महावीरके शुभागमनकी बाट जोह रहे थे। अपने नगरमें त्रैलोक्य पूज्य प्रभूको पाकर वह बड़े प्रसन्न हुये और उनने खूब उत्सव मनाया। कहते हैं कि भगवानका यहां ही अन्तिम उपदेश हुआ था। अन्ततः "विहार छोड़कर अर्थात् योग निरोधकर निर्जराको बढ़ाते हुये वे दो दिन तक वहां विराजमान रहे और फिर कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीकी रात्रिके अंतिम समयमें स्वाति नक्षत्रमें तीसरे शुक्लध्यानमें तत्पर हुये। तदनन्तर तीनों योगोंको निरोधकर समुच्छिन्न क्रिया नामके चौथे शुक्लध्यानका आश्रय उन्होंने लिया और चारों अघातिया कर्मोंको नाश कर शरीर रहित केवल गुणरूप होकर सबके द्वारा वाञ्छनीय ऐसा मोक्षपद प्राप्त किया।"[2]

इस प्रकार मोक्षपद पाकर वे अनन्त सुखका उपभोग उसी क्षणसे करने लगे। इस समय भी इन्द्रों और देवोंने आनन्द उत्सव मनाया था। सारे संसारमें अलौकिक आनन्द छा गया था। अंधेरी रात थी, तो भी एक अपूर्व प्रकाश चहुं ओर फैल गया था।

१-उपु० पृ० ७४४ व मुनि० १०-८८, २-उपु० पृ० ७४४-७४५.

भगवानको निर्वाण लाभ हुआ सुनकर आसपासके प्रसिद्ध राजा लोग भी पावापुरके उद्यानमें पहुंचे थे और वहांपर दीपोत्सव मनाया था। 'कल्पसूत्र'में लिखा है कि "उस पवित्र दिवस जब पूज्यनीय श्रमण महावीर सर्व सांसारिक दुःखोंसे मुक्त होगए तो काशी और कौशलके १८ राजाओंने, ९ मल्लराजाओंने और ९ लिच्छिवि राजाओंने दीपोत्सव मनाया था। यह प्रोषधका दिन था और उन्होंने कहा—ज्ञानमय प्रकाश तो लुप्त होचुका है, आओ भौतिक प्रकाशसे जगतको दैदीप्यमान बनावें।"[1]

भगवान महावीरके पवित्र स्मारक।

भगवान महावीरजीका निर्वाण होगया। भारतमेंसे ज्ञानका साक्षात् प्रकाश विलुप्त होगया। तत्कालीन जनताने इस दिव्य अवसरकी पवित्र स्मृतिको चिरस्थाई बनानेमें कुछ उठा न रक्खा। उसने भगवानके निर्वाण-स्थानपर एक भव्य मंदिर और स्तूप भी बनाया था;[2] जहां आज भी भगवानके चरण-चिन्ह विराजमान हैं। साथ ही भक्तवत्सल प्रजाने एक राष्ट्रीय त्यौहार 'दीपोत्सव' अथवा दिवालीकी सृष्टि इन महापुरुषके पावन स्मारकरूप की थी।[3] इस त्यौहारको आज भी समस्त भारतीय पारस्परिक भेद-भावनाको भूलकर एक-मेक होजाते हैं और प्रेममई दिवाली मनाते हैं। इसके अतिरिक्त तत्कालीन जनताने भगवानके निर्वाणकालसे एक अब्द प्रारम्भ किया था; जैसे कि बार्लीग्रामसे प्राप्त और अजमेर अजायबघरमें रक्खे हुये वीर निर्वाण सं० ८४ के प्राचीन शिलालेखसे प्रगट है।[4] जनताकी

१–Js. I, d. 266. २–भम० पृ० १९० । ३–हरि० १९–१३ व २१–६६ । ४–भम० पृ० २४४–२४५ ।

अटल भक्ति इतनेमें ही समाप्त नहीं हुई थी। उसने भगवानके दिव्य संदेशको और उनके महान् व्यक्तित्वके महत्वको चहुंओर फैलानेके लिये इन बातोंको चित्रबद्ध (Pictographic) भाषामें प्रकट करनेवाले सिक्के ढाले थे[1]। किन्हीं विद्वानोंको संशय है कि सिक्कोंका सम्बन्ध शायद ही धार्मिक बातोंसे हो; किन्तु यह बात नहीं है। आज भी हम किन्हीं राजाओंके प्रचलित सिक्कोंपर त्रिशूल व गायका चिन्ह देखते हैं; जो उनकी साम्प्रदायिकता प्रकट करनेके लिये पर्याप्त हैं। प्राचीनकालके राजाओंके भी ऐसे सिक्के मिले हैं; जिनमें लक्ष्मी, त्रिशूल आदि धार्मिक और साम्प्रदायिक भेदको प्रकट करनेवाले चिन्ह हैं।[2] फिर उस समय शास्त्रार्थका चैलेञ्ज देनेके लिये अपनी मुद्रायें आदि रखनेका रिवाज था। इस दशामें उनपर साम्प्रदायिक चिन्ह होना अनिवार्य था।* और यह भी रिवाज उस समय था कि व्यापारी आदि लोग अपने निजी सिक्के ढालते थे;+ जिनपर उनके वंशगत मान्यताओंके चिह्न होना उचित ही हैं।

सचमुच भारतमें अज्ञात कालसे साम्प्रदायिक महत्व दिया जाता रहा है। जैन तीर्थंकरोंके चिन्ह खास मूर्तियोंसे भी अधिक महत्व रखते हैं[3] और उनमेंसे एकाध तो इतिहासातीतकालके पुरातत्त्वमें मिलते हैं।[4] ऐसी दशामें ऐसा कोई कारण नहीं, जिससे कहा जासके कि वीरप्रभुके उपदेशको प्रकट करनेवाले सिक्के नहीं ढले

१–भम० पृ० २४५–२४६ व वीर वर्ष ३ पृ० ४४२ व ४६७। २–भाप्रारा० भा० २–सिक्का नं० २५। * उद० ६। + रेपसन, इंडियन क्वायन्स, पृ० ३। ३–ईऐ० भा० ९ पृ० १३८। ४–प्री० हिस्टोरीकल इंडिया पृ० १९२–१९३।

थे। कितने ही उपलब्ध सिक्कोंसे, जो भगवानके समयसे लेकर आन्ध्रकालतकके हैं, भगवान महावीरजीके धर्मका सम्बन्ध प्रगट होता है। अतः इन सब बातोंको देखते हुये, यह अन्दाज सहज ही लगाया जासक्ता है कि भगवानके निर्वाण उपरान्त उनका आदर जनतामें विशेष था।

उपरान्तके ज्ञातृ अथवा नाथ क्षत्री।

इस प्रकार ज्ञातृवंश क्षत्रियोंका परिचय है। भारतीय इतिहासमें इनका महत्व किस विशिष्टको लिये हुये है, यह बताना वृथा है। किन्तु भगवान महावीरजीके उपरान्त इस वंशका और कुछ विशेष परिचय हमें नहीं मिलता है। हां, अब भी पूर्वीय भारतकी ओर एक नाथवंशका उल्लेख मिलता है। किंतु मालूम नहीं कि उनका संबंध किस वंशसे है।

---

(५)

श्री वीर-संघ और अन्य राजा।

(ई० पू० ५७४-५२०)

जैनधर्ममें "संघ" संस्थाकी प्राचीनता।

जिस समय इस कल्पकालके आरम्भमें भोगभूमिका अन्त होगया और लोगोंको जीवनके कर्तव्यपथ पर आरूढ़ होना पड़ा अर्थात् कर्मभूमिका प्रादुर्भाव हुआ, तो भगवान ऋषभदेवने तत्कालीन प्रजाको सभ्यताकी प्राथमिक शिक्षा दी थी। उसी समय गृहत्याग करके दिगम्बर भेषमें घोर तपश्चरण करनेके उपरान्त ऋषभदेवको केवलज्ञानकी विभूति प्राप्त हुई थी। और तब उन्होंने समस्त आर्यखंडमें जैन-

धर्मका प्रचार किया था। उनकी शरणमें अनेक भव्य प्राणी आये थे। कोई मुनि हुआ था, कोई उदासीन श्रावकके व्रत लेकर भगवानके साथ रहने लगा था और कोई मात्र असंयत सम्यग्दृष्टी होगया था। भारतीय महिलायें अपनी धार्मिकताके लिये प्रसिद्ध हैं। वह भी एक बड़ी संख्यामें भगवानकी शरणमें आकर आत्म-कल्याणके पथपर लगीं थीं। इसी समय भगवानके तीर्थमें प्रथम जैनसंघका नींवारोपण हुआ था। भगवान ऋषभदेवकी प्राचीनता इतिहासातीत कालमें है; जिसका पता लगाना कठिन है।

अतः जैनोंमें संघ व्यवस्था भी कुछ कम प्राचीन नहीं है।

श्री वीर अथवा महावीर संघमें चार अङ्ग थे।

उसके उद्भवका सहज पता पालेना एक कठिन कार्य है। तो भी भगवान ऋषभदेवके द्वारा उसका प्रथम संगठन हुआ था। उसके चार अंग थे; अर्थात् (१) मुनि, (२) आर्यिका, (३) श्रावक और (४) श्राविका। इस प्रकारकी संघव्यवस्था प्रत्येक तीर्थंकरके समवशरणमें रही थी और भगवान महावीरजीका संघ भी ऐसा ही था। वह 'वीर-संघ' अथवा 'महावीर-संघ' के नामसे प्रख्यात था। उसके भी चार अङ्ग थे। यद्यपि श्वेताम्बर आम्नायकी मान्यता ऐसी प्रगट होती है कि भगवानके संघमें केवल मुनि और आर्यिका साथ रहते थे। श्रावक-श्राविका तो वह धर्मवत्सल महानुभाव थे, जो घरमें रहकर धर्माराधन करते थे। (गिहिणो गिहिमज्झ वसन्ता)[२] किन्तु यह

१–संजैइ० तृतीय परिच्छेद। २–उद० २।११९ व दिजै० वर्ष २१ पृ० ३८ किन्तु उनके कल्पसूत्रमें वीर संघमें चारों अंग गिनाये गये हैं (Js. pt. I.) ऐसे ही श्री हेमचन्द्राचार्य भी प्रगट करते हैं। (निषसाद यथास्थानं सङ्घस्तत्रचतुर्विधः। परि० प० १)।

मान्यता बौद्ध ग्रंथोंसे बाधित है। उनसे यह स्पष्ट पता चलता है कि वीरसंघमें मुनि-आर्यिकाओंके साथ२ श्रावक-श्राविका भी थे।[1] यह अवश्य ही गृहत्यागी उदासीन श्रावक थे; यही कारण है कि बौद्ध ग्रन्थोंमें इन्हें 'गिही ओदात वसना' 'मुण्ड सावक' और 'एक-शाटक निगन्थ' कहा है[2]। दिगम्बर जैन शास्त्रोंके अनुसार गृहत्यागी श्रावकको श्वेत वस्त्र धारण करने, सिर मुंडा रखने और उत्कृष्ट दशामें मात्र एक वस्त्र धारण करनेका विधान मिलता है।[3] दिग० जैन शास्त्र भी उत्कृष्ट श्रावक निग्रंथका उल्लेख 'एकशाटक' नामसे करते हैं।[4] अतएव वीर संघमें साधु-साध्वियोंके साथ२ श्रावक श्राविकाओंका संमिलित होना प्रमाणित है।

वीर संघके गण और गणधर।

बौद्ध ग्रन्थोंसे यह भी प्रगट है कि भगवान् महावीरजीका संघ उस समय था और उसमें गणरूप भेद भी विद्यमान थे; क्योंकि बौद्ध लोग भगवान महावीरको संघ और गणका आचार्य (निगन्ठो नातपुत्तो संघी चेव गणी च गणाचार्यो च....) बतलाते हैं[5]। जैन ग्रन्थोंसे भी भग-

१-दीनि० भा० ३ पृ० ११७-११८ यहां भगवानके निर्वाण उपरान्त निर्ग्रंथ मुनियोंके परस्पर विवाद करनेका उल्लेख है; जिसे देखकर संघके श्रावक (निगन्ठस्स नाथपुत्तस्स सावका गिही ओदातवसना) दुखी हुये थे। २-भमबु० परिशिष्ट पृ० २०८-२१० 'एकशाटक'का व्यवहार उत्कृष्ट श्रावकके लिये हुआ है। बुद्धघोष इन्हें एक वस्त्रधारी, लंगोटी या खंड-चेलधारी कहते हैं:-''एकशाटक ति एकेन्सव पिलोतिक खन्डेन पुरतो पतिच्छादानका।''-मनोरथपूरिणी ३ पृ० १५६। ''पुरताल लम्बते दसा''-दिव्यावदन पृ० ३७० (With hanging cloth). ३-सागारधर्मामृत ३८-४८। ४-आदिपुराण ३८।१५८ व ३९।७७। ५-दीनि० भाग १ पृ० ४८-४९।

वानके संघमें गण भेदका पता चलता है। वीर संघमें कुल ग्यारह गणधर थे; जिनमें प्रमुख इन्द्रभूति गौतम थे। श्वेतांबर शास्त्रोंके अनुसार यद्यपि गणधर ग्यारह थे; परन्तु गण कुल नौ थे। यह नौ वृन्द अथवा गण इस प्रकार बताये गये हैं:—

(१) प्रथम मुख्य गणधर इन्द्रभुति गौतम, गौतम गोत्रके थे और उनके गणमें ५०० श्रमण थे।

(२) दूसरे गणधर अग्निभूति भी गौतम गोत्रके थे। इनके गणमें भी ५०० मुनि थे।

(३) तीसरे गणधर वायुभूति, इन्द्रभूति और अग्निभूतिके भाई थे और गौतम गोत्रके थे। इनके आधीन गणमें भी ५०० मुनि थे।

(४) आर्यव्यक्त चौथे गणधर भारद्वाज गोत्रके थे। इनके गणमें भी ५०० श्रमण थे।

(५) अग्नि वैश्यायन गोत्रके पांचवें गणधर सुधर्माचार्य थे, जिनके आधीन २०० श्रमण थे।

(६) मण्डिकपुत्र अथवा मण्डितपुत्र वशिष्ट गोत्रके थे और २५० श्रमणोंको धर्म शिक्षा देते थे।

(७) मौर्यपुत्र काश्यप गोत्री भी २५० मुनियोंके गणधर थे।

(८) अकंपित गौतम गोत्री और हरितायन गोत्रके अचल भ्रात दोनों ही साथ२ तीनसौ श्रमणोंको धर्मज्ञान अर्पण करते थे।

(९) मैत्रेय और प्रभास कौंडिन्य गोत्रके थे। दोनोंके संयुक्त गणमें ३०० मुनि थे[1]।

१–ऊाआम० पृ० ५६ व कसू० Js. I. 265.

वीरसंघके मुनियोंकी संख्या।

'इसप्रकार महावीरजीके ग्यारह गणधर, नौ वृन्द और ४२०० श्रमण मुख्य थे। इसके सिवाय और बहुतसे श्रमण और आर्जिकाएं थीं, जिनकी संख्या क्रमसे चौदहहजार और छत्तीसहजार थी। श्रावकोंकी संख्या १५००० थीं और श्राविकाओंकी संख्या ३१८००० थी।'[1]

दिगम्बर आम्नायके ग्रंथोंमें भगवानके इन्द्रभूति, अग्निभूति वायुभूति, शुचिदत्त, सुधर्म, मांडव्य, मौर्यपुत्र, अकंपन, अचल, मेदार्य और प्रभास, ये ग्यारह गणधर बताये गए हैं। ये समस्त ही सात प्रकारकी ऋद्धियोंसे संपन्न और द्वादशाङ्कके वेत्ता थे। गौतम आदि पांच गणधरोंके मिलकर सब शिष्य दशहजार छैसो पचास और प्रत्येकके दोहजार एकसौ तीस २ थे। छठे और सातवें गणधरोंके मिलकर सब शिष्य आठसौ पचास और प्रत्येकके चारसौ पच्चीस २ थे। शेष चार गणधरोंमेंसे प्रत्येकके छैसो पच्चीस २ और सब मिलकर ढाईहजार थे। सब मिलकर चौदह-हजार थे।[2]

गणोंके अतिरिक्त आत्मोन्नतिके लिहाजसे यह गणना इस-प्रकार थी, अर्थात ९९०० साधारण मुनि; ३०० अंगपूर्वधारी मुनि; १३०० अवधिज्ञानधारी मुनि, ९०० ऋद्धिविक्रिया युक्त श्रमण, ५०० चार ज्ञानके धारी; ७०० केवलज्ञानी; ९०० अनुत्तरवादी। इस तरह भी सब मिलकर १४००० मुनि थे।[3]

१-वंभम० पृ० १८१। २-हरि० पृ० २० (सर्ग ३ श्लो० ४०-४६) ३-हरि० पृ० २०।

इन्द्रभूति गौतम वीर संघमें प्रमुख गणधर थे। श्री गौतम

प्रमुख गणधर इन्द्रभूति गौतम और अग्निभूति व वायुभूति।

अथवा गौतम स्वामीके नामसे भी इनकी प्रसिद्धि है। म० गौतम बुद्ध और गणधर इन्द्रभूतिके गोत्र नाम 'गौतम' की अपेक्षा कितने ही विद्वानोंने भ्रममें पड़कर दोनों व्यक्तियोंको एक माना है और बौद्ध धर्मको जैनधर्मसे निकला हुआ बताया है। किन्तु वास्तवमें भगवान महावीरजीके समयमें म० गौतम बुद्ध, इन्द्रभूति गौतम और न्याय सूत्रोंके कर्ता अक्षयपाद गौतम तीन स्वतंत्र व्यक्ति थे। उनका एक दूसरेसे कोई सम्बंध नहीं था। इन्द्रभूति गौतमका जन्म मगधदेशके 'गोर्वरग्राम' में हुआ था। इनका पिता गौतम गोत्री ब्राह्मण वसुभूति अथवा शांडिल्य था; जो एक सुप्रसिद्ध धनाढ्य प्रतिष्ठित विद्वान और अपने गांवका मुखिया था। और सुलक्षणा स्त्रीके उदरसे इन्द्रभूतिका जन्म हुआ था। इंद्रभूतिके लघु भ्राता अग्निभूति भी पृथ्वीके गर्भसे जन्मे थे; इन दोनों भाइयोंका जन्म सन् ई०के प्रारम्भसे क्रमशः ६२१ वर्ष और ५९८ वर्ष पहले हुआ था। इनका तीसरा छोटा भाई वायुभूति था जिसका जन्म वसुभूतिकी दूसरी विदुषी स्त्री केशरीके उदरसे ३ वर्ष पश्चात अर्थात् सन् ई०से ५९५ वर्ष पूर्व हुआ था।

यह तीनों ही भाई सबसे पहले जैनधर्ममें दीक्षित होकर वीर संघमें सर्व प्रथम मुनि हुए थे और तीनों ही गणधरपदको सुशोभित करते थे। गोर्वरग्राममें उस समय प्रायः ब्राह्मण लोग ही बसते थे और उनका ही वहांपर प्राबल्य था। किन्तु उनमें गौतमी ब्राह्मण ही बल, वैभव, ऐश्वर्य और विद्वत्ता आदिके कारण अधिक

प्रतिष्ठित गिने जाते थे। इसीलिये इस ग्रामका नाम 'ब्राह्मण' 'ब्राह्मपुरी' अथवा 'गौतमपुरी' भी प्रसिद्ध होगया था। यह तीनों ही भाई विद्याके अगाध पंडित थे। यह कोष, व्याकरण, छन्द, अलङ्कार, तर्क, ज्योतिष, सामुद्रिक, वैद्यक और वेदवेदांगादि पढ़कर विद्यानिपुण होगए थे। इनकी विद्वत्ता और बुद्धिमताकी धाक खूब जम गई थी और इनके गुणोंकी लोक–प्रसिद्धि ऐसी हुई कि दूर दूर तकके विद्यार्थी विद्याध्ययन करनेके लिये इनके पास आते थे।

'सन् ई० से ५७५ वर्ष पूर्व मिती श्रावण कृष्ण २ को' इन्द्रभूति गौतम अपनी लगभग ५० वर्षकी अवस्थामें, देवेन्द्रके कौशल द्वारा भगवान महावीरसे शास्त्रार्थ करनेके विचारसे उनके निकट पहुंचे; जब कि वीर प्रभूको उक्त मितीसे ६६ दिन पूर्व मिती वैशाख शुक्ला १०को कैवल्यपद प्राप्त होचुका था; तो भगवानके तप, तेज और ज्ञानशक्तिसे प्रभावित होकर तुरन्त गृहस्थ दशाको त्याग कर मुनि होगये। अग्निभूति और वायुभूति भी इनके साथ गये थे। वे भी मुनि होगये[1]। अपने गुरुओंको भगवानकी शरणमें पहुंचा देखकर इन तीनों भाइयोंके पांचसौसे अधिक शिष्य भी वीरसंघमें सम्मिलित होगये थे।

इन्द्रभूति गौतमने जिनदीक्षाके साथ ही उसी दिन पूर्वाह्नमें निर्मल परिणामों द्वारा सात ऋद्धियों और मनःपर्यय ज्ञानको पा लिया था तथा रात्रिमें उन्होंने जिनपतिके मुखसे निकले हुये, पदार्थोंका है विस्तार जिसमें ऐसे उपाङ्ग सहित द्वादशाङ्ग श्रुतकी पद रचना कर ली थी[2]। इनकी कुल आयु ९२ वर्षकी थी;

१–जैनेश० पृ० ६०–६१। २–उ० पु० पृ० ६१६।

जिसमें लगभग ४९ वर्षतक वह मुनिदशामें रहे थे[1]। वीर संघके प्रमुख गणाधीश रूपमें इनके द्वारा जैनधर्मका विशेष विकाश हुआ था। जिससमय भगवान महावीरको निर्वाण लाभ हुआ था, उस समय इन्हें केवलज्ञान लक्ष्मीकी प्राप्ति हुई थी। इसी कारण दिवालीके रोज गणेश पूजाका रिवाज चला है। वीर प्रभूके उपरान्त यही संघके नायक रहे थे और वीरनिर्वाणसे बारहवर्ष बाद भगवानके अनुगामी हुये थे। ई० पूर्व ५३३ में इनको विपुलाचल पर्वतपर (राजगृही)से मोक्ष सुख प्राप्त हुआ था[2]। चीन यात्री हुइनत्सांगने भी इनका उल्लेख भगवानके गणधर रूपमें किया है[3]। अग्निभूति और वायुभूति भी द्वादशांगके वेत्ता थे और इनकी आयु क्रमशः ७४ और ७० वर्षकी थी। यह भी केवली थे और इन्हें भगवानके जीवनमें ही मोक्षसुख मिला था[4]। इसप्रकार भगवानके प्रारंभिक शिष्य अथवा अनुयायी जन्मके जैनी नहीं थे; प्रत्युत वे वैदिकधर्मसे जैनधर्ममें दीक्षित हुये थे।

चौथे गणधर व्यक्त।

चौथे गणधर व्यक्त थे। इनको अव्यक्त और शुचिदत्त भी कहते थे। यह भारद्वाज गोत्री ब्राह्मण थे और जैनधर्ममें दीक्षित हुये थे। कुण्डग्रामके पार्श्वमें स्थित कोल्लाग सन्निवेशमें एक धनमित्र नामक ब्राह्मण था। उसकी वाहणी नामक स्त्रीकी कोखसे इनका जन्म हुआ था। इनकी आयु ८० वर्षकी थी और इन्होंने भगवान महावीरजीके जीवनकालमें ही निर्वाणपद पाया था।

१-वृजैश० पृ० ७। २-उपु० पृ० ७४४। ३-भम० पृ० ११५। ४-वृजैश० पृ० ६१। ५-वृजैश० पृ० ७।

श्री सुधर्माचार्य और जैनधर्म प्रचार।

श्री सुधर्म्माचार्य पांचवे गणधर थे। इन्द्रभूति गौतमके पश्चात इन्होंने ही वीरसंघका नेतृत्व बारह वर्ष-तक ग्रहण किया था। इनके द्वारा जैन धर्मका प्रभाव खूब ही दिगन्तव्यापी हुआ था। जिस समय इन्द्र-भूति गौतमको निर्वाणलाभ हुआ था, उस समय इनको केवलज्ञानकी विभूति मिली थी और जम्बूकुमार (अन्तिम केवली) श्रुतकेवलज्ञान प्राप्त हुआ था। सुधर्म स्वामी भी ब्राह्मण वर्णके थे। इनका गोत्र अग्निवैश्यायन था। इनके गोत्रकी अपेक्षा ही बौद्धोंने महावीर-जीका उल्लेख 'अग्निवैश्यायन' रूपमें किया है[२]। इस उल्लेखसे यह स्पष्ट है कि वीर संघमें यह एक बड़े प्रभावशाली और प्रसिद्ध नेता थे। यह 'लोहार्य' नामसे भी विख्यात थे।* इनका जन्म स्थान कोल्लाग सन्निवेश था और इनके माता-पिताका नाम क्रमशः धम्मिल और भद्रिला था। इनकी आयु सौ वर्षकी थी[३]। मुनि जीवनमें इन्होंने सारे भारतवर्षमें विहार किया था। पुंड्रवर्द्धनमें (बङ्गालमें) इनका विहार और धर्मप्रचार विशेष रूपमें हुआ था।

उड्रदेशका राजा यम मुनि हुआ था।

उड्रदेशके धर्मनगरमें उस समय राजा यम राज्य करता था। उसकी धनवती नामक रानीके उदरसे कोणिका नामकी एक कन्या और गर्द्दभ नामक एक पुत्र था। अन्य रानियोंसे इस राजाके ५०० पुत्र और थे। श्री सुधर्माचार्यका संघ इस राजाकी राजधानीमें पहुंचा। पहले तो इसने मुनिसंघकी अवज्ञा की; किंतु हठात् यह प्रतिबुद्ध हो

१–उपु० पृ० ७४४। २–भमबु० पृ० २३। * जैसा सं० भा० १ पृ० [illegible]। ३–[illegible] पृ० ७। ४–वीर वर्ष २ पृ० [illegible]।

जैन मुनि होगया। ९०० पुत्र भी अपने पिताके साथ मुनि होगये। गर्दभने श्रावकके व्रत ग्रहण किये और वह उड्देशका राजा हुआ। इसी प्रकार कितने ही अन्य देशोंके राजाओं और भव्य पुरुषोंको सन्मार्गपर लाकर सुधर्मास्वामीने भी मोक्ष प्राप्त किया था। इस-समय श्रुतकेवली जम्बूकुमार केवलज्ञानी हुए थे।

छठे गणधर मण्डिकपुत्र।

छठे गणधर मंडिकपुत्र भी ब्राह्मण वर्णी थे। इनको मंडित-पुत्र मौण्ड अथवा मांडव्य भी कहते थे। इनका गोत्र वशिष्ट था और यह मौर्याख्य नामक देशमें जन्मे थे। इनके पिता ब्राह्मण धनदेव और माता विजया थी। इनकी आयु ८३ वर्षकी थी और इन्होंने भगवान महावीरके जीव-नकालमें ही मोक्षलाभ किया था।[२]

सातवें गणधर मौर्यपुत्र।

मौर्यपुत्र सातवें गणधर काश्यप गोत्री थे। इनका जन्म स्थान भी मौर्याख्य देशमें था और इनके पिताका नाम मौर्यक था। जैन शास्त्र इनको भी ब्राह्मण बतलाते हैं[३]। किन्तु इनकी जन्मभूमि, इनके पिता और इनका नाम 'मौर्य'-वाची है; जो कुल प्रत्यय नाम प्रगट होता है। उधर मौर्यदेशकी अपेक्षा सम्राट् चन्द्रगुप्तका मौर्यक्ष भी होना प्रगट है[४]। अतः संभव है यह मौर्य पुत्र भी क्षत्री हों। इनका काश्यपगोत्र भी, इसी बातका द्योतक है; क्योंकि उपरान्तके जैन लेखकोंने मौर्योंको सूर्यवंशी लिखा है;[५] जिसमें काश्यपगोत्र मिलता है। जो हो, मौर्यपुत्र गणधर एक प्रति-ष्ठित पुरुष थे। उनकी आयु ९५ वर्षकी थी और उनका निर्वाण भगवानकी जीवनावस्थामें हुआ था।[६]

१-आक० भा० १ पृ० १८९। २८-वृजैश० पृ० ७। ३-वृजैश० पृ० ७। ४-क्षत्रीक्लैन्स० २०५। ५-राइ० भा० १ पृ. ६०। ६-वृजैश० पृ. ७।

अकम्पित आठवें गणधर थे; जिन्हें अकम्पन भी कहते हैं।

अकम्पित आठवें गणधर थे। यह गौतमगोत्री ब्राह्मण थे। मिथिलापुरी निवासी विप्रदेव इनके पिता थे और जयन्ती इनकी माता थी। इनकी आयु ७८ वर्षकी थी और यह भगवानके गमनके पहले ही निर्वाण कर गये थे।[1] किन्हीं लोगोंका अनुमान है कि राजा चेटकके पुत्र अकम्पन ही, यह गणधर थे[2]।

नवें गणधर अचलवृत थे। यह धवल और अचलभ्रात नामसे

नवें गणधर अचलवृत्त। भी परिचित हैं। यह भी ब्राह्मण थे और हरितापनगोत्रके रत्न थे। इनका जन्म कौशलापुरीमें बसु नामक ब्राह्मणके घर उसकी नन्दा नामक स्त्रीके उदरसे हुआ था। इनकी आयु ७२ वर्षकी थी।[3] जिस प्रकार इन्द्रभूति गौतम और सुधर्मास्वामीके अतिरिक्त अवशेष गणधर वीरप्रभुके जीवनकालमें ही मुक्त होगये थे; वैसे ही यह भी वीरप्रभूके समक्ष मोक्ष पागए थे। यह अकम्पन गणधरके साथ२ छैसौपच्चीस शिष्योंके नायक थे।

दशवें मैत्रेय और अन्तिमप्रभास कौन्डन्यगोत्रके ब्राह्मण थे।

मैत्रेय और प्रभास गणधर। मैत्रेयको मेतार्य अथवा मेदार्य भी कहते थे। यह वत्सदेशमें तुंगिकाव्य ग्रामके निवासी दत्त और उसकी भार्या करुणाके सुपुत्र थे। प्रभास राजगृहके निवासी ब्राह्मण बलके गृहमें उसकी स्त्री भद्राकी कोखसे जन्मे थे।[4] यह दोनों ही गणधर एक संयुक्त गणके नायक थे और इनकी आयु

१-वृजैश० पृ० ७। २-जैप्र० पृ० २२७। ३-वृजैश० पृ० ७। ४-वृजैश० पृ० ७।

क्रमशः साठ और चालीस वर्षकी थी। इनकी भी भगवान महावीरके निर्वाणलाभसे पहिले ही मुक्ति होगई थी।

भगवान महावीरजीके इन प्रमुख साधु शिष्योंके अतिरिक्त और भी अनेक विद्वान् और तेजस्वी मुनिपुंगव थे; जिनके पवित्र चारित्रसे जैन शास्त्र अलंकृत हैं। इनमें सम्राट् श्रेणिकके पुत्र वारिषेण विशेष प्रख्यात हैं।

वारिषेण मुनि।

वारिषेणजी युवावस्थासे ही उदासीनवृत्तिके थे। श्रावक दशामें वह नियमितरूपसे अष्टमी व चतुर्दशीके पर्वदिनोंको उपवास किया करते थे और रात्रिके समय नग्न प्रतिमायोगमें स्मशान आदि एकान्त स्थानमें ध्यान किया करते थे। इसी तरह एक रोज आप ध्यानलीन थे कि एक चोर चुराया हुआ हार इनके पैरोंमें डालकर भाग गया। पीछा करते हुये कोतवालने इनको गिरफ्तार कर लिया। राजा श्रेणिकने भी पुत्रमोहकी परवा न करके उनको प्राणदण्डका हुक्म सुना दिया; किन्तु अपने पुण्यप्रतापसे वह बच गये और संसारसे वैराग्यवान् होकर झट दिगम्बर मुनि होगये। वह खूब तपश्चरण करते थे और यत्रतत्र विहार करते हुये अपने उपदेश द्वारा लोगोंको धर्ममें दृढ़ करते थे। इस स्थितिकरण धर्म पालन करनेकी अपेक्षा ही इनकी प्रसिद्धि विशेष है। एकदा यह पलाशकूट नगरमें पहुंचे। वहां इनके उपदेशसे श्रेणिकके मंत्रीका पुत्र पुष्पडाल मुनि होगया। पुष्पडाल मुनि तो होगया; किन्तु उसके हृदयमें अपनी पत्नीका प्रेम बना रहा। कहते हैं, एक रोज निमित्त पाकर वह उसको देखनेके लिये चल पड़ा था; किन्तु वारिषेण मुनिने उसे धर्ममें पुनः स्थिर कर दिया था। पुष्पडालने प्रायश्चितपूर्वक घोर तपश्चरण किया

और वह मुक्त हो गया। मुनि वारिषेणका पवित्र जीवन धर्मसे शिथिल होते हुये मनुष्योंको पुनः उनके पूर्वपद और धर्मपर ले आनेके लिये आदर्शरूप है। श्रेणिक महाराजका एक अन्य पुत्र मेघकुमार भी जैन मुनि होगया था।*

अन्य प्रसिद्ध जैन मुनि।

बौद्ध शास्त्रोंमें भी कतिपय जैन मुनियोंका उल्लेख आया है; किन्तु उनका पता जैनसाहित्यमें प्रायः नहीं मिलता है। बौद्धग्रंथ 'मज्झिमनिकाय' में एक चूळसकलोदायी नामक जैन मुनिको पंच व्रतोंका प्रतिपादन करते हुये लिखा है।[1] उसी ग्रन्थमें अन्यत्र निर्ग्रंथ श्रमण दीघतपस्सी (दीर्घतपस्वी) का उल्लेख है।[2] इन्होंने म० गौतमबुद्धसे तीन दन्डों (मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड) पर वार्तालाप किया था। इससे इनका एक प्रभावशाली मुनि होना प्रकट है। सुणक्खत्त नामक एक लिच्छविराजपुत्र भी प्रसिद्ध जैन मुनि थे। पहले यह बौद्ध थे; किन्तु उनसे सम्बन्ध त्यागकर यह जैन मुनि होगये थे। संभवतः जैन मुनिके कठिन जीवनसे भयभीत होकर वह फिर म० बुद्धके पास पहुंच गये थे; किन्तु म० बुद्धके निकट उनकी मनस्तुष्टि नहीं हुई थी; इसलिये उनने फिर पाटिकपुत्र नामक जैन मुनिके निकट जैन दीक्षा लेली थी।[3]

श्रावस्तीके कुल पुत्र (Councillor's Son) अर्जुन भी एक समय जैन मुनि थे[4] और अभयराजकुमारका जैन मुनि होना, जब

*-भमु० पृ० १२४-१२६। १-मनि० भा० २ पृ० ३५-३६। २-मनि० भा० १ पृ० ३७१-३८७। ३-ऑजी० पृ० ३५। ४-भमबु० पृ० २६६।

शास्त्रोंसे भी प्रकट है। किन्तु इन दोनों मुनियोंके सम्बन्धमें कहा गया है कि वह बौद्ध होगये थे, सो ठीक नहीं है। यह जैन मान्यताके विरुद्ध है। सचमुच भगवान महावीरजीका प्रभाव म० बुद्ध और उनके शिष्योंपर बेढब पड़ा था। यहांतक कि वह जैन मुनियोंकी देखादेखी अपनी प्रतिष्ठाके लिये नग्न भी रहने लगे थे;[1] क्योंकि उस समय नग्नता (दिगम्बर भेष) की मान्यता विशेष थी।[2]

वीरसंघका दूसरा अंग साध्वियों अथवा आर्यिकाओंका था।

चन्दना आदि आर्यिकायें।

दिगम्बर जैन शास्त्रोंमें इनकी संख्या छत्तीसहजार बताई गई है[3]। यह विदुषी महिलायें केवल एक सफेद साड़ीको ग्रहण किये गर्मी और जाड़ेकी घोर परीषह सहन करती हुई अपना आत्मकल्याण करतीं थीं और लोगोंको सन्मार्गपर लगाती थीं। वह भी मुनियोंके समान ही कठिन व्रत, संयम और आत्मसमाधिका अभ्यास करतीं थीं। सांसारिक प्रलोभन उनके लिये तुच्छ थे। उनके संसर्गसे वे अलग रहती थीं। इन आर्यिकाओंमें सर्वप्रमुख राजा चेटककी पुत्री राजकुमारी चंदना थी; जिसका परिचय पहिले लिखा जाचुका है। चन्दनाकी मामी यशस्वती आर्यिका भी विशेष प्रख्यात् थी। चंदनाकी बहिन ज्येष्ठाने इन्हींसे जिन दीक्षा ग्रहण की थी। इन आर्यिकाओंका त्यागमई जीवन पूर्ण पवित्रताका आदर्श था। वे बड़ी ज्ञानवान और शास्त्रोंकी

१-इंसेजै० पृ० ३६। २-इंऐ० भा० ९ पृ० १६२। ३-भम० पृ० १२० व हरि० पृ० ५७९ में २४००० बताई हैं। उपु० पृ० ६१६ में ३६००० हैं।

पंडिता थीं। बौद्धशास्त्रोंमें भी कई जैन साध्वीयोंका उल्लेख मिलता है। उनके वर्णनसे पता चलता है कि उस समय यह जैन साध्वीयां देशमें चारों ओर विहार करके धर्मप्रचार करतीं थीं और लोगोंमें ज्ञानका प्रकाश फैलातीं थीं।

राजगृहके राजकोठारीकी पुत्री भद्रा कुन्दलकेसाका जीवन इस व्याख्यानका साक्षी है। वह अपने गृहस्थ जीवनसे निराश होकर आर्यिका होगई थी। उसने केशलोंच किया और एक सादड़ी ग्रहण करली थी फिर वह चहुंओर विहार करने लगी थी। बड़े२ लोग उसके उपदेशसे प्रभावित होते थे और वह बड़े२ धर्माचार्योंसे वाद भी करती थी। श्रावस्तीमें उसने प्रसिद्ध बौद्धाचार्य सारीपुत्तसे वाद किया था। अतः उस समय भारतीय महिलासमाजकी महत्वशाली दशाका सहज ही अनुमान लगाया जासक्ता है। भारतीय महिलाओंको यह गौरव भगवान महावीरके दिव्यसंदेशसे प्राप्त हुआ था; जिसको सुनकर लोग स्त्रियोंको हेय दृष्टिसे देखना भूल गये थे। भगवानने व्यक्तिविशेष अथवा जातिविशेषको आदरका पात्र नहीं बताया था। उन्होंने गुणवान्‌को ही पूजनीय ठहराया था। फिर चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष! जैनधर्ममें प्रत्येक आत्माको एक समान कहा गया है। महावीरजीका यह व्यक्ति-स्वातंत्र्यवाला संदेश उस समय खूब ही जनकल्याणका कारण हुआ था। वीरसंघमें जितना दर्जा एक मुनिका माना जाता था, आर्यिकाका भी उपचारसे उतना ही था। वह भी 'महाव्रती' कही गई है।[2] वैसे आर्यिकायें पांचवें गुणस्थानवर्ती ही होतीं हैं।

१–भमबु० पृ० २५९–२६१। २–अष्टपाहुड पृ० ७३।

व्रती श्रावक और श्राविका संघ।

भगवान महावीरके संघका तीसरा अंग उदासीनव्रती श्रावकोंसे अलंकृत था। इनकी संख्या दिगम्बर जैन शास्त्रोंमें एक लाख बताई गई है और यह श्वेत वस्त्र धारण करते थे[1]। इन श्रावकोंमें मुख्य सांखस्तक थे। इनके विषयमें कुछ विशेष विवरण प्राप्त नहीं है। वैशालीके सेनापति सिंह भी उनमें प्रख्यात् हैं। वह संभवतः सम्राट् चेटकके पुत्र थे। उनको जैनधर्ममें दृढ़ श्रद्धान था। मुनियोंको आहारदान व उनकी विनय वह खूब किया करते थे। (भमबु० पृ० २३१) संघके अन्तिम अंगमें तीनलाख श्राविकायें थीं[2]। यह भी व्रती और उदासीन थीं। इनमें मुख्य सुलसा और रेवती थीं। बौद्धशास्त्रोंमें नंदोत्तरा नामक एक जैन श्राविकाका उल्लेख है; जिससे यह स्पष्ट है कि जैन संघमें जो श्राविका थीं, वह अव्रती गृहस्थ श्राविकाओंके अतिरिक्त उदासीन गृहत्यागी ब्रह्मचारिणीं थीं। जैन संघमें स्त्रियोंके लिये आर्यिका और उदासीन श्राविकाके दर्जे नियुक्त थे; जिनमें सर्वोच्च आर्यिका पद था, यह भी बौद्धशास्त्रोंसे सिद्ध है[3]। उपरोक्त उदासीन श्राविका नन्दोत्तराका जन्म कौरवोंके राज्यमें स्थित कम्मासदम्म ग्रामके एक ब्राह्मण कुलमें हुआ था। उसने जैनसंघमें रहकर शिक्षा ग्रहण की थी और अन्ततः वह उन्हींके संघमें सम्मिलित होगई थी। वह अपनी वादशक्तिके लिये प्रख्यात् थी और सर्वत्र संघसहित विहार करके वाद करती थी। बौद्धाचार्य महामौद्गलायनसे भी उसने शास्त्रार्थ किया था[4]। इसी प्रकार और

१-भम० पृ० १२०। २-हरि० पृ० ५७५। ३-भमबु० पृ० २५९-२६१। ४-भमबु० पृ० २५८।

भी विदुषी श्राविकायें जैनधर्मका प्रभाव दिगन्तव्यापी बनाती और प्राणीमात्रके हितकार्यमें संलग्न रहतीं थीं।

भगवान महावीरके अन्य भक्तजन देव और राजा आदि।

इन व्रती श्रावक और श्राविकाओंके अतिरिक्त भगवान महावीरके और भी अनेक भक्त थे, जिनमें बड़े बड़े राजा और सेठ-साहूकार एवं देव-देवेन्द्र सम्मिलित थे। सम्राट् श्रेणिक क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे; किन्तु वे व्रती श्रावक नहीं थे। यही कारण है कि उनकी गणना श्रावकसंघके प्रमुखरूपमें नहीं की गई है।[1] जैनधर्ममें श्रद्धा रखते हुये और उसकी प्रभावनाके कार्य करनेवाले अनेक राजा थे। कुणिक अजातशत्रुके राज्यकालमें इसी कारण जैन धर्मका विशेष विकाश हुआ थां। विदेहदेशस्थ विदेहनगरका राजा गोपेन्द्र जैनधर्म प्रभावक थां। ऐसे ही पल्लवदेशका राजा धनपति, जिसकी राजधानी चन्द्राभा नगरी थी; दक्षिणकी क्षेमपुरीका राजा नरपतिदेव, मध्यदेशमें स्थित हेमाभानगरीका राजा दृढ़मित्र, वेणुपद्मनगरका राजा वसुपाल और हंसद्वीपका राजा रत्नचूल जैनधर्मके उत्कर्षका सदा ही ध्यान रखते थे[4]। कलिङ्गदेशके दन्तपुरके राजा धर्मघोष थे और अन्तमें वह दिगम्बर जैन मुनि होगये थे[5]। मणिवतदेशमें दारानगरके राजा मणिमाली भी जैन मुनि होकर धर्मका जयघोष करते हुये विचरे थे[6]।

श्वेतपुरके राजा अमलकल्प हिमालयके उत्तरमें स्थित ए ष्टिच-

१–श्रेच० पृ० ३२७। २–कैहिइ० पृ० १६३। ३–उपु० पृ० ६९३। ४–जैप्र० पृ० २२२–२२३। ५–श्रेच० पृ० २३३–२३५। ६–श्रेच० पृ० २४७–२५४।

म्पाके शालमहाशाल, हस्तिशीर्षके अदिनशत्रु; ऋषभपुरके धनवाह; वीरपुरके वीर कृष्णमित्र; विजयपुरके राजा वासवदत्त; कनकपुरके प्रियचंद्र; साकेतपुरके मित्रनंदि; और महापुरके बल राजा भगवान महावीरके मित्र थे[१]। पोदनपुरके प्रसन्नचंद्र भगवान महावीरके समोशरणमें दीक्षा ले राजर्षि हुये थे[२], मोरियगण राज्यके प्रख्यात् पुरुष जैनधर्मके पोषक थे। भगवानके दो गणधर इसी देशके थे। इनके अतिरिक्त अनेक विदेशी राजा भी भगवानके भक्त थे; जिनका उल्लेख विद्याधररूपमें हुआ है। जिस समय भगवान महावीरजीका समोशरण सम्मेदशिखिरपर विराजमान था; उस समय भूतिलकनगरका विद्याधर राजा हिरण्यवर्मा भगवानकी शरणमें आया था[३]। इसके पिता हरिबलने विपुलमति नामक चारण मुनिसे दिगम्बरीय दीक्षा ग्रहण की थी।[४] इसी प्रकार अन्य कितने ही विदेशी लोगोंने जैनधर्ममें विश्वास रखकर आत्मकल्याण किया था।

अव्रती गृहस्थ श्रावक और श्राविकायें वीर प्रभूके अनन्य भक्त थे।

राजाओंके अतिरिक्त बहुतसे श्रावक धनसम्पदामें भरपूर प्रख्यात सेठ थे। इनमें उज्जैनीके धन्यकुमार सेठका उल्लेख पहिले किया जाचुका है। उनके विशिष्टगुणोंको देखकर श्रेणिक महाराजने उन्हें अपना जमाई बनाया था। इसी तरह राजगृहके सेठ शालिभद्र थे; जिन्होंने विदेशोंसे व्यापार करके खुब धन संचय किया था और खूब धर्मप्रभावना की थी। उस समय विदेहदेश अपने व्यापारके लिये प्रसिद्ध था। वहांके

१-एइजै० पृ० ६५० । २-गुभापरि० पृ० ४० । ३-उपु० पृ० २७३ । ४-उपु० पृ० २७२ ।

सुप्रतिष्ठनगरमें राजा जयसेनका राज्य था और कुबेरदत्त प्रख्यात् जैन सेठ था। इसकी पत्नी धनमित्रा सुशीला और विदुषी थी। सुप्रतिष्ठ नगरमें इसने खूब चैत्य-चैत्यालय बनवाये थे। सागरसेन मुनिराजके मुखसे यह जानकर कि उनके एक चरमशरीरी पुत्र होगा, वह बड़े प्रसन्न हुये थे। उनने पुत्रका नाम प्रीतंकर रक्खा था। प्रीतंकरको उनने सागरसेन मुनिराजके सुपुर्द शिक्षा पानेके लिये क्षुल्लकरूपमें कर दिया था। मुनिराज उसको धान्यपुरके निकट अवस्थित शिखिभूधर पर्वतपरके जैन मुनियोंके आश्रममें लेगये थे और वहां दश वर्षमें उसे समस्त शास्त्रोंका पंडित बना दिया था। प्रीतंकर अपने घर वापस आया और अवसर पाकर अपने भाई सहित समुद्रयात्रा द्वारा धन कमाने गया था। भूतिलक नगरकी विद्याधर राजकुमारीकी इसने रक्षा की थी और अन्तमें उसके साथ इसका विवाह हुआ था। बहुत दिनोंतक सुख भोगकर प्रीतंकरने अपने पुत्र प्रियंकरको धन संपदा सुपुर्द की थी और वह राजगृहमें भगवान महावीरजीके समीप जैन मुनि होगया था। उस समय भारतके बंदरगाहोंमें भृगुकच्छ (भडौंच) खूब प्रख्यात् था। दूर दूरके देशोंसे यहां जहाज आया और जाया करते थे। तब यहांपर वसुपाल नामक राजा राज्य करता था और जिनदत्त नामक एक प्रसिद्ध जैन सेठ रहता था। यह जैनधर्मका परमभक्त था। इसकी स्त्री जिनदत्तासे इसके नीली नामक एक सुन्दर कन्या थी। वहींके एक बौद्ध सेठने छलसे नीलीके साथ विवाह कर लिया था। इस कारण पिता और पुत्रीको मान-

१—उ० पु० पृ० ७२०-७३५। २—केहिइ० पृ० ३१२।

सिक दुःख हुआ था। सारांशतः उस समय भारत एवं विदेशोंमें भगवान महावीरके भक्त अनन्य राजा और श्रेष्ठीपुत्र विद्यमान थे; जिनके द्वारा जैनधर्मकी प्रभावना विशेष होती थी। जैन संघमें श्रावक और श्राविकाओंको भी फिर चाहे वे व्रती हों या अव्रती, जो मुख्य स्थान मिला हुआ था; उसीके कारण जैनधर्मकी नींव भारतमें दृढ़ रही और घोरतम अत्याचारोंके सहते हुये भी वह सजीव है।

(६)

तत्कालीन सभ्यता और परिस्थिति।

(ई० पू० ६००-७००)

भारतकी तत्कालीन राजनैतिक अवस्था।

कोई भी देश हो, यदि उसके किसी विशेष कालकी सभ्यता और स्थितिका ज्ञान प्राप्त करना अभीष्ट हो, तो प्राकृत उस देशकी उस समयकी राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितिको जान लेना आवश्यक होता है। जहां उस देशकी इन सब दशाओंका सजीव चित्र हमारे नेत्रोंके अगाड़ी खिंच गया; फिर ऐसी कौनसी बात बाकी रही कही जासक्ती है; जिससे तत्कालीन परिस्थितिका परिचय प्राप्त न हो ? भारतकी दशा भगवानके समय क्या थी ? उसकी सभ्यता उस समय किस अवस्था पर थी ? इन प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर पानेके लिये श्रेष्ठ और निरापद मार्ग यही है कि

१-वीमर्स्मा० पृ० २१।

उस समयके भारतकी राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक परिस्थितिका पर्ययलोचन कर लिया जावे। बस भारतकी तब जो दशा थी वह स्पष्ट हो जायगी और उसके साथ जैनधर्म और जैन समाजका जो स्वरूप उस समय था, वह भी प्रकट हो जायगा। अतः राजनैतिक विषयमें तो उपरोक्त वर्णनसे पर्याप्त प्रकाश पड़ चुका है। उस समयका भारत राजनैतिक रूपमें आजसे कहीं अधिक स्वाधीन और बलवान था। उसकी राष्ट्रीय दशा विशेष उन्नतशील और समृद्धिशाली थी। उस समय यहां एक समूचा राज्य नहीं था। भारत छोटे२ राज्योंमें विभक्त था; जिनकी संख्या सोलह थी। इनमें कोई तो परम्परीण सत्ताधिकारी राजाओंके अधिकारमें थे और किन्हींका शासन प्रजातंत्र प्रणालीके ढंगपर होता था। प्रजातंत्र प्रणाली ऐसी उत्कृष्ट दशामें थी कि आजके उन्नतशील प्रजातंत्र राज्योंके लिये वह एक अच्छा खासा आदर्श है। इस प्रकार उस समयकी राजनैतिक स्थिति थी। श्रेणिक महाराज महामंडलेश्वर अर्थात् एक हजार राजाओंके स्वामी थे[1]।

उस समयकी सामाजिक दशा।

जिस देशकी राजनैतिक स्थिति सुचारु और समृद्धिशाली हो, उसका समाज अवश्य ही उन्नतशील अवस्थामें होता है। ऐहिक सुख सम्पन्न दशामें व्यक्ति स्वातंत्र्य आत्महितकी बातोंकी ओर लोगोंका ध्यान स्वतः जाता है। उस समयका भारतीय समाज ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र वर्णोंमें विभक्त था। चाण्डाल आदि भी थे। भगवान

१-श्रेच० पृ० १३९।

महावीरजीके जन्म होनेके पहिले ही ब्राह्मण वर्णकी प्रधानता थी। उसने शेष वर्णोंके सब ही अधिकार हथिया लिये थे। अपनेको पुजवाना और अपना अर्थसाधन करना उसका मुख्य ध्येय था। यही कारण था कि उस समय ब्राह्मणोंके अतिरिक्त किसीको भी धर्मकार्य और वेदपाठ करनेकी आज्ञा नहीं थी। ब्राह्मणेतर वर्णोंके लोग नीचे समझे जाते थे। शूद्र और स्त्रियोंको मनुष्य ही नहीं समझा जाता था[1]। किन्तु इस दशासे लोग ऊब चले—उन्हें मनुष्योंमें पारस्परिक ऊंच नीचका भेद अखर उठा। उधर इतनेमें ही भगवान पार्श्वनाथका धर्मोपदेश हुआ और उससे जनता अच्छी तरह समझ गई कि मनुष्य मनुष्यमें प्राकृत कोई भेद नहीं है। प्रत्येक मनुष्यको आत्म-स्वातंत्र्य प्राप्त है। कितने ही मत प्रवर्तक इन्हीं बातोंका प्रचार करनेके लिये अगाड़ी आगये[2]। जैनी लोग इस आन्दोलनमें अग्रसर थे।

साधुओंकी बात जाने दीजिये, श्रावक तक लोगोंमेंसे जाति-मूढ़ता अथवा जाति या कुलमदको दूर करनेके साधु प्रयत्न करते थे। रास्ता चलते एक श्रावकका समागम एक ब्राह्मणसे होगया। ब्राह्मण अपने जातिमदमें मत्त थे; किन्तु श्रावकके युक्तिपूर्ण वचनोंसे उनका यह नशा काफूर होगया। वह जान गये कि "मनुष्यके शरीरमें वर्ण आकृतिके भेद देखनेमें नहीं आते हैं, जिससे वर्णभेद हो; क्योंकि ब्राह्मण आदिका शूद्रादिके साथ भी गर्भाधान देखनेमें आता है। जैसे गौ, घोड़े आदिकी जातिका भेद पशुओंमें है, ऐसा जातिभेद मनुष्योंमें नहीं है; क्योंकि यदि आकारभेद होता तो

१–ममं० पृ० ४७–५६। २–भमबु० पृ० १५–१७।

ऐसा भेद होना संभव था।" अतः मनुष्यजाति एक है[२]। उसमें जाति अथवा कुलका अभिमान करना वृथा है। एक उच्च वर्णी ब्राह्मण भी गोमांस खाने और वेश्यागमन करने आदिसे पतित हो सक्ता है[३] और एक नीच गोत्रका मनुष्य अपने अच्छे आचरण द्वारा ब्राह्मणके गुणोंको पासक्ता है।[४]

भगवान महावीरजीके दिव्यसंदेशमें मनुष्यमात्रके लिये व्यक्ति स्वातंत्र्यका मूल मंत्र गर्भित था। भगवानने प्रत्येक मनुष्यका आचरण ही उसके नीच अथवा ऊंचपनेका मूल कारण माना था। उनने स्पष्ट कहा कि संतानक्रमसे चले आये हुये जीवके आचरणकी गोत्र संज्ञा है। जिसका ऊंचा आचरण है उसका उच्च गोत्र है और जिसका नीच आचरण हो, उसका नीच गोत्र है[५]। शूद्र हो या स्त्री हो अथवा चाहे जो हो गुणका पात्र है, वही पूजनीय है[६]। देह या कुलकी वंदना नहीं होती और न जातियुक्तको ही मान्यता प्राप्त है। गुणहीनको कौन पूजे और माने? श्रमण भी गुणोंसे होता है और श्रावक भी गुणोंसे होता है।[७] महावीरजीके इस संदेशसे

१-उपु० पर्व ७४ श्लो० ४९१-४९५। २-आदिपुराण पर्व ३८ श्लोक ४५। ३-उपु० पर्व ७४ श्लो० ४९०। ४-अमितगति श्रावकाचार श्लो० ३० परि० १७ व भपा० पृ० ४९।

५-संताणकमेणागय जीवयरणस्स गोदमिदि हण्णा।
उच्चं नीचं चरणं उच्चं नीचं हवे गोदं॥ -गोमट्टसार।

६-"शिशुत्वं स्त्रैण्यं वा यदस्तु तत्तिष्ठतु तदा।
गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः॥

७-ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ॥२७॥
-दर्शनपाहुड़।

जनताकी मनमानी मुराद पूरी हुई और वह अपने जाति अथवा कुलमदको भूल गई थी !

तब भारतमें विश्वप्रेमकी पुण्यधाराका अटूट प्रवाह हुआ।

तब जाति या कुलकी मान्यता न होकर गुणोंका आदर होता था ।

जनता गुणोंकी उपासक बन गई। ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्यत्वका उसे अभिमान ही शेष न रहा ! सब ही गुणोंको पाकर श्रेष्ठ बननेकी कोशिश करते थे । धन्यकुमार सेठको देखिये; उनके गुणोंका आदर करके सम्राट् श्रेणिकने अपनी पुत्रीका विवाह उनसे कर दिया था और उन्हें राज्य देकर अपने समान राज्याधिकारी बना दिया था। यही बात इनसे पहले हुये सेठ भविष्यदत्तके विषयमें घटित हुई थी। वह वैश्यपुत्र होकर भी राज्याधिकारी हुये थे । हस्तिनागपुरके राजसिंहासनपर आरूढ़ होकर उन्होंने प्रजाका पालन समुचित रीतिसे किया था[२] । सेठ प्रीतिंकरको क्षत्री राजा जयसेनने आधा राज्य देकर राजा बनाया था। सारांशतः स्वतंत्र अन्वेषणके आधारसे विद्वानोंको यही कहना पड़ा है कि "उस समय ऊपरके तीन वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य) तो वास्तवमें मूलमें एक ही थे; क्योंकि राजा, सरदार और विप्रादि तीसरे वैश्य वर्णके ही सदस्य थे; जिन्होंने अपनेको उच्च सामाजिक पदपर स्थापित कर लिया था। वस्तुतः ऐसे परिवर्तन होना जरा कठिन थे, परन्तु ऐसे परिवर्तनोंका होना संभव था। गरीब मनुष्य राजा-सरदार (Nobles) बन सक्ते थे और फिर दोनों ही ब्राह्मण

१-धन्यकुमार चरित्र देखो । २-भविष्यदत्तचरित । ३-उपु० पर्व ७६ श्लो० ३४६-३४८ ।

होसके थे। ऐसे परिवर्तनोंके अनेक उदाहरण ग्रन्थोंमें मिलते हैं। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणोंके क्रियाकांडयुक्त एवं सर्व प्रकारकी सामाजिक परिस्थितिके पुरुष-स्त्रियोंके परस्पर सम्बन्धके भी उदाहरण मिलते हैं और यह उदाहरण केवल उच्च वर्णके ही पुरुष और नीच कन्याओंके सम्बन्धके नहीं हैं, बल्कि नीच पुरुष और उच्च स्त्रियोंके भी हैं।"[1]

विवाह क्षेत्रकी विशालता।

सचमुच उस समय विवाहक्षेत्र अति विशाल था। चारों वर्णोंके स्त्री-पुरुष सानन्द परस्पर विवाह सम्बन्ध करते थे। इतना ही क्यों, म्लेच्छ और वेश्याओं आदिसे भी विवाह होते थे। राजा श्रेणिकने ब्राह्मणीसे विवाह किया था; जिसके उदरसे मोक्षगामी अभयकुमार नामक पुत्र जन्मा था[2]। वैश्यपुत्र जीवंधरकुमारने क्षत्रिय विद्याधर गरुड़वेगकी कन्या गन्धर्वदत्ताको स्वयंवरमें वीणा बजाकर परास्त किया और विवाहा था[3]। स्वयंवरमंडपमें कुलीन अकुलीनका भेदभाव नहीं था[4]। विदेह देशके धरणीतिलका नगरके राजा गोविन्दकी कन्याके स्वयंवरमें ऊपरके तीन वर्णोंवाले पुरुष आये थे।[5] जीवंधरकुमारके यह मामा थे। जीवन्धरने चंद्रक यंत्रको वेधकर अपने मामाकी कन्याके साथ पाणिग्रहण किया था। पल्लवदेशके राजाकी कन्याका सर्पविष दूर

१-बुद्ध० पृ० ५५-५९। २-उपु० पर्व ७५ श्लो० २९। ३-उपु० पर्व ७५ श्लो० ३२०-३२५।

४-कन्या वृणीते रुचितं स्वयंवरागतां वरं।
कुलीनमकुलीनं वा क्रमो नास्ति स्वयंवरे॥ हरि० जिनदासकृत।

५-क्षत्रचूडामणिकाव्य लंब १० श्लो० ३३-३४।

करके उसे भी जीवंधरने व्याहा था।[1] वणिकपुत्र प्रीतंकरका विवाह राजा जयसेनकी पुत्रीके साथ हुआ था।[2] विवाह सम्बन्ध करनेमें जिस प्रकार वर्णभेदका ध्यान नहीं रक्खा जाता था, वैसे ही धर्म-विरोध भी उसमें बाधक नहीं था। वसुमित्र श्रेष्ठी जैन थे; किन्तु उनकी पत्नी धनश्री अजैन थी।[3] साकेतका मिगारसेठी जैन था; किन्तु उसके पुत्र पुण्यवर्द्धनका विवाह बौद्ध धर्मानुयायी सेठ धनंजयकी पुत्री विशाखासे हुआ था।[4] सम्राट् श्रेणिकके पिता उप-श्रेणिकने अपना विवाह एक भीलकन्यासे किया था।

भगवान महावीरके निर्वाणोपरान्त नन्दराजा महानंदिन् जैन थे। इनकी रानियोंमें एक शूद्रा भी थी; जिससे महापद्मका जन्म हुआ था।[5] चम्पाके श्रेष्ठी पालित थे। इनने एक विदेशी कन्यासे विवाह किया था।[6] प्रीतंकर सेठ जब विदेशमें धनोपार्जनके लिये गये थे, तो वहांसे एक राजकन्याको ले आये थे; जिसके साथ उनका विवाह हुआ था।[7] इस कालके पहलेसे ही प्रतिष्ठित जैन पुरुष जैसे चारुदत्त अथवा नागकुमारके विवाह वेश्या-पुत्रियोंसे हुये थे। सारांशतः उस समय विवाह सम्बन्ध करनेके लिये कोई बन्धन नहीं था। सुशील और गुणवान् कन्याके साथ उसके उप-युक्त वर विवाह कर सक्ता था। स्वयंवरकी प्रथाके अनुसार विवा-हको उत्तम समझा जाता था।

१–क्षत्रचू० लंब ५ श्लो० ४२–४९। २–उपु० पर्व ७६ श्लो० ३४६–३४८। ३–आक० भा० ३ पृ० ११३। ४–भमबु० पृ० २५२। ५–आक० भा० ३ पृ० ३३। ६–वीर वर्ष ५ पृ० ३८८। ७–उसू० २१। ८–उपु० पृ० ७३३।

महिलाओंका आदर और प्रतिष्ठा भी उस समय काफी था।

महिलाओंकी महिमा और प्रतिष्ठा।

पुरुष स्त्रियोंको अपनी अर्द्धाङ्गनी समझते थे और उनके साथ बड़े सौजन्य और प्रेम-पूर्वक व्यवहार करते थे। परदेका रिवाज तब नहीं था। स्त्रियां बाहर निकलतीं और शास्त्रार्थ तक करतीं थीं। राजा सिद्धार्थ जिस समय राजदरबारमें थे, उस समय रानी त्रिशला वहां पहुंची थीं। राजाने बड़े मानसे उनको अपने पास राजसिंहासनपर बैठाया था। और अन्य राजकार्यको स्थगित करके उनके आगमनका कारण जानना चाहा था। पुरुष स्त्रियोंसे उचित परामर्श और मंत्रणा भी करते थे। जम्बूकुमार जिस समय जैन दीक्षा धारण करनेको उद्यत हुये थे, उस समय उनकी नवविवाहिता स्त्रियोंने खूब ही युक्तिपूर्ण शब्दों द्वारा उन्हें घरमें रहकर विषयभोग भोगनेके लिये उत्साहित किया था। जम्बूकुमारने भी उनके परामर्शको बड़े गौरसे सुना था और उनको सर्वथा संतुष्ट करके वह योगी हुये थे।[2] उनके साथ उनकी पत्नियां भी साध्वी होगईं थीं। सचमुच उस समय स्त्रियोंको भी धर्माराधन करनेकी पूर्ण स्वतंत्रता थी।

गृहस्थ दशामें वे भगवानका पूजन अर्चन और दान अथवा सामायिक आदि धर्म कार्य करतीं थीं। साधु संगतिका लाभ उठातीं थीं। मथुराके अर्हद्दास सेठने अपनी स्त्रियों सहित रात्रि जागरण करके भगवानका पूजन-भजन किया था। स्त्रियोंकी और उनकी जो ज्ञानचर्चा उस समय हुई थी, उसको सुनकर मथुराके राजा एवं अंजन चोर भी प्रतिबुद्ध होगये थे।[3] सचमुच उस समयकी स्त्रियां

१-उ० पु० पृ० ६०५-६०६। २-उ० पु० पृ० ७०२-७०४।
३-ब्रह्मो० पृ० ५-१४७।

बड़ी ही ज्ञानवती और विदुषी होतीं थीं। वह श्रृङ्गार करना और सुन्दर वस्त्र पहिनना जानती थीं; किन्तु श्रृङ्गार करनेमें ही तन्मय नहीं रहती थीं। वह बाह्य सुन्दरताके साथ अपने हृदयको भी अच्छे२ गुणोंसे सुन्दर बनातीं थीं। वह कन्यायें योग्य अध्यापिकाओं अथवा साध्वीयोंके समीप रहकर समुचित ज्ञान प्राप्त करतीं थीं और प्रत्येक विषयमें निष्णात बननेकी चेष्टा करतीं थीं। उस समयकी एक वेश्या भी बहत्तरकला, चौसठ गुण और अठारह देशी भाषाओंमें पाराङ्गत होती थी। (विपाक सूत्र १-२)* संगीत विद्याका बहुत प्रचार था।

जीवंधरकुमारने गंधर्वदत्ता आदि कुमारिकाओंको वीणा बजानेमें परास्त करके विवाह किया था। सुरमंजरी और गुणमाला नामक वैश्य पुत्रियां वैद्य विद्याकी जानकार थीं। जीवंधरकी माता मयूरयंत्र नामक वायुयानमें उड़ना सीखती थीं[1]। ब्राह्मण कन्या नंदश्रीने राजा श्रेणिककी चतुराईकी खासी परीक्षा ली थी[2]। उस समय पढ़ लिखकर अच्छी तरह होशियार हो जानेपर कन्याओंके विवाह युवावस्थामें होते थे। जबतक कन्यायें युवा नहीं हो लेतीं थीं, तबतक उनका वाग्दान होजानेपर भी विवाह नहीं होता था। कनकलताको उसके निर्दिष्ट पतिसे इसी कारण अलग रहनेकी आज्ञा हुई थी[3]। बहुधा कन्यायें वरकी परीक्षा करके, उसे योग्य पानेपर अपना विवाह उसके साथ कर लेतीं थीं। युवावस्थामें विवाह होनेसे उसकी संतान भी बलवान और दीर्घजीवी होती थी। यही

× इंऐ० भा० २० पृ० २६। १-क्षत्रचूडामणि काव्य व भग० पृ० १९७-२३४। २-जैन० सू० पृ० [illegible]। ३-जैन० सू० पृ० ७७२।

कारण है कि तब विधवाओंका विलाप प्रायः नहींके बराबर सुनने को मिलता था। विधवा हुई स्त्रियां, फिर अधिक समय तक गृहस्थीमें नहीं रहती थीं। वे साध्वी होजातीं थीं अथवा उदासीन श्राविकाके रूपमें अपना जीवन बितातीं थीं। उनका चित्त सांसारिक भोगोपभोगकी ओर आकृष्ट नहीं होता था। हां, यदि भाग्यवशात् कोई कुमारी कन्या अथवा विधवा सन्मार्गसे विचलित हो जाती थी तो उसके साथ घृणाका व्यवहार नहीं किया जाता था। उन्हें सब ही धर्मकार्य करनेकी स्वाधीनता रहती थी।

चंपानगरकी कनकलताका अनुचित सम्बंध एक युवासे हो गया था। इसपर यद्यपि वे लज्जित हुये थे; परन्तु उनके धर्मकार्योंमें बाधा नहीं आई थी। वे पति-पत्नीवत् रहते हुये, मुनिदान और देवपूजन करते थे[1]। इसी तरह ज्येष्ठा आर्यिकाके भ्रष्ट होने पर, उसे प्रायश्चित और पुनः दीक्षा देकर शुद्ध कर लिया गया था[2]। महिलायें विपत्तिमें पड़नेपर बड़े साहससे अपने शीलधर्मकी रक्षा करतीं थीं और समाज भी इसी तरह पीड़ित हुई कन्याका अनादर नहीं करती थी। चंदनाका उदाहरण स्पष्ट है।[3] सारांशतः भगवान महावीरजीके समयमें महिलाओंका जीवन विशेष आदरपूर्ण और स्वाधीन था।

जिस देश अथवा समाजकी स्त्रियां विदुषी और ज्ञानवान होती हैं, वहांका पुरुष वर्ग स्वभावतः विद्यापटु और विचक्षण बुद्धिवाला होता है।

इस समयके वीर और पराक्रमी पुरुष।

१—उ० पु० पृ० ६४२। २—आक० भा० २ पृ० ५६। ३—उ० पु० पृ० ६३७।

भगवान महावीरके समयमें भारतके पुरुष ऐसे ही कला कुशल और विद्वान् थे। वह लोग बालकको, जहां वह पांच वर्षका हुआ, विद्याध्ययन करनेमें जुटा देते थे;[1] किन्तु उस समयकी पठन पाठन प्रणाली आजसे बिल्कुल निराली थी। तब किसी एक निर्णीत ढांचेके पढ़े-लिखे लोग विद्यालयोंसे नहीं निकाले जातेथे और न आजकलकी तरह 'स्कूल' अथवा 'कालेज' ही थे। उस समयके विद्वान् ऋषि ही बालकोंकी शिक्षा दीक्षाका भार अपने ऊपर लेते थे। सर्व शास्त्रों और कलाओंमें निपुण इन ऋषियोंके आश्रममें जाकर विद्यार्थी युवावस्थातक शास्त्र और शस्त्रविद्यामें निष्णात हो वापिस अपने घर आते थे। तक्षशिला और नालंदाके विद्या आश्रम प्रसिद्ध थे। जैन मुनियोंके आश्रम भी देशभरमें फैले हुए थे। विदेहमें धान्यपुरके समीप शिखिर भूधर पर्वतपरके जैन आश्रममें प्रीतंकर कुमार विद्याध्ययन करने गये थे[2]। मगध देशमें ऋषिगिरिपर भी जैन मुनियोंकी तपोभूमि थी[3]।

ऐसे ही अनेक स्थानोंपर आश्रमोंमें उपाध्याय गुरु बालक-बालिकाओंको समुचित शिक्षा दिया करते थे। विद्यार्थी पूर्ण ब्रह्मचर्यसे रहते थे; जिसके कारण उनका शरीर गठन भी खूब अच्छी तरह होता था। विद्याध्ययन कर चुकनेपर युवावस्थामें योग्य कन्याके साथ विवाह होता था। किन्तु विवाहके पहिले ही युवक अर्थोपार्जनके कार्यमें लगा दिये जाते थे। इसके साथ यह भी था कि कई युवक आत्मकल्याण और परोपकारके भावसे गृहस्थाश्रममें आते ही

१-जैप्र० पृ० २३१। २-उपु० पृ० ७२०-७३५। ३-मनि० भा० १ पृ० ९२-९३। ४-जैप्र० पृ० २२६-२२७।

न थे। वे साधु होकर कल्याणके कार्यमें लग जाते थे। सब लोग अपने २ वर्णके उपर्युक्त साधनों द्वारा ही आजीविकोपार्जन करते थे। किन्तु ऐसा करते हुये वे सचाई और ईमानदारीको नहीं छोड़ते थे। लाखों करोड़ों रुपयोंका व्यापार दूर२के देशोंसे बिना लिखा पढ़ीके होता था। विदेह व्यापारका केन्द्र था। बनारस, राजगृह, ताम्रलिप्ति, विदिशा, उज्जैनी, तक्षशिला आदि नगर व्यापारके लिये प्रसिद्ध थे।[१] रौहकनगर, सुरपारक (सोपारा बम्बईके पास) भृगुकच्छ (भड़ौंच) आदि नगर उस समयके प्रसिद्ध बन्दरगाह थे।[२] इन बन्दरगाह तक व्यापारी लोग अपना माल और सामान गाड़ियोंमें और घोड़ोंपर लाते थे और फिर जहाजोंमें भरकर उसे विदेशोंमें लेजाते थे। सेठ शालिभद्र और प्रीतिंकर आदिकी कथाओंमें इसका अच्छा वर्णन मिलता है।

उस समयके भारतीय व्यापारी लंका, चीन, जावा, बेबीलोनिया, मिश्र आदि देशोंमें व्यापारके लिये जाया करते थे और खूब धन कमाकर लौटते थे। उनके निजी जहाज थे और वे मणि एवं मंत्रका भी प्रयोग करना जानते थे।[४] संतानको अच्छे संस्कारोंसे संस्कृत करनेका रिवाज भी चालू था। गरीब और अमीर सांसारिक कार्योंको करते हुये भगवद्भजन और जाप सामायिक करना नहीं भूलते थे।[५] राजा चेटक युद्धस्थलमें जिनेन्द्र प्रतिमाके समक्ष पूजा करते थे। किंतु व्रतोंको पालते हुये भी लोग दुष्टका

१-मया० पृ० ३८-४६। २-कैहि इं० पृ० २१२ व जराएसो० १९२७ पृ० १११। ३-एरि० भा० ९ पृ० ४१-४६। ४-इहिक्वा० भा० १ पृ० ६९३-६९६ व भा० २ पृ० ३८-४२. ५-जैप्र० पृ० २३०। ६-जैप्र० पृ० २२८। ७-जैप्र० पृ० २२८।

निग्रह करनेसे नहीं चूकते थे। राजाओंका तो यह कर्तव्य ही था; किंतु वणिक लोग भी शस्त्रविद्यामें निपुण होते थे और वक्त पड़नेपर उससे काम लेना जानते थे।[1] प्रीतिंकरने भीमदेव नामक विद्याधरको परास्त करके राजकन्याकी रक्षा की थी। सचमुच उस समयके पुरुष पुरुषार्थी थे और उनके शिल्प कार्य भी अनूठे होते थे। सात२ मंजिलके मकान बनते थे और उनकी कारीगरी देखते ही बनती थी। सोनेके रथ और अम्बारियां दर्शनीय थे। उनके घोड़े और हाथियोंकी सेना जिस समय सजधजके निकलती थी, तो देवेन्द्रका दल फीका पड़ा नजर पड़ता था।[2] उस समयके चैत्य और मूर्तियां अद्भुत होतीं थीं[3]। उनके एकाध नमूने आज भी देखनेको मिलते हैं। लोग बड़े पुरुषार्थी, दानी और धर्मात्मा थे। सारांशतः उस समयकी सामाजिक स्थिति आजसे कहीं ज्यादा अच्छी और उदार थी।

धार्मिक स्थिति।

उस उदार सामाजिक स्थितिमें रहते हुये, भारतीय अपनी धार्मिक प्रवृत्तिमें भी उत्कृष्टताको पाचुके थे। जिस समय भगवान महावीरजीका जन्म भी नहीं था, उसके पहिलेसे ही यहां वैदिक क्रियाकाण्डकी बाहुल्यता थी। धर्मके नामपर निर्मूक और निरपराध जीवोंकी हत्या करके यज्ञ-वेदियां रक्त-रंजित की जातीं थीं। कल्पित स्वर्गसुखके कालचमें इतर समाज ब्राह्मणोंके हाथकी कठपुतली बन रहा था। उन्हें न बोलनेकी स्वाधीनता थी और न ज्ञान काम करनेकी खुली आज्ञा।

१-जैप्र० पृ० २२९। २-मम० पृ० ५८। ३-उपु० पृ० ७५०। ४-मम० पृ० ५२-५६।

किंतु यह 'पोमडम' अधिक दिनोंतक नहीं चल सका, यह हम देख चुके हैं और जानते हैं। भगवान पार्श्वनाथजीके सदुपदेशसे मानवोंको ज्ञान नेत्र मिल गये थे। अनेकों मत प्रवर्तक हर किसी जातिमेंसे अगाड़ी आकर विना किसी भेद भावके प्रचलित धार्मिक क्रियाकाण्डके विरोधमें अपना झंडा फहराते विचर रहे थे। शासक समुदाय इन लोगोंको आश्रय देनेमें संकोच नहीं करता था। फिर इसी समय भगवान महावीर और म० बुद्धका जन्म हुआ। लोगोंके भाग्य खुल गये। आत्म-स्वातंत्र्यका युग प्रवर्त गया। दोनों महापुरुषोंने वैदिक कर्मकाण्डकी असारता और उसका घोर हिंसक और भयावह रूप प्रकट कर दिया।

जैन ग्रन्थोंमें कई स्थलोंपर ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिनमें जैनोंने लोगोंके हृदयोंपर यज्ञमें होनेवाली हिंसाका क्रूर परिणाम अंकित करके उन्हें अहिंसामार्गी बना दिया था[२]। साथ ही उस समय वृक्षोंकी पूजा और गंगा नदियोंमें स्नान अथवा जाति और कुलको धर्मका कारण मानना पुण्यकर्म समझे जाते थे। जैन शिक्षकोंने बड़ी सरल रीतिसे इनका भी निराकरण कर दिया था; जिसका प्रभाव जनतापर काफी पड़ा था। वह बड़ी ही सुगमतासे अपनी भूल समझ सकी थी। इस सबका परिणाम यह हुआ कि अहिंसाकी दुन्दुभि चहुंओर बजने लगी और महावीर स्वामीके जयघोषके निनादसे आकाश गूंज गया।

१–भमबु० पृ० १४–१७। २–प्रच० पृ० ३३५–३३६ व उसू० २५ (Pt. II. pp. 139–140) ३–प्रेच० पृ० ३३२–३३८ व उपु० पृ० ६२४–६२६।

तब और अबका जैनधर्म! जैनधर्म जैसा आज मिल रहा है, उसका ठीक वैसा ही रूप उस समय था, यह मान लेना जरा कठिन है; क्योंकि जब इसी जमानेके किसी मतप्रवर्तकके सिद्धान्त ठीक वैसे नहीं रहते, जैसे वह बनाता है; तब यह कैसे संभव है कि ढाई हजार वर्ष पहिले प्रतिपादित हुआ धर्म आज ज्योंका त्यों मिल सके! किन्तु इतनी बात निःसन्देह सत्य है कि जैनधर्मके दार्शनिक और सैद्धांतिक रूपमें बिलकुल ही नहीं, कुछ अन्तर पड़ा है। इसका कारण यह है कि जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है। विज्ञान सत्य है। वह जैसा है वैसा हमेशा रहता है। इसी लिये जैनधर्मका दार्शनिक रूप आज भी ठीक वैसा ही मिलता है, जैसा उसे भगवान महावीरने बतलाया था। इसका समर्थन बौद्ध ग्रन्थोंसे होता है; जहां जैनोंके प्राचीन दार्शनिक सिद्धांत ठीक वैसे प्रतिपादित हुये हैं, जैसे आज मिलते हैं[1]। और इसप्रकार यह कहा जासक्ता है कि भगवान महावीरके मूल धर्मसिद्धांत आज भी अविकृतरूपमें मिल रहे हैं-सिर्फ अन्तर यदि है तो उनके द्वारा बताये हुए कर्मकांड अथवा चारित्र सम्बंधी नियमोंमें है। अतः उस समयके धार्मिक क्रियाकांडपर एक नजर डाल लेना उचित है।

उस समयका मुनिधर्म। पहिले ही मुनिधर्मको ले लीजिये। इस समय यह मतभेद है कि जैन मुनिका भेष मूलमें नग्न था अथवा वस्त्रमय भी था; किंतु बौद्धशास्त्रोंके आधारसे यह प्रगट किया जाचुका है कि जैन मुनि नग्न भेषमें रहते थे और उनकी क्रियायें प्रायः वैसी ही थी जैसी कि आज दिगम्बर जैन

१-ममबु पृ० ११७-२७०।

मुनियोंकी मिलती हैं[1]। वह दाताके घर जाकर जो शुद्ध आहार विधिपूर्वक मिलता था, उसको ग्रहण कर लेते थे। यह बात नहीं थी कि वह भिक्षा मांगकर उपाश्रयमें ले आकर उसे भक्षण करते हों। आजीविक साधु ऐसा करते थे। इसी कारण श्वेतांबरोंने उन-पर आक्षेप किया है[2]। एक बात और है कि उस समय मुनिधर्म पालन करनेका द्वार प्रत्येक व्यक्तिके लिये खुला हुआ था। चोर, डाकू, व्यभिचारी, पतित इत्यादि पुरुष भी मुनि होकर आत्म-कल्याण कर सके थे। अंजनचोरकी कथा प्रसिद्ध है—वह मुनि हुआ था। सूरदत्त डाकू मुनि होकर मुक्तधामका वासी हुआ था। सात्यकि व्यभिचार कर चुकनेपर पुनः दीक्षित हो मुनि होगये थे। व्यभि-चारजात रुद्र मुनि ग्यारह अंगका पाठी विद्वान् साधु था। ऐसे ही उदाहरण और भी गिनाये जासक्ते हैं, किंतु यही पर्याप्त हैं। इस उदारताके साथ२ उस समय जैन मुनियोंमें यह विशेषता और थी कि वह अष्टमी और चतुर्दशी इत्यादि पर्वके दिनोंमें बाजारके चौराहोंपर खड़े होकर जैनधर्मका प्रचार करते थे और मुमुक्षुओंकी शङ्काओंका समाधान करके उनको जैनधर्ममें दीक्षित करते थे। इस क्रिया द्वारा उनके अनेकों शिष्य होते थे[6]। इन नव दीक्षित जैनोंके यहां वह आहार लेनेमें भी संकोच नहीं करते थे। भक्तामरचरित्र काव्य २१ की कथासे यह स्पष्ट है[7]। उस समयके मुनि बड़े

१—भमबु० पृ० ५४—६५। २—औपपातिक सूत्र १२०। ३—आक० भा० १ पृ० ७४। ४—आक० भा० १ पृ० १५५। ५—आक० भा० २ पृ० १००—१०१। ६—भमबु पृ० २४० व विनयपिटक। ७—जैप्रं०, पृ० २४०।

विद्वान् और सर्वथा अरण्यमें रहकर ज्ञान ध्यानमें लीन रहते थे। इस प्रकार उस समयका मुनिधर्म था।

मुनियोंकी तरह आर्यिकाओंकी भी उस समय बाहुल्यता थी; यह आर्यिकायें भी जैनधर्म प्रचारमें बड़ी सहायक थीं। गरीब और अमीर—सराय और महल सबमें इनकी पहुंच थी। बनारसके राजा जितारिकी राजकन्या मुण्डिकाको वृषभश्री आर्यिकाने श्राविका बनाया थी।[1] राजगृहके कोठारीकी पुत्री भद्राकुन्दलकेशाने अपना विवाह विप्र पुत्र सत्थुकके साथ किया था; जिसे डकैतीके लिये राजदंड मिल चुका था। सत्थूक भद्रासे इतना प्रेम नहीं करता था, जितना कि वह उसके गहनोंको चाहता था, भद्रा उसके इस व्यवहारसे बड़ी दुखी हुई। एक रोज उसने उसे धोकेसे एक गढ़ेमें ढकेल दिया और वह भयभीत होकर जैन संघमें आकर आर्यिका होगई[2]। एक हत्यारी और विषयलम्पट स्त्री भी संबोधिको पाकर जैन साध्वी हो गई। उसके मार्गमें कोई बाधा नहीं आई। इससे भगवान महावीरके आर्यासंघका विशालरूप स्पष्ट है। जिस समय यह भद्रा जैनसंघमें पहुंची तो उस समय इससे पूछा गया था कि वह किस कक्षाकी दीक्षा ग्रहण करना चाहती है? उत्तरमें उसने सर्वोत्कृष्ट प्रकार अर्थात् आर्यिकाके व्रत लेना स्वीकार किये थे। इसपर उसने केश-लोंच करके जैन आर्यिकाका भेष धारण किया था। वह एक वस्त्र धारण किये रहती थी। मैले—कुचैले रहनेका उसे कुछ ध्यान न था। इसके विपरीत उदासीन व्रती श्राविका बालोंको मुण्डाये रहती

उस समयकी आर्यिकाओंका धर्म।

१–बकौ० पृ० ९८। २–भमबु पृ० २५९–२६०।

थीं, पृथ्वीपर सोतीं थीं और सूर्यास्त होनेके पश्चात् भोजनपान नहीं करतीं थीं[१]। इस तरहका आर्यिका धर्म उस जमानेका था।

तत्कालीन श्रावकाचार।

भगवान महावीरजीके समयका श्रावकाचार उन्नत और विशाल था। उसमें पाखण्ड और मिथ्यात्वको स्थान प्राप्त नहीं था। श्रावक और श्राविका नियमित रूपसे देवपूजन, गुरु उपासना और दान कर्म किया करते थे।[२] वे नियमसे मद्य मांसादिका त्याग करके मूल गुणोंको धारण करते थे।[३] व्रत और उपवासोंमें दत्तचित्त रहते थे। अष्टमी और चतुर्दशीको मुनिवत् नग्न होकर प्रतिमायोग धारण करके स्मशान आदि एकांत स्थानमें आत्मध्यानका अभ्यास किया करते थे।[४] किंतु त्यागी होते हुये भी आरंभी हिंसासे विलग नहीं रहते थे। वे कृषि कार्य भी करते थे।[५] तथापि बड़े चतुर और ज्ञानवान होते थे। अनेकोंसे शास्त्रार्थ करनेके लिये तैयार रहते थे। आजकलके श्रावकोंकी तरह धर्मके विषयमें परमुखापेक्षी नहीं रहते थे। उस समय मुद्रा व दुपट्टा रखकर श्रावक लोग शास्त्रार्थ करनेका आम चैलेंज देते थे। कांपिल्यके कुन्दकोलिय जैनने मुद्रा और दुपट्टा रखकर शास्त्रार्थ किया था।[६] जैन स्तूपों आदिकी खुदाई होनेपर ऐसी मुद्रायें निकली हैं।[७] श्राविकायें भी इन शास्त्रार्थोंमें भाग लेती थीं।[८] इस क्रिया द्वारा धर्मका बहुप्रचार होता था और श्रावकोंकी संख्या बढ़ती थी। जीवंधरकुमारने एक

१–ममबु० पृ० २५८–२६०। २–जैप्र० पृ० २३४। ३–जैप्र० पृ० २३२। ४–ममबु० पृ० २०६–२०७। ५–जैप्र० पृ० २३४। ६–उसू० व्या० ६। ७–दिजै० भा० २१ अंक १–२ पृ० ४०। ८–ममबु० पृ० २५८।

अजैन तपस्वीको जैनधर्मका उपदेश देकर जैनी बनाया था। इसी तरह उन्होंने एक अन्य गरीब शूद्र वर्णके मनुष्यको जैनधर्मका श्रद्धानी बनाकर उसे अपने आभूषण आदि दिये थे।[1]

गृहस्थ धर्मका पालन करनेका अधिकार प्रत्येक प्राणीको था। श्रावक लोग नवदीक्षित जैनीके साथ प्रेममई व्यवहार करके वात्सल्यधर्मकी पूर्ति करते थे। उसके साथ जातीय व्यवहार स्थापित करते थे। जिनदत्त सेठने बौद्धधर्मी समुद्रदत्त सेठके जैन होजानेपर उसके साथ अपनी कन्या नीलीका विवाह किया था[2]। खानपानमें शुद्धिका ध्यान रक्खा जाता था; किन्तु यह बात न थी कि किसी इतर वर्णी पुरुषके यहांके शुद्ध भोजनको ग्रहण करनेसे किसीका धर्म चला जाता हो! राजा उपश्रेणिकने भील कन्यासे शुद्ध भोजन बनवाकर ग्रहण किया था। (आक० भा० २ पृ० ३३) जैन मंदिरोंका द्वार प्रत्येक मनुष्यके लिये खुला रहता था। चम्पाके बुद्धदास और बुद्धसिंह जैन मंदिरके दर्शन करने गये थे और अंतमें वह जैनी होगये थे।[3] पशु तक भगवानका पूजन कर सक्ते थे। कुमारी कन्याको पत्नीवत ग्रहण करके उसके साथ रहनेवाले पुरुषके यहां मुनिराजने आहार लिया था। आजकल ऐसे व्यक्तियोंको 'दस्सा' कहकर धर्माराधन करनेसे रोक दिया जाता है; किंतु उस समय 'दस्सा' शब्दका नामतक नहीं सुनाई पड़ता था। किसी भी व्यक्तिके धर्मकार्योंमें बाधा डालना उस समय अधर्मका कार्य समझा जाता था। और न उस समय अग्नि पूजा, तर्पण आदिको धर्मका अंग

१-क्षत्रचूड़ामणि लम्ब ६ श्लो० ७-९ व लम्ब ७ श्लो० २३-३०। २-आक० भा० २ पृ० २८। ३-सकौ० पृ० १०५। ४-उपु० पृ० ६४२।

माना जाता था। सामान्यतः उस समयके धर्मका यह विशालरूप है।

इस प्रकार उस समयके भारतकी परिस्थिति थी और वह आजसे कहीं ज्यादा सुघर और अच्छी थी। प्रत्येक प्राणी स्वाधीन और पराक्रमी था। रूढ़ियोंकी गुलामी, धार्मिकताका अंधविश्वास अथवा रुपये पैसेकी चाकरी उस समय लोगोंमें छू नहीं गई थी। सब प्रसन्न और आनन्दमई जीवन बिताते थे। इनका उल्लेख ही उस समय नहीं मिलता है। हां, एक बातका बहुत उल्लेख मिलता है। वह यह कि वैराग्य होनेपर मुमुक्षु पुरुषोंको न राज्यका लालच, न स्त्री पुत्रोंका मोह और न धन-संपदाका लोभ साधु होनेसे रोक सक्ता था। यह तो एक नियम था कि अंतिम जीवनमें प्रायः सब ही विचारवान गृहस्थ साधु होकर आत्मज्ञान और जनकल्याणके कार्य करते थे; किंतु ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनमें वैराग्यको पाकर व्यक्ति भरी जवानीमें मुनि होगए थे।*

(७)

भगवान महावीरका निर्वाणकाल।

निर्वाण-कालकी असम्बद्धता। भगवान महावीरजीके निर्वाणकी दिव्य घटनाको आजसे करीब ढाईहजार वर्ष पहले अर्थात ईस्वी सन् ५२७ वर्ष पहले घटित हुआ माना जाता है। जैनोंमें आजकल निर्वाणाब्द इसी गणनाके अनुसार प्रचलित है। किन्तु उसकी गणनामें अन्तर है; जिसकी ओर मि० काशीप्रसाद जायसवाले,[1] प्रो० जैकोबी[2] और पं० बिहारीलालजी[3] जैनोंका ध्यान

* जैप्र० पृ० २३१। १-जबिओसो, भा० १ पृ० ९९। २-वीर पर्व। ३-बृजैश० पृ० ८।

आकर्षित कर चुके हैं। महावीरस्वामीके निर्वाण जैसी प्राचीन घटनाका ठीक पता न रखना सचमुच जैनोंके लिये एक बड़ी लज्जाकी बात है। और आज इस पुरानी बातका बिलकुल ठीक पता लगा लेनेका वायदा करना धृष्टता मात्र है। इतनेपर भी उपलब्ध प्रमाणोंसे जिस निरापद मन्तव्यपर हम पहुंचेंगे उसे प्रगट करना अनुचित नहीं है। दुर्भाग्यवश आजसे करीब डेढ़ हजार वर्ष पहले भी वीर निर्वाणाब्दके विषयमें विभिन्न मत थे। लगभग तीसरी शताब्दिके ग्रंथ 'त्रिलोक प्रज्ञप्ति' की निम्नगाथाओंसे वे इसप्रकार प्रगट हैं:—

'वीरजिणं सिद्धिगदे चउसदइगिसट्ठि वासं परिमाणो।
कालंमि अदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सगराओ ॥ ८६ ॥
अहवा वीरे सिद्धे सहस्सणवकंमि सगसयब्भहिये।
पणसीदिमि यतीदे पणमासे सगणिओ जादा ॥ ८७ ॥
॥ पाठान्तरं ॥
चोद्दस सहस्स सगसय तेणउदी वास काल विच्छेदे।
वीरेसरसिद्धीदो उप्पण्णो सगणिओ अहवा ॥ ८८ ॥
॥ पाठान्तरं ॥
णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु।
पणमासेसु गदेसुं संजादो सगणिओ अहवा ॥ ८९ ॥

अर्थ—"वीर भगवानके मोक्षके बाद जब ४६१ वर्ष बीत गये तब यहांपर शक नामका राजा उत्पन्न हुआ। अथवा भगवानके मुक्त होनेके बाद ९७८५ वर्ष ५ महीने बीतनेपर शक राजा हुआ। (यह पाठान्तर है) अथवा वीरेश्वरके सिद्ध होनेके १४७९३ वर्ष बाद शक राजा हुआ (यह पाठान्तर है) अथवावीर भगवानके निर्वाणके ६०५ वर्ष और ५ महीने बाद शकराजा हुआ।" (जैहि०, भा० १३ पृ० ३१)

वीर निर्वाण सम्वत् पहलेसे प्रचलित है और विभिन्न मत।

ईस्वी सन्‌की प्रारम्भिक शताब्दियोंमें ही निर्वाणस्थिति विषयके इस प्रकार विभिन्न मतोंको देखकर किन्हीं लोगोंकी धारणा होजाती है कि पहले निर्वाणाब्द प्रचलित नहीं था। वह बादमें किन्हीं लोगों द्वारा चला दिया गया है। किंतु इस कल्पनामें कुछ भी तथ्य नहीं है; क्योंकि वीर निर्वाणाब्द ८४का एक शिलालेख बारली ग्रामसे मिला है जो अजमेरके अजायब घरमें मौजूद है। हतभाग्यसे यह शिलालेख टूटा हुआ अधूरा है। इस कारण उसके आधारपर निर्वाणाब्दका पता नहीं चल सक्ता है। तो भी उसमें माध्यमिका नगरीका उल्लेख, जिसपर हिन्दुओंका अधिकार ई० पूर्व दूसरी शताब्दि तक रहा था, इस बातका द्योतक है कि इस समयके बहुत पहले जब वहांपर जैनोंका प्राबल्य था तब यह शिलालेख लिखा गया था। अतएव भगवान महावीरकी निर्वाण तिथि ईस्वी सन्‌से हजारों वर्ष पहले नहीं मानी जासक्ती। ऐसी मान्यता शेखचिल्लीकी कहानीसे कुछ अधिक महत्व नहीं रखती। अब रही अवशेष मतोंकी बात, सो उनपर अलग २ विवेचन करना उचित है। आजकल वीरनिर्वाण तिथिके सम्बंधमें निम्नलिखित मत मिलते हैं:—

(१) शकराजाके उत्पन्न होनेसे ४६१ वर्ष पहले वीर भगवानका निर्वाण हुआ।

(२) शक राजाके होनेसे ६०५ वर्ष ५ महीने पहले वीर प्रभु मोक्ष गए।

(३) ईस्वीसन्‌से ५२८ वर्ष पहले वीरनिर्वाण हुआ।

(४) विक्रमाब्दसे ५६० वर्ष पहले महावीरजी मोक्ष गये ।

(५) शकाब्दसे ७४१ वर्ष पहले वीर भगवानका निर्वाण हुआ ।

(६) विक्रम राजाके जन्मसे ४७० वर्ष पहले महावीरस्वामी मुक्त हुये ।

प्रथम मतके अनुसार वीर-निर्वाणको माननेपर प्रश्न होता है कि यह शक राजा कौन था? इस मतका प्रतिपादन 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति'में निम्न गाथाओं द्वारा हुआ है:-

"णिव्वाणगदे वीरे चउसदइगिसट्ठि वासविच्छेदे ।
जादो च सगणरिंदो रज्जं वस्सस्स दुसय बादाला ॥६३॥
दोण्णि सदा पणवण्णा गुत्ताणं चउमुहस्स बादालं ।
वस्सं होदि सहस्सं केई एवं परूवंति ॥ ६४ ॥"

अर्थात्—'वीर निर्वाणके ४६१ वर्ष बीतनेपर शक राजा हुआ और इस वंशके राजाओंने २४२ वर्ष राज्य किया । उनके बाद गुप्तवंशके राजाओंका राज्य २५५ वर्षतक रहा और फिर चतुर्मुख (कल्कि) ने ४२ वर्ष राज्य किया । कोई२ लोग इस तरह एक हजार वर्ष बतलाते हैं ।'

इन गाथाओंके कथनसे यह स्पष्ट है कि गुप्तवंशके पहले भारतमें जिस शकवंशका अधिकार था, उसमें ही यह शक राजा हुआ था । और उसका उल्लेख जैन ग्रन्थोंमें खूब मिलता है, इसलिये उसका सम्पर्क जैनधर्मसे होना संभव है । दंतकथाके अनुसार शक संवत् प्रवर्तक रूपमें यह राजा जैन धर्मभुक्त प्रगट है। किंतु आधुनिक विद्वानोंको इस शकराजाको शक संवत् प्रवर्तक मानना कुछ ठीक नहीं जंचता । यदि उनको द्वितीय मतके अनुसार ६०५ वर्ष ५ मास वीरनिर्वा-

प्रथम मतपर विचार ।

णके उपरान्त हुआ मानें तो शायद किसी अंशमें ठीक भी हो; परन्तु उन्हें तबसे ४६१ वर्ष पश्चात् हुआ मानकर शक संवत् बतलाना प्रचलित शक-संवत्की गणनासे बाधित है। इस दशामें शक-संवत् प्रवर्तकको ही जैन ग्रन्थोंका शकराजा मान लेना जरा कठिन है। इसके साथ ही शक-संवत् प्रवर्तकका ठीक पता भी नहीं चलता! कोई कनिष्क द्वारा इस संवत्का प्रारम्भ हुआ बताते हैं, तो अन्योंका मत है कि नहपान अथवा चष्टनने इस संवत्को चलाया था। किंतु ये सब आधुनिक विद्वानोंके मत हैं और कोई भी निश्चयात्मक नहीं हैं।[1] इसके प्रतिकूल प्राचीन मान्यता यह है कि शक-संवत् शालिवाहन नामक राजा द्वारा शकोंपर विजय पानेकी याददाश्तमें चलाया गया था। इस प्राचीन मान्यताको ठुकरा देना उचित नहीं जंचता। रुद्रदामनके अन्धौवाले शिलालेखके आधारपर शक संवतको चलानेवाला गौतमी पुत्र शातकर्णी (शतवाहन या सालिवाहन) प्रगट होता है।

गौतमी पुत्रने अपने विषयमें स्पष्ट कहा है कि उसने शकों, पल्हवों और यवनों एवं क्षहरातवंशको जड़मूलसे नष्ट करके सातवाहन वंशका पुनरुद्धार किया था। किंतु कोई विद्वान इसे सन् १२० के लगभग हुआ बताते हैं और इस समय उसका नहपानसे युद्ध करके विजयोपलक्षमें संवत् चलाना ठीक नहीं बैठता; क्योंकि शकसंवत सन् ७८ ई० से प्रारम्भ होता है। इसी कारण सातवाहन वंशके हालनामक राजाको इस संवतका प्रवर्तक कहा जाता है।[2] किंतु अब उपरोक्त अन्धौवाले शिलालेखसे नहपानका समय

१—जमीसो०, भा० १७ पृ० ३३४। २—जमीसो०, भा० १७ पृ० ३३५—३३६।

ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दिका अंतिम भाग प्रमाणित होता है। इस अवस्थामें गौतमीपुत्र शातकर्णीका समय भी सन् १२० के बहुत पहले प्रगट होता है और यह उचित जंचता है कि उसने क्षहरात वंशजोंको सन् ७०-८० के लगभग परास्त किया था। अतः यह समय शक संवतके प्रारम्भकालसे ठीक बैठता है और शालिवाहन (गौतमीपुत्र शातकर्णी) द्वारा उसका चलाया जाना तथ्यपूर्ण प्रतीत होता है।[1] इस दशामें जैन शास्त्रोंमें जिस शक राजाका उल्लेख है वह शक संवतका प्रवर्तक नहीं होसक्ता क्योंकि वह शकवंशका राजा था! पहलेके जैन शिलालेखों और 'राजा वलीकथे' से भी इस बातका समर्थन होता है; जैसे कि हमाँ अगाड़ी देखेंगे।

नहपान ही शकराजा है। अतः दूसरा मत मान्य नहीं है।

तो अब देखना चाहिये कि जैन शास्त्रोंका शक राजा कौन था? जैनोंके अनुसार उसका वीर निर्वाणसे ४६१ या ६०५ वर्ष बाद होना, उसके वंशका २४२ वर्ष तक राज्य करना और उनके बाद गुप्तवंशी राजाओंका अधिकारी होना प्रगट है। भारतीय इतिहासमें गुप्तवंशके पहले क्षत्रपवंशी राजाओंका राज्य प्रख्यात था। यह शक जातिके विदेशी लोग थे। तब इनमें क्षहरात शाखाके राजा प्रबल थे; जिसकी स्थापनाका मुख्य श्रेय नहपानको प्राप्त है। नहपानके बाद सन् ३८८ ई० तक इस वंशमें कई राजा हुए थे। अन्तमें गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्तने इन्हें जीत लिया था। इसप्रकार इनका राज्यकाल लगभग ढ़ईपौ वर्षोंतक

१-प्रवीओ०, भा० १८ पृ० ६९-७१।

प्रकट है।[1] इन बातोंका सादृश्य जैनोंके उपरोक्त उल्लेखसे है। साथ ही आजकल जो नहपानका अंतिम समय ई० पूर्व ८२ से १२४ ई० तक माना जाता है वह भी जैनोंकी प्राचीन मान्यतासे ठीक बैठता है; क्योंकि उनके अनुसार वीर निर्वाणसे ४६१ से ६०५ वर्ष बाद तक शक राजा हुआ था। अब यदि वीर निर्वाण ई० पूर्व ५४५ में माना जाय, जिसका मानना ठीक होगा, जैसे हम अगाड़ी प्रगट करेंगे, तो उक्त समय ई० पूर्व ८४ से ई० ६० तक पहुंचता है। चूँकि यह समय शक राजाके उत्पन्न होनेका है। इसलिये इसका सामञ्जस्य नहपानके उपरोक्त अंतिम समयसे करीब२ ठीक बैठता है। इसके साथ ही नहपानका जैन सम्बंध भी प्रगट है। जैन शास्त्रोंमें नहपानका उल्लेख नरवाहन, नरसेन, नहवाण और नभोवाहण रूपमें हुआ मिलता है। 'त्रिलोकपज्ञप्ति' में उसका उल्लेख नरवाहन रूपमें हुआ है।[2] एक पट्टावलीमें उन्हें 'नहवाण' के नामसे उल्लिखित किया है।[3] इस नाममें नहपानसे प्रायः नाम मात्रका अन्तर है। इसी कारण श्रीयुत् काशीप्रसाद जायसवाल[4] और पं० नाथूरामजी प्रेमीने नरवाहनको नहपान ही प्रगट किया है।[5]

१–भाप्राारा०, भा० १ पृ० १२–१६। २–जैहि०, भा० १३ पृ० ५३३–यहांपर शायद यह आपत्ति हो सकती है कि यदि त्रिलोकप्रज्ञप्तिके कर्ताको शकराजा नामसे नहपानका उल्लेख करना था, तो उन्हें ९३–९४ गाथाओंमें शकराजके स्थानपर नरवाहन नाम लिखना उचित था। इसके उत्तरमें हम यही कहेंगे कि 'त्रि०प्र०' के रचना कालके समय इस बातका पता लगाना कठिन था कि नहपान और शकराजा एक ही थे। विशेषके लिये देखो वीर वर्ष ६। ३–ऐं०, भा० ११ पृ० २५१। ४–जैसा ए०, भा० १ अं० ४ पृ० २११। ५–जैहि० भा० १३ पृ० ५२४।

उधर विबुध श्रीधरकी कथासे नरवाहन राजाका जैन सम्बंध प्रगट है; जिसके अनुसार दिगम्बर जैन सिद्धांत ग्रन्थोंके उद्धारक मुनि भूतबलि नामक आचार्य वही हुए थे।[1] नहपानका एक विरुद 'भट्टारक' था[2] और यह शब्द जैनोंमें रूढ़ है। तथापि नहपानके उत्तराधिकारियोंमें क्षत्रप रुद्रसिंहका जैनधर्मानुयायी होना प्रगट है।[3] अतएव नरवाहनका नहपान होना और उन्हें जैनधर्मानुयायी मानना उचित प्रतीत होता है। इस अवस्थामें पूर्वोक्त पहले दो मतोंके अनुसार वीर निर्वाण शकाब्दसे ४६१ वर्ष अथवा ६०५ वर्ष ५ मास[4] पूर्व मानना ठीक प्रमाणित नहीं होता; क्योंकि जैन शास्त्रोंका शकराजा शक संवतका प्रवर्तक नहीं था, वह नहपान था।

निर्वाणकाल ई० पू० ४६८ नहीं होसक्ता।

तीसरा मत प्रो० जॉर्ल चारपेन्टियरका है; जिसका स्थापन उन्होंने 'इन्डियन एन्टीक्वेरी' भा० ४३ में किया है। उनके मतसे वीर-निर्वाण ई० पू० ४६८में हुआ था। उनने अपने इस मतकी पुष्टिमें पहले ही दिगम्बर और श्वेताम्बरोंके उस मतके निरापद होनेमें शङ्का की है, जिसके अनुसार सन् ५२७ ई० पूर्व वीरनिर्वाण माना जाता है। किन्तु इसमें जो वह दिगम्बरोंके अनुसार बिक्रमसे ६०५ वर्ष पूर्व वीरनिर्वाण बतलाते हैं, वह गलत है। किसी भी प्राचीन दिगम्बरग्रंथमें विक्रमसे ६०५ वर्ष पहले वीर निर्वाण होना नहीं

१–सिद्धांतसारादि संग्रह, पृ० ३१६–३१८। २–राइ०, पृ० १०३। ३–इंऐ०, भा० २० पृ० ३६३। ४–त्रिलोकसार गा० ८५०–त्रिलोकसारके टीकाकार एवं उनके बादके लोगोंको शकराजासे मतलब विक्रमादित्यसे भ्रमवश था। असलमें वह नहपानका द्योतक है।

लिखा है; बल्कि विक्रमके जन्मसे ४७० वर्ष पहले महावीरका मोक्षगमन बताया गया है। शायद प्रो० सा० को यह भ्रम, उपरान्तके कतिपय जैन लेखकोंके अनुरूप, 'त्रिलोकसार'की ८५०वीं गाथाकी निम्न टीकासे होगया है; जिसमें शक राजाको 'विक्रमाङ्क' कहा है। "श्री वीरनाथनिवृते सकाशात् पंचोत्तरषट्शतवर्षाणि पंचमासयुतेन गत्वा पश्चात् विक्रमाङ्कशकराजो जायते।" यहांपर विक्रमाङ्क शक राजाका विशेषण है। वह विक्रमादित्य राजाका खास नामसूचक नहीं है। इस कारण त्रिलोकसारके मतानुसार विक्रमसे ६०५ वर्ष ५ मास पहले वीर निर्वाण नहीं माना जासक्ता और वह शकाब्दसे भी इतने पहले हुआ नहीं स्वीकार किया जासक्ता; यह पहले ही लिखा जाचुका है। श्वेताम्बरोंके ग्रन्थ 'विचारश्रेणि'की विक्रमसे ४७० वर्षपूर्व वीर निर्वाण हुआ प्रगट करनेवाली गाथाओंका समर्थन उससे प्राचीनग्रंथ 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' से होता ही है और उधर बौद्ध सं० ई० पूर्व ५४३ से प्रारम्भ हुआ खारवेलके शिलालेखसे प्रमाणित है।[1] इसलिये वह ई० पू० ४७७ में नहीं माना जासक्ता। तथापि उसके साथ वीर निर्वाण संवत् ई० पू० ४६८ से मानना भी बाधित है; क्योंकि यह बात बौद्धशास्त्रोंसे स्पष्ट है कि म० बुद्धके जीवनकालमें ही भ० महावीरका निर्वाण होगया था।[2] उक्त प्रो० सा० इस असम्बद्धताको स्वयं स्वीकार करते हैं। मि० काशीप्रसाद जायसवालने प्रो० सा०के इस मतका निरसन अच्छी तरह कर दिया है।[3] अतएव इस मतको मान्यता देनेमें भी हम असमर्थ हैं।

१–जबिओसो०, भा० १ पृ० ९९–१०५। २–मज्झिम० २।२४३ व दीनि० भा० ३ पृ० १। ३–इंऐ०, भा० ४९ पृ० ४३...।

विक्रमाङ्कसे ५५० पूर्व भी निर्वाणकाल नहीं होसक्ता।

चौथा मत श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमीका है और उसके अनुसार विक्रमाब्दसे ५५० वर्ष पहले वीर प्रभू मोक्ष गये प्रगट होते हैं।[१] इस मतका आधार श्री देवसेनाचार्य और श्री अमितगति आचार्यका उल्लेख है; जिनमें समयको निर्दिष्ट करते हुए 'विक्रमनृपकी मृत्युसे' ऐसा उल्लेख किया गया है। होसक्ता है कि इन आचार्योंको विक्रमसंवतको उनकी मृत्युसे चला माननेमें कोई गलती हुई हो; क्योंकि विक्रमकी मृत्युके बाद प्रजा द्वारा इस संवतका चलाया जाना कुछ जीको नहीं लगता। 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें इस मतका उल्लेख नहीं मिलता है। यदि इस मतको मान्यता दीजाय तो सम्राट् अजातशत्रुके राज्यकालमें भगवान महावीरका निर्वाण हुआ प्रगट नहीं होता और यह बाधा पूर्वोक्त तीन मतोंके सम्बन्धमें भी है। दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों एवं बौद्धोंके शास्त्रोंसे यह बिल्कुल स्पष्ट ही है कि महावीरजीके निर्वाण समय अजातशत्रुका राज्य था।[२] उसके राज्यके अंतिम भागमें यह घटना घटित हुई थी। अजातशत्रुका राज्यकाल सन् ५५२ से ५१८ ई० पू० अथवा सन् ५५४ से ५२७ ई० पू० प्रगट है।[३] विक्रमाब्दसे ५५० वर्ष पूर्व भगवानका मोक्षलाभ माननेसे वह सम्राट् श्रेणिकके राज्यकालमें हुआ घटित होता है और यह प्रत्यक्ष बाधित है। अतः इस मतको स्वीकार कर लेना भी कठिन है।

१–दर्शनसार पृ० ३६–३७। २–जबिओसो०, भा० १ पृ० ९९–११५ व उपु०। ३–जबिओसो०, भा० १ पृ० ९९–११५ व अहिंइं०, पृ० ३४–३८।

पांचवें मतके अनुसार शकाब्दसे ७४१ वर्ष पहले वीर भगवानका निर्वाण हुआ प्रगट होता है। उस मतका प्रतिपादन दक्षिण भारतके १८ वीं शताब्दिके शिलालेखोंमें हुआ है। जैसे दीपनगुड़ीके मंदिरवाले बड़े शिलालेखमें इसका उल्लेख यूं है;[1] "वर्द्धमानमोक्षगताब्दे अष्टत्रिंशदधिपंचशतोत्तरद्विसहस्रपरिगते शालिवाहनशककाले सप्तनवतिसप्तशतोत्तरसहस्रवर्षसंमिते भवनाम सवत्सरे" इसमें शाका ११९७में वीर सं० २५५८ होना लिखा है। वर्तमान प्रचलित सं०से इसमें १३७ वर्षका अन्तर है। इस अन्तरका कारण त्रिलोकसारके ८५०वें नं०की गाथाकी टीका है, जैसे कि हम ऊपर बता चुके हैं। दक्षिण भारतके दिगम्बर जैन इतिहास ग्रन्थ 'राजा वलीकथे' से भी इसका समर्थन होता है। उसमें लिखा है कि 'महावीरजी मुक्त हुये तब कलियुगके २४३८ वर्ष बीते थे और विक्रमसे ६०५ वर्ष पुर्व वह मुक्त हुये थे।'[2] उपरोक्त टीकाके कथनसे भ्रममें पड़कर ऐसा उल्लेख किया गया है और इस भ्रमात्मक मतको भला कैसे स्वीकार किया जासक्ता है ?

शकाब्दसे ७४१ वर्ष पूर्व भी भ्रांतमय है।

अंतिम मत है कि विक्रम जन्मसे ४७० वर्ष पहले महावीरस्वामीका निर्वाण हुआ था। और इस मतके अनुसार ही आजकल जैनोंमें वीरनिर्वाण संवत प्रचलित है। यह संवत् ताजा ही चला हुआ नहीं है बल्कि प्राचीन साहित्यमें भी इसका उल्लेख मिलता है।[3] किन्तु इसकी गणनामें पहलेसे

अन्तिम मत मान्य है।

१–मजैप्राजैस्मा०, पृ० ९८–९९। २–जैनमित्र, वर्ष ५ अंक ११ पृ० ११–१२। ३–ढाकाके लिखे हुएके गुटकेमें इसका उल्लेख है।

ही मूल हुई है। उसको देखनेके लिये यहांपर उन प्रमाणोंको उपस्थित करना उचित है, जिनके आधारसे यह गणना हुई है:—

(१) सत्तरि चदुसदजुत्तो तिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो।
अठवरस...सोडसवासेहि भम्मिए देसे ॥ १८ ॥

नंदिसंघ पट्टावली (जैसिभा०, कि० ४ पृ० ७५)

(२) सत्तरि चदुसदजुत्तो तिणकाले विक्कमो हवइ जम्मो।
अठवरस बाललीला, सोडसवासेहि भम्मये देसो ॥
रसपण वीसा रज्जो कुणंति मिच्छोपदेश संजुत्तो।
चालीस वरस जिनवर धम्मे पालेय सुरपयं लहियं ॥

॥ विक्रम प्रबंध ॥

(३) सरस्वती गच्छकी पट्टावलीकी भूमिकामें स्पष्टरूपसे वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका जन्म होना लिखा है; यथा:— "बहुरि श्री वीरस्वामीकूं मुक्ति गये पीछैं च्यारसौ सत्तर ४७० वर्ष गये पीछैं श्रीमन्महाराज विक्रम राजाका जन्म भया।"

(४) जं रयणि कालगओ अरिहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणि अवंति वई अभिसित्तो पालयो राया ॥
सट्ठी पालग रन्नो पण पण्णसंयतु होई नंदाणं।
अट्ठसयं मुरियाणं तीसच्चिअ पुस्समित्तस्स ॥
बलमित्त-भानुमित्ता सट्ठी वरिसाणि चत्तं नरवाहणो।
तह गद्दभिल्ल रन्नो तेरसवरिसा सगस्स चउ ॥

—तीर्थोद्वार प्रकीर्ण।

(५) वसुनंदि श्रावकाचारमें विक्रम शकसे ४८८ वर्ष पूर्व महावीर निर्वाण होना लिखा है। (देखो जैनमित्र, वर्ष ९ अंक ११ पृ० ११–१२)।

उपरोक्त सबही उल्लेखोंमें प्रायः भगवान महावीरसे ४७० वर्ष बाद विक्रमराजाका जन्म होना लिखा है और वर्तमान विक्रम संवत उनके राज्यकालसे चला हुआ मिलता है। यही कारण है कि वसुनंदि श्रावकाचारमें विक्रमसंवतसे ४८८ वर्षपूर्व वीरनिर्वाण हुआ निर्दिष्ट किया गया है; क्योंकि विक्रमके जन्मसे राज्याभिषेकको कालान्तर १८ वर्षका माना जाता है। इस अवस्थामें प्रचलित वीरनिर्वाण संवत्का संशोधन होना आवश्यक प्रतीत होता है। शायद उपरोक्त प्रमाणोंमें नं० ४ पर आपत्ति की जाय, जिसमें वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद शकराजाका राज्यान्त होना लिखा है। किन्तु यह बात ठीक नहीं है। यहांपर शकराजासे भाव शकारि-राजा विक्रमादित्यसे प्रगट होता है। डॉ० जैकोबी भी यही बात प्रगट करते हैं।[२] यदि ऐसा न माना जाय और शकराजासे भाव शक संवत प्रवर्तकके लिये जांय, तो उक्त गणनाके अनुसार चंद्रगुप्त मौर्यका अभिषेक काल ई० पूर्व १७७ वर्ष आता है और यह प्रत्यक्ष बाधित है। साथ ही उपरोक्त गाथाओंका गणनाक्रम आपत्तिजनक है, जैसे हमने अन्यत्र प्रगट किया है।[३] मालूम होता है कि विक्रमसे ४७० वर्ष पूर्व वीर निर्वाण बतलानेके लिए श्वेतांबराचार्योंने अपने मनोनुकूल उक्त गाथाओंका निरूपण कर दिया है। इस दशामें यह नहीं कहा जासक्ता कि उनको विक्रमके जन्म राज्य अथवा मृत्युसे ४७० वर्ष पूर्व वीर निर्वाण मान्य था। किन्तु अवशेष मतोंके समक्ष विक्रमके जन्मसे ४७० वर्ष पूर्व वीरनिर्वाण हुआ मानना ठीक है।

१-मदनकोष व भाप्राए०। २-जैसा सं०। ३-वीर, वर्ष ६।

इस गणनाके अनुसार अर्थात् विक्रमके जन्मसे १७० वर्ष पूर्व (५४५ ई० पू०) वीर निर्वाण मान-निर्वाणकाल ई० पू० ५४५ में था। नेसे, उसका अजातशत्रुके राज्य कालमें ही होना ठीक बैठता है और म० बुद्धका तब जीवित होना भी प्रगट है। अतः यह गणना तथ्यपूर्ण प्रगट होती है। शायद यहांपर यह आपत्ति की जाय कि चूंकि अजातशत्रुका राज्यकालका अंतिम वर्ष ई० पूर्व ५२७ है और म० बुद्धकी देहांत तिथिका शुद्धरूप ई० पू० ४८२ विद्वानोंने प्रगट किया है; इसलिये वीर निर्वाण कोई ई० पूर्व ५२७ वर्षमें हुआ मानना ठीक है। किन्तु पहिले तो यह आपत्ति उपरोक्त शास्त्रलेखोंसे बाधित है। दूसरे अजातशत्रु वीर निर्वाणके कई वर्ष उपरांत तक जीवित रहा था, यह बात जैन एवं बौद्ध ग्रन्थोंसे प्रगट है।[1] इसलिये उनके अंतिम राज्य-वर्ष ई० पूर्व ५२७ में वीर निर्वाण होना ठीक नहीं जंचता। साथ ही यदि म० बुद्धकी निधन तिथि ४८० वर्ष ई० पू० थोड़ी देरके लिये मान भी ली जाय तो भगवान महावीरके उपरांत इतने लम्बे समय तक उनका जीवित रहना प्रगट नहीं होता। अन्यत्र हमने भगवान महावीर और म० बुद्धकी अंतिम तिथियोंमें केवल दो वर्षोंका अन्तर होना प्रमाणित किया है।[2] डॉ० हार्णले सा० इस अन्तरको अधिकसे अधिक पांच वर्ष बताते हैं;[3] परन्तु म० बुद्ध और भ० महावीरके जीवन सम्बंधको देखते हुये, यह अन्तर कुछ अधिक प्रतीत होता है। भ० महावीरके जीवनमें केवलज्ञान

१–जबिओसो०, भा० १ पृ० ९९–११५ व उमु०। २–वीर, वर्ष ६। ३–आजीविक–हरिइ०।

प्राप्त करनेकी घटना मुख्य थी, इस हमारी गणनाके अनुसार उस समय म० बुद्धकी अवस्था ४८ वर्षकी प्रगट होती है और इसका समर्थन उस कारणसे भी होता है, जिसकी बजहसे म० बुद्धके ५० से ७० वर्षके मध्यवर्ती जीवन घटनाओंका उल्लेख ही नहींके बराबर मिलता है।

बात यह है कि भगवान महावीरके सर्वज्ञ होने और धर्म-प्रचार प्रारम्भ करनेके पहलेसे ही म० बुद्ध अपने मध्यमार्गका प्रचार करने लगे थे, जैसे कि बौद्ध ग्रंथोंसे भी प्रगट है।[1] अतएव दो वर्षके भीतर २ भगवान महावीरके वस्तु स्वरूप उपदेशका दिगन्त-व्यापी होना प्राकृत सुसंगत है। और भगवान महावीरके प्रभावके समक्ष उनका महत्व क्षीण होजाय तो कोई आश्चर्य नहीं है। यह बात हम पहले ही प्रगट कर चुके हैं और इसका समर्थन स्वयं बौद्ध ग्रन्थोंसे होता है।[2] अतएव उपरोक्त गणना एवं भ० महावीर और म० बुद्धके परस्पर जीवन सम्बन्धका ध्यान रखते हुये म० बुद्धकी निधन-तिथि ई० पूर्व ४८२ या ४७७ स्वीकार नहीं की जासक्ती! बल्कि हमारी गणनासे प्रगट यह है कि म० महावीरसे छै वर्ष पहले म० बुद्धका जन्म हुआ था और उनके निर्वाणसे दो वर्ष बाद म० बुद्धकी जीवनलीला समाप्त हुई थी। बेशक बौद्ध शास्त्रोंमें म० बुद्धको उस समयके मत-प्रवर्तकोंमें सर्वलघु लिखा है; किन्तु उनका यह कथन निर्बाध नहीं है, क्योंकि उन्हींके एक अन्य शास्त्रोंमें म० बुद्ध इस बातका कोई स्पष्ट उत्तर देते नहीं

१–मनि० भा० १ पृ० २२५; अंनि० भा० ११ पृ० ६६ व "वीर" वर्ष ६। २–ममबु० पृ० १०३–११०।

मिलते कि वे सर्वलघु हैं ।[1] इससे यह ठीक जंचता है कि आयुमें म० महावीरसे म० बुद्ध अवश्य बड़े थे; परन्तु एक मतप्रवर्तककी भांति वह सर्वलघु थे; क्योंकि अन्य सब मत म० बुद्धसे पहलेके थे। इसप्रकार भ० महावीरका निर्वाण म० बुद्धके शरीरान्तसे दो वर्ष पहले मानना ठीक है और चूंकि बौद्धोंमें म० बुद्धका परिनिव्वान ई० पूर्व ५४३ वर्षमें माना जाता है, इसलिये भ० महावीरका निर्वाण ई० पूर्व ५४५में मानना आवश्यक और उचित है। जैसे पहिले भी यही अन्यथा प्रगट किया जाचुका है।

दि० जैन शास्त्रोंसे उक्त मतका समर्थन होता है।

दिगम्बर जैनशास्त्रोंके कथनसे भी भ० महावीरकी जीवन घटनाओंका उक्त प्रकार होना प्रमाणित है। यह लिखा जाचुका है कि श्रेणिक बिम्बसारकी मृत्यु भ० महावीरके जीवनमें ही होगई थी और उनके बाद कुणिक अजातशत्रु विधर्मी होगया था; जिसे भ० महावीरके निर्वाणोपरान्त श्री इन्द्रभूति गौतमने जैनधर्मानुयायी बनाया था। इतिहाससे श्रेणिकका मृत्युकाल ई० पू० ५५२ प्रकट है। तथापि सं० १८२७की रची हुई 'श्रेणिकचरित्र' की भाषा वचनिकामें है कि:—

" श्रेणिक नीति सम्भालकर, करे राज अविकार।
बारह वर्ष जु बौद्धमत, रहा कर्मवश धार ॥५२॥
बारह वर्ष तने चित धरो, नन्दग्राम यह मारग करो।
तहं थी सेठि साथि चालियो, तब वेणक नगर आवियो ॥५३॥
नन्दश्री परणी सुकुमाल, वर्ष दूसरे रह सुबाल।
सात वर्ष भ्रमण घर रहे, पाछे आप राजसंग्रहे ॥५४॥

१–सुत्तनिपात (S. B. E; X) पृ० ८७ व भमबु० पृ० ११०।

नन्दश्रीने विसरी राय, तीन वर्ष जु पिता घर थाय।
आठ वर्षनो अभयकुमार, राजगृहीं आयो चितधार ॥५५॥
चार वर्षमें न्याय जु किया, बारह वर्षतणां युव भया।
श्रेणिक वर्ष छवीस मंझार, महावीर केवलपद धार ॥५६॥
अधिकार १५।"

इससे प्रकट है कि श्रेणिकको १२ वर्षकी उम्रमें देशनिकाला हुआ और रास्तेमें वह बौद्ध हुये। दो वर्ष तक नन्दश्रीके यहां रहे। बादमें ७ वर्ष उनने भ्रमणमें बिताये और २२ वर्षकी उम्रमें उन्हें राज्य मिला। तथापि उनकी २६ वर्षकी अवस्थामें भगवान महावीरको केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। इससे प्रत्यक्ष है कि भ० महावीरके सर्वज्ञ होने और धर्मप्रचार आरम्भ करनेके पहले ही म० बुद्ध द्वारा बौद्धधर्मका प्रचार होगया था। यही कारण है कि देशसे निर्वासित होनेपर श्रेणिक बौद्ध होसके थे। इस दशामें जैन शास्त्रानुसार भी हमारी उपरोक्त जीवन-संबंध व्याख्या ठीक प्रगट होती है। साथ वीर निर्वाणकाल ई० पूर्व ५४५ माननेसे भ०का केवलज्ञान प्राप्ति समय ई० पू० ५७५ ठहरता है। इस समय श्रेणिककी अवस्था २६ वर्षकी थी अर्थात् श्रेणिकका जन्म ई० पू० ५८० में प्रगट होता है। राज्यारोहण कालसे २८ वर्ष उपरान्त राज्यसे अलग होकर उनकी मृत्यु हुई माननेपर ई० पू० ५५२ उनका मरणकाल सिद्ध होता है। इतिहाससे इस तिथिका ठीक सामञ्जस्य बैठता है। अतएव भगवान महावीरका निर्वाणकाल ई० पू० ५४५ मानना उचित है। वर्तमान प्रचलित वीरनिर्वाण संवत्‌का शुद्ध रूप २४७० होना उचित है।

भगवान महावीरकी मुख्य तिथियाँ।

१. भगवान महावीरका	जन्म	ई० पूर्व ६१७
२. ,, ,,	गृहत्याग	,, ,, ५८७
३. ,, ,,	केवलज्ञान	,, ,, ५७५
४. ,, ,,	निर्वाण	,, ,, ५४५

(८)

अंतिम केवली श्री जम्बूस्वामी।

(ई० पूर्व ५२१-४४०)

जम्बूस्वामी। भगवान महावीरजीके निर्वाण लाभ करनेके पश्चात् चौवीस वर्षमें श्री इन्द्रभूति गौतम और सुधर्मास्वामी भी उनके अनुगामी हुये थे। सुधर्मास्वामीके मोक्ष प्राप्त करलेनेपर वीर-संघका शासन श्री जम्बूस्वामीके आधीन रहा था। यह अंतिम केवली थे।[1] इनके उपरांत इस देशसे कोई भी जीव सर्वज्ञ और मुक्त नहीं हुआ है। लोग कहते हैं कि जम्बूस्वामी अपने साथ ही मोक्षका द्वार बंद कर गये थे।

बाल्य-जीवन। जम्बूस्वामीका जन्म भगवान महावीरके जीवनकालमें हुआ था। मगधदेशके राजगृह नगरमें एक अर्हद्दास नामक जैन सेठ रहते थे। जिनमती अथवा जिनदासी नामक उनकी सुशील और विदुषी पत्नी थी।[2] जम्बूकुमा-

---

१-उ० पु० ७१०। २-उ० पु० ७०२ व जम्बूकुमार चरित पृ० १८. किन्तु श्वे० आम्नायमें इनके माता-पिताका नाम क्रमशः ऋषभदत्त व धारिणि लिखा है। ऋषभदत्त काश्यपगोत्री श्रेष्ठी थे। (जैना सं० भा० १ अंक ३-वीरवंशावलि पृ० २.)

नका जन्म इन्हींकी कोखसे हुआ था। जिस समय यह गर्भमें आये थे उससमय इनकी माताने हाथी, सरोवर, चांवलोंका खेत, धूम रहित अग्नि और जामुनके फल–यह पांच शुभ स्वप्न देखे थे।[1] जामुनके फलोंको देखनेके कारण इनका नाम 'जम्बूकुमार' रक्खा गया था। इन्होंने बाल्यकालमें बड़ी ही कुशलता पूर्वक समग्र शस्त्र-शास्त्र विषयक विद्याओंमें योग्यता प्राप्त करली थी। किन्तु इनका स्वभाव बचपनसे ही उदासीन वृत्तिको लिये हुए था। युवा होनेपर भी इन्हें कोई विकार नहीं हुआ था।

जम्बूस्वामीकी वीरता।

इनका आदर राजगृहके राजदरबारमें अधिक था। एकदा केरलदेशके राजा मृगाङ्कने श्रेणिकके पास सहायताके लिये एक दूत भेजा था। इसका कारण यह था कि मृगाङ्कपर हंसद्वीप (लंका)के राजा रत्नचूलने आक्रमण किया था और वह उनकी राजकुमारी विलासवतीको बलात् लेजाना चाहता था। मृगांकको यह असह्य था। वह राजा श्रेणिकको अपनी कन्या देना चाहता था। इधर जम्बूकुमारके पराक्रम और शौर्यकी प्रशंसा पहिलेसे ही थी। राजा श्रेणिकने इनके ही आधीन अपनी सेनाको राजा मृगांककी सहायताके लिये भेजा था। जम्बूकुमारने अपने बाहुबल और रणकौशलसे रत्नचूलको हरा दिया था। और राजा मृगांकने प्रसन्न होकर विलासवतीका विवाह श्रेणिकके साथ किया था। एक वैश्यपुत्रमें इस पराक्रम और संग्राम-कौशलका होना आजकलके 'बनियों' के लिये समुचित शिक्षा पानेका आदर्श है।

१–श्वेताम्बर केवल जम्बूवृक्ष देखा बतलाते हैं–(जैसा सं० भा० १ अंक ३–वीर पृ० २)

जम्बू कुमारकी मनोवृत्ति वैराग्यमई थी। युवावस्था होनेपर भी वह सांसारिक प्रलोभनोंसे विरक्त थे। एक दिन विपुलाचल पर्वतपर श्री सुधर्मास्वामी संघसहित आये और राजा अजातशत्रु रनवास और पुरजन सहित वन्दना करनेके लिये गये थे। जम्बूकुमार भी गये थे और वह जिनदीक्षा ग्रहण करना चाहते थे; किन्तु सम्बन्धियोंके विशेष आग्रहसे घर वापिस लौट आये।[1] श्वेताम्बर आम्नायकी मान्यता है कि इससमय उनकी अवस्था सोलहवर्षकी थी और उनने श्रावकके व्रत धारण किये थे।[2]

वैराग्य।

घरपर आते ही जम्बूकुमारके माता-पिताको उनका विवाह कर देनेकी फिक्र हुई थी। उनने देखा कि यदि उनका इकलौता बेटा भोगोपभोगकी सामिग्री और सुन्दर रमणियोंको पाकर सांसारिकतामें संलग्न न हुआ तो अवश्य ही उन्हें उससे हाथ धो लेने होंगे। यही सोचकर उनने आठ सेठपुत्रियोंसे उनका विवाह कर दिया था। माता-पिताके आग्रहसे उनने विवाह तो कर लिया; किन्तु आपने अपनी पत्नियोंके प्रति स्नेहकी एक दृष्टि भी न डाली।

विवाह।

वह विवाहके दूसरे दिन ही तपोभूमिकी ओर जानेके लिये उद्यत होगये! मांने बहुत समझाया और प्रेम दर्शाया। पत्नियोंने विषयभोगोंकी सारता और अपना अधिकार उनपर सुझाया; किन्तु कोई भी जंबूकुमारको दीक्षाग्रहण करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञासे शिथिल न कर सका! उसीसमय एक विद्युत नामक चोर, जो अर्हद्दासके यहां चोरी करने आया था, जम्बूकुमारके इस वैराग्य और निर्लोभको

१-उपु० पृ० ७०३। २-जैसा सं० खं० १ अं० ३-वीर० पृ० २।

देखकर प्रतिबुद्ध होगये। सबने ही श्री सुधर्माचार्यके निकट जाकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। इस समय अजातशत्रु भी अपनी अठारह प्रकारकी सेनाके साथ वहां आया था। जंबूकुमारके साथ विद्युच्चोर और उसके पांचसौ साथी एवं सेठानी जिनदासी और जम्बूकुमारकी आठों पत्नियोंने भी जिनदीक्षा ग्रहण कर ली थी।[2] कुल ५२७ मनुष्य उनके साथ मुनि हुये थे।[3] नौ क्रोड सुवर्ण मुद्राओं और इतनी धन-संपदासे जम्बूकुमारने मोह नहीं किया था और न रमणी-रत्नोंकी मनमोहक रूप राशि ही उनको कर्तव्यपथसे विचलित कर सकी थी।

जम्बूकुमार मुनि होकर सुधर्मास्वामीके निकट तपश्चरण करने लगे थे। जब उनका उपवास पूर्ण हुआ तो उनका प्रथम पारणा राजगृहके सेठ जिनदासके गृहमें हुआ था। इसके उपरान्त वह वनमें जाकर उग्रोग्र तप करने लगे थे। श्वेतांबरोंका कथन है कि बीस वर्ष तक उनने यह घोर तपस्या की थी और वह सोलह वर्षकी अवस्थामें दीक्षित हुये थे[4]। दिगम्बर शास्त्रोंमें उन्हें युवावस्थामें मुनि हुआ लिखा है। इस मुनि दशाके पश्चात् उनको ज्येष्ठ सुदी सप्तमीके शुभ दिन केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। इसी दिन सुधर्मास्वामी मुक्त हुये थे।[5] जम्बूकुमार

मुनि जीवन।

१–श्वेतांबर वंशावलिमें चोरका नाम प्रभव है और वह जयपुरके राजाका पुत्र था। जम्बूकुमारके उपरांत वही पट्टधीश हुआ था; किन्तु दिगम्बर ग्रन्थ नंदि अथवा विष्णुको जम्बूका उत्तराधिकारी बताते हैं। (जैसासं० खण्ड १ वीर वंश० पृ० ३ व जैहि० भा० १ पृ० ५३१। २–उपु० पृ० ७०९। ३–जैसासं० भा० १ वीर वंश० पृ० २। ४–जम्बू० पृ० ६३। ५–जैप्रासं० खण्ड १ वी० पृ० २-३। ६–जम्बू० पृ० ६३ व उपु० पृ० ७१०।

सर्वज्ञ होकर चालीस वर्ष तक जिनधर्मका प्रचार सर्वत्र करते रहे थे।[१] इनका भव नामक शिष्य प्रख्यात् था। विद्युच्चोर भी महातपस्वी मुनि हुये थे। उनने भी चहुँओर विहार करके धर्मकी मन्दाकिनी विस्तृत की थी। एक दफे मथुरामें उनपर एक वनदेवताने घोर उपसर्ग किया था; जिसमें वह दृढ़परिकर रहे थे। बारह वर्ष तक तप करके वह सर्वार्थसिद्धिमें अहमेन्द्र हुये। अर्हद्दास सेठ समाधिमरण पूर्वक छठवें स्वर्गमें देव हुये। जिनमती सेठानी एवं अन्य महिलायें भी मरकर देव हुई थी।[३]

सर्वज्ञ-दशामें धर्मप्रचार।

यद्यपि जम्बूकुमारका विहार और धर्म प्रचार प्रायः समग्र देशमें हुआ था; किन्तु ऐसा माल्हम होता है कि बंगाल और विहारसे उनका सम्पर्क विशेष रहा था। सुधर्मा और जम्बूस्वामी पुण्ड्रवर्द्धनमें विशेष रीतिसे धर्मप्रचार करने आये थे और उपरांत यह स्थान जैनोंका मुख्य केन्द्र होगया था। कहते हैं कि जम्बूस्वामीको निर्वाण लाभ भद्रबाहुके जन्मस्थान कोटिकपुरमें हुआ था, किन्तु भगवान सकलकीर्तिके शिष्य ब्र० जिनदासने उनका निर्वाणस्थान विपुलाचल पर्वत बतलाया है।[५] उधर दि० जैनोंकी मान्यता है कि जम्बूस्वामी मथुरासे मोक्षधाम सिधारे थे।[६] उनकी इस पवित्र स्मृतिमें वहांपर वार्षिक मेला भी भरता है। अतः निश्चितरूपमें यद्यपि यह नहीं कहा जा

१-उपु० पृ० ७१०; किन्तु एक प्राचीन गाथामें यह समय ३८ वर्ष लिखा है। ('अठतीस वास रहिये केवलणाणीय उक्किट्ठो ॥') श्वतांबर ४४ वर्ष और कुल आयु ८० वर्षकी बताते हैं। जैसा सं० खण्ड १ वीर वंशा० पृ० ३। २-उपु० पृ० ७१०। ३-जम्बू० पृ० ६४-६५। ४-वीर वर्ष ३ पृ० ३७०। ५-पूर्व व रामा वलीकथे-जैहि० भा० ११ पृ० ६२९। ६-जैहि० भा० ११ पृ० ६१९।

सक्ता कि जम्बूस्वामीका निर्वाण स्थान कहां था; किन्तु जैन मान्यता और मथुराके जैन पुरातत्वको देखते हुये मथुरामें उनका मोक्षस्थान होना ठीक जंचता है। विपुलाचल पर्वतपर उनने दीक्षा ग्रहण की थी, यह स्पष्ट है। संभवतः इसीपरसे ब्र० जिनदासने उनका निर्वाण-स्थान भी उसे ही लिख दिया है। कोटिकपुर समाधिस्थान कहा जाता है। संभव है, वह केवलज्ञान स्थान हो। वह पुण्ड्रवर्द्धन देशका कोटिवर्ष नामक ग्राम अनुमान किया गया है; जहांसे गुप्त व पालवंशी राजाओंके सिक्के मिले हैं।[1] संभवतः इसी समय अंतःकृत केवलियोंमें सर्व अंतिम श्रीधर नामक केवली कुण्डलगिरिसे मुक्त हुए थे।[2] इस समय भगवान महावीरको मोक्ष गये ६२ वर्ष होचुके थे।[3]

श्वेताम्बरीय कथन।

श्वेतांबर सम्प्रदायकी मान्यता है कि जम्बूकुमारके समयमें भी भगवान पार्श्वनाथकी शिष्य–परम्परा अलग मौजूद थी और रत्नप्रभसूरि आचार्य पदपर नियुक्त थे। उन्होंने वीरप्रभूके मोक्ष जानेके बाद पचहत्तरवें वर्षमें ओइसा नगरकी चामुण्डाको प्रतिबोध कर कितनेक जीवोंको अभयदान दिया था और वहांके परमार वंशी राजा श्री उत्पलदेव एवं अन्य लोगोंको जैनी बनाकर उपकेश जातिका प्रादुर्भाव किया था।[4] किंतु दि० शास्त्रोंका कथन है कि भगवान पार्श्वके तीर्थके मुनि वीर संघमें संमिलित होगये थे। श्वेतांबरोंके 'उत्तराध्ययनसूत्र' से भी यही प्रगट है।[5] परमार वंशकी उत्पत्ति अर्वाचीन है,[6] इस कारण जम्बूस्वामीके समय परमार वंशी राजाका होना अशक्य है।

१–वीर वर्ष ३ पृ० ३७०। २–जैहि० भा० १३ पृ० ५३१। ३–श्वेतांबर ६४ वर्ष मानते हैं। जैसाथं० खण्ड १ वीर वंशावली पृ० ३। ४–जैसासं०, खण्ड १ वीर वंशा० पृ० ३। ५–उसू० पृ० १३। ६–राइ० भा० १ प० ६४–६८।

(६)

नन्द-वंश।

(ई० पूर्व ४५९-३२६)

नव-नन्द।

शिशुनागवंशके अंतिम दो राजाओं–नन्दवर्द्धन और महानन्दिका उल्लेख पहिले किया जाचुका है; किन्तु इनके नामके साथ 'नन्द' शब्द होनेके कारण, यह नन्द-वंशके राजा अनुमान किये जाते हैं। नंदवंशमें कुल नौ राजा अनुमान किये जाते हैं; किन्तु मि० जायसवाल 'नव–नन्द' का अर्थ 'नवीन-नन्द' करते हैं।[1] इस प्रकार नन्दवर्द्धन और महानंदि तथा महादेवनन्द व नन्द चतुर्थ प्राचीन नंदराजा ठहरते हैं। क्षेमेन्द्रके 'पूर्वनन्दाः' उल्लेखसे भी इनका प्राचीन नन्द होना सिद्ध है। नवीन नंद राजाओंमें कुल दोका पता चलता है। इस प्रकार कुल छै राजा नंदवंशमें हुये प्रगट होते हैं। कवि चन्दबरदाई (१२ वीं श० ई०) ने 'नव' का अर्थ नौ किया था; किन्तु वह भ्रम मात्र है।[2] हिन्दुपुराणोंके अनुसार नंदवंशने १०० वर्ष राज्य किया था; किन्तु जैनग्रन्थोंमें उनका राज्यकाल १५५ वर्ष लिखा मिलता है।[4]

१–जबिओसो, भा० १ पृ ८७–सिकन्दर महानको वृषल नन्द सिंहासन पर मिला था (३२६ ई० पू०) और चन्द्रगुप्तने दिसम्बर ई० पू० ३२६ में अंतिम नन्दको परास्त किया था। इस कारण मि० जायसवाल एक महीनेमें आठ राजाओंका होना उचित नहीं समझते। २–अहिइ पृ० ४५। ३–जबिओसो, भा० १ पृ० ८९...व भाप्राराο भा० २ पृ० ४३। ४–हरि० भूमिका पृ० १२ व त्रिलोकप्रज्ञप्ति गाथा ९६–(पालकरज्जं सट्ठिं इगिसय पणवण्ण विजयवसंभवा।) जैन ग्रंथोंमें इस वंशका नाम 'विजयवंश' लिखा है।

विद्वान् लोग जैनोंकी इस गणनासे सहमत नहीं हैं।[1] वह पालक राजाके राज्यकाल सम्बन्धी ६० वर्ष भी इन्हीं १९९ वर्षोंमें सम्मिलित करते हैं।[2] और जैनोंकी यह गणना भारतीय इतिहासमें नितान्त विलक्षण बतलाते हैं।

नन्दिवर्द्धन।

यद्यपि नन्दवंशकी प्राचीन शाखाके दोनों राजाओंका वर्णन पहिले किंचित् लिखा जाचुका है; किन्तु वह पर्याप्त नहीं है। नन्दवर्द्धनका नाम 'नन्द' था और 'वर्द्धन' उसकी उपाधि थी; जिससे वह महानंदसे पृथक् प्रगट होता है। उसका सम्बन्ध शिशुनाग और लिच्छवि, दोनों ही वंशोंसे था। उसकी माता संभवतः लिच्छवि कुलकी थी। मि० जायसवालने उसको चालीस वर्षतक राज्य करते लिखा है। नन्दवर्द्धनके समयमें ही बौद्धोंका दूसरा संघसम्मेलन हुआ था। इसी कारण बौद्धोंके द्वारा व्यवहृत इनका अपरनाम 'कालाशोक' अनुमान किया गया है। नन्द प्रथम अथवा नन्दवर्द्धनने अपने राज्यका विस्तार खूब फैलाया था। यही वजह है कि वह 'वर्द्धन'की सम्मानसूचक विरुदसे विभूषित हुये थे। नन्दवर्द्धनने अपने राज्यके दशवें वर्षमें प्रद्योतराजाको जीतकर अवन्तीपर अधिकार जमा लिया था।

मालूम होता है कि उसने एक भारतव्यापी 'दिग्विजय' की थी। इस दिग्विजयमें उसने दक्षिण-पूर्वी और पश्चिमीय समुद्रतटवर्ती देशोंको अपने राज्यमें मिला लिया था। उत्तरमें हिमालय पर्वतके तराईके देश जीत लिये थे। काश्मीर और कलिङ्गको भी

१-अहिइ पृ० ४२, व हरि० भूमिका पृ० १२। २-जबिओसो, भा० १ पृ० ८९...।

उसने अपने आधीन कर लिया था। ई० पूर्व ४४९–४०९ में पारस्थ–साम्राज्य नष्ट होने लगा था। इसी अवसरपर नन्दवर्द्धनने काश्मीरसे लौटते हुये तक्षशिलावाले पारस्थ राज्यका अन्त कर दिया था। उनकी यह दिग्विजय उनके विशेष पराक्रम, शौर्य और रणचातुर्यका प्रमाण है।[1] नन्दवर्द्धनने अपने राज्यारोहण कालसे एक संवत् भी प्रचलित किया था, जो ई० पू० ४५८से प्रारम्भ हुआ था और अलबेरूनीके समय तक उसका प्रचार मथुरा व कन्नौजमें था।* उन्हें जैनधर्मसे प्रेम था, यह पहिले ही लिखा जाचुका है। सर जार्ज ग्रीयेर्सन सा० कहते हैं कि नन्दराजाओंका ब्राह्मणोंसे द्वेष था।+

महा नन्द। नन्द द्वितीय अथवा 'महा' नन्दके विषयमें कुछ अधिक परिचय प्रायः नहीं मिलता है। हां, इतना स्पष्ट है कि उनके समयमें तक्षशिला तक नन्दराज्य निष्कण्टक होगया था। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि महा नन्दके मित्र थे और वह तक्षशिलासे पाटलिपुत्र पहुंचे थे।[2] यह भी सच है कि महा नन्दकी एक रानी शूद्रा थी और उसके गर्भसे महा-पद्मनन्दका जन्म हुआ था।[3] इसका राज्यकाल ई०पूर्व ४०९-३७४ माना जाता है।

महा पद्मनन्द। महानंदकी शूद्रा रानीके गर्भसे महापद्मका जन्म हुआ था। इसने नन्द राज्यके वास्तविक उत्तराधिकारी अपने सौतेले भाईको धोखेसे मार डाला था और स्वयं

१–जबिओसो० भा० १ पृ० ७७–८१। *जबिओसो० भा० १३ पृ० २४०। + अहिइ० पृ० ४५। २–जबिओसो० भा० १ पृ० ८२। ३राइ० भा० १ पृ० ५८–५९ व अहिइ० पृ० ४१। कुछ लोग कहते हैं कि सांप्रदायिक द्वेषसे ऐसा लिखा गया है।

राजा बन बैठा थी। प्राचीन जैन कानूनकी दृष्टिसे यद्यपि महानन्दका शूद्रा स्त्रीसे विवाह करना ठीक सिद्ध होता है; किंतु इस विवाह संबंधसे उत्पन्न हुआ पुत्र महापद्म केवल भरण-पोषणके योग्य सहायता पानेका अधिकारी ठहरता है। वह राज्यसिंहासनपर आरूढ़ होनेके योग्य अधिकार नहीं रखता था! राजा उपश्रेणिकके संबंधमें भी यही बात घटित हुई प्रतीत होती है। वह एक भील कन्याको इस शर्तपर विवाह लाये थे कि उसके पुत्रको राजा बनायेंगे। किंतु शास्त्र और नियमानुसार श्रेणिक ही राज्य पानेके अधिकारी थे। हठात् उपश्रेणिक महाराजने अपना वचन निभानेके लिये, श्रेणिकको देशसे निर्वासित कर दिया था; यह सब कुछ लिखा जाचुका है। महापद्मको इस नियमका उल्लंघन करना पड़ा था और उसने वास्तविक उत्तराधिकारीकी जीवनलीला असमयमें ही समाप्त करके स्वयं नन्दराज्यकी बागडोर अपने हाथमें ली थी। मालूम होता है कि इस घटनासे जैन रुष्ट हुये होंगे और महापद्मको घृणाकी दृष्टिसे देखने लगे होंगे। यही कारण है कि महापद्म द्वारा जैनोंके सताये जानेका उल्लेख मिलता है।[3]

उड़िया भाषाके एक ग्रन्थमें (१४वीं श०) मगधके नन्दराजाको वेद धर्मानुयायी लिखा है।[4] उधर जैनोंके हरिषेण कृत कथाकोषमें (८वीं श०) भी एक नन्दराजाको ब्राह्मण धर्ममें दीक्षित करनेकी कथा मिलती है।[5] वहां महापद्म नामक एक जैन मुनिने

१-जविओसो भा० १ पृ० ८७ व भाप्रारा० भा० २ पृ० ४५ व अहिइ पृ० ४०-४१। २-जैका०। ३-भगवतीसूत्र-ऑब० भा० १ पृ० ५८... ४-जविओसो० भा० ३ पृ० ४८२। ५-इस कथाकोषके अनुसार "आराधना कथाकोष" भा० ३ पृ० ७८-८१।

उनको प्रतिबुद्ध किया था। हमारे विचारमें यह महापद्म नाम नंद-राजाका ही द्योतक है। जो हो, इतना स्पष्ट है कि नंदराजा ब्राह्मणोंके द्वेषी थे और वह जैनधर्मसे प्रेम रखते थे।[1] उनका जैन धर्मानुयायी होना कुछ आश्चर्यजनक नहीं है।[2] इन नव नंदोंके मंत्री निस्सन्देह जैन धर्मानुयायी थे। महापद्मका मंत्री कल्पक नामक था और इसका ही पुत्र अगाड़ीके नन्दका मंत्री रहा था।[3]

राज्य-वृद्धि।

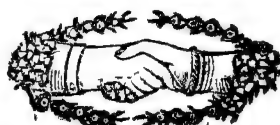
महापद्मनन्दमें अपने दादा नन्दवर्द्धनके समान क्षात्रशक्ति और रणकौशलकी बाहुल्यता थी। उसने नंदराज्यको विस्तृत बनानेके प्रयत्न किये थे। उसने कौशाम्बीको जीतकर वहांके पौरवबंशका अंत किया था। गंगा व जमनाकी तराईवाले और भी छोटे२ स्वाधीन राज्यों-पांचाल, कुरु आदिको उसने अपने अधिकारमें कर लिया था। इसप्रकार कुशलतापूर्वक वह ई० पूर्व ३२६-३३८ तक राज्य करता रहा था। महापद्मके पहिले महानन्दके वास्तविक उत्तराधिकारी दो पुत्र नन्द महादेव और नंद चतुर्थ कुल ३७४ से ३६६ ई० पूर्वतक नाममात्रको राज्याधिकारी रहे थे। उनका संरक्षक महापद्म था और अन्तमें उसने ही राज्य हथिया लिया था।[4]

अन्तिम-नन्द।

अंतिम नन्द सकल्य अथवा धननन्द था। यह बड़ा लालची था। इसका मंत्री सकटाल जैन धर्मानुयायी था; जो अन्तमें मुनि होगया था।[5] इसके पुत्र स्थूलभद्र और श्रीयक थे। स्थूलभद्र जैनमुनि होगये थे और श्रीय-

१-अहि०पृ० ४५-४६। २-कैहिइ० पृ० १६४। ३-हिलिजै० पृ० ४५। ४-जबिओसो०, भा० १ पृ० ८९-९०। ५-आक० भा० ३ पृ० ७८-८१।

कको मंत्रीपद मिला था।[1] इसीका अपरनाम संभवतः राक्षस था।[2] घननन्दमें इतनी योग्यता नहीं थी कि वह इतने विस्तृत राज्यको समुचित रीतिसे संभाल लेता; यद्यपि उस समय भारतमें वह सबसे बड़ा राजा समझा जाता था। यूनानियोंने उसको मगध और कलिङ्गका राजा लिखा है और बतलाया है कि उसकी सेनामें २ लाख पैदल सिपाही, २० हजार घुड़सवार, २ हजार रथ और ३ या ४ हजार हाथी थे। यूनानियोंने यह भी लिखा है कि उसकी प्रजा उससे अप्रसन्न थी।[3] उधर कलिंगमें ऐर वंशके एक राजाने घननंदसे युद्ध छेड़ दिया। घननन्द उसमें परास्त हुआ और कलिंग उसके अधिकारसे निकल गया था।[4] इधर चाणिक्यकी सहायतासे चन्द्रगुप्तने भी नन्दपर आक्रमण कर दिया था। नन्दका सेनापति भद्रसाल था।[5] इस युद्धमें भी उसकी हार हुई और उसके साथ ही ई० पू० ३२६ में नंदवंशकी समाप्ति होगई थी।[6] कहते हैं कि इसने ही जैनोंके तीर्थ पञ्चपहाड़ीका निर्माण पटनामें कराया था।[7]



१–हिलिजै० पृ० ४५। २–मुद्रा० नाटकमें नंदराजाके मंत्रीका नाम यही है। इसका भी जैन होना प्रगट है। वीर वर्ष ५ पृ० ३८८। ३–अहिइ० पृ० ४०–४१। ४–जबिओसो० भा० ३ पृ० ४८३। ५–मिलिन्द० २।१,४७। ६–चीनी लोग नन्दराजाकी मृत्यु ई० पूर्व ३२७ मं बताते हैं। ऐरि० भा० ९ पृ० ८७। ७–अहिइ० पृ० ४५।

(१०)

सिकन्दर महान्‌का आक्रमण और तत्कालीन जैन साधु।

(ई० पू० ३२७–३२३)

सिकन्दर महान्।

यूनानमें मेसीडन नामक एक छोटेसे देशका राजा फैलकूस (फिलिप) था। इसीका पुत्र सिकन्दर था। सिकन्दर बड़ा साहसी, पराक्रमी और प्रतिभाशाली था। उसने अपने पिताके छोटेसे राज्यका खूब विस्तार किया था। और वह बड़े साम्राज्यका स्वामी था। तीन वर्षमें (३३४–३३१ ई० पू०) उसने एशिया माइनर, सिरिया, मिस्र, ईरान, आदि देशोंको जीत लिया था और फिर भारतको जीतनेका संकल्प करके वह फर्वरी अथवा मार्च सन् ३२६ ई० पू० में ओहिन्द नामक स्थानपर सिंधु नदी पार करके भारतमें आपहुंचा था। पहिले ही उसके मार्गमें तक्षशिलाका हिंदू राज्य आया था; किन्तु यहांके शिशुगुप्त नामक राजाने सिकन्दरका विरोध नहीं किया था। उसने एक मित्रके समान उसका स्वागत किया था। इस प्रकार भारतवर्षमें पहिले पहिल सिकन्दरके सम्मानित होनेमें तक्षशिलाधीश और पुरु (पोरस) एवं अन्य राजपूतोंका पारस्परिक मनोमालिन्य ही मूल कारण था। पुरु और अन्य राजा लोग तक्षशिलापर कईवार चढ़ाई करते रहे थे। सिकन्दर तक्षशिलाधीशके इस स्वागतपर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने उसे तक्षशिलाका राज्य पुनः सौंप दिया। किन्तु पुरु (पोरस)ने, जो सिंधु और झेलम नदीके बीचवाले देशपर

राज्य करता था, उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की थी। पुरुने बड़ी वीरतासे लड़ाईमें सिकन्दरका सामना किया था; किंतु उसके हाथियोंने बड़ा धोखा दिया और हठात् उसने सिकन्दरका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था।

इस विजयके बाद सिकन्दर अगाड़ी पूर्व दिशाकी ओर बढ़ा था और व्यास नदीके किनारेपर पहुंचा था। यहां उसकी सेनाने जवाब देदिया—वह थक गई थी। उसने अगाड़ी बढ़नेसे इन्कार कर दिया था। बरबश सिकन्दरको वापस अपने देश लौट जाना पड़ा था। झेलम नदीके पास उसके सैनिकोंने दो हजार नावोंका बेड़ा तैयार कर लिया और उसपर सवार होकर अक्टूबर सन् ३२६ ई० पू० में वह झेलम नदीके मार्गसे वापस हुआ था। मार्गमें उसे कठिन कठिनाइयां झेलनी पड़ीं और दस महीनेकी यात्राके बाद वह फारस पहुंचा था। जून सन् ३२३ ई० पू० में बेबीलनमें ३२ वर्षकी अवस्थामें सिकन्दरका देहान्त होगया था। उसका विचार सिन्ध और पंजाबको अपने साम्राज्यमें मिला लेनेका था; किन्तु अपनी असामायिक मृत्युके कारण वह ऐसा नहीं कर सका था। उसकी मृत्युके बाद उसका साम्राज्य छिन्नभिन्न होगया और भारतके उत्तर-पश्चिमीय सीमावर्ती प्रदेशपर जो उसका अधिकार कुछ जमा था; उसे चन्द्रगुप्त मौर्यने नष्ट कर दिया था।

यूनानियोंके आक्रमणका प्रभाव।

यूनानियोंके इस आक्रमणका भारतपर कुछ भी असर नहीं पड़ा था। भारतकी सभ्यता और उसके आचार-विचार अछुन्न रहे थे। भारतीयोंने

१—माइ० पृ० ५५–५८।

यूनानी सभ्यताको ग्रहण नहीं किया था। सिकन्दरका भारत-आक्रमण एक तेज आंधी थी; जो चटसे भारतके उत्तर-पश्चिमीय देशसे होती हुई निकल गई। उससे भारतका विशेष अहित भी नहीं हुआ था। यही कारण है कि भारतवासी सिकन्दरको शीघ्र ही भूल गये थे। किसी भी ब्राह्मण, जैन या बौद्धग्रंथमें इस आक्रमणका वर्णन नहीं मिलता है। किंतु इस आक्रमणका फल इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इसके द्वारा संसारकी दो सभ्य और प्राचीन जातियोंका सम्पर्क हुआ था। यूनानियोंने भारतवर्षके विद्वानोंसे बहुतसी बातें सीखीं थीं और यहांके तत्त्वज्ञानका यूनानी दार्शनिकोंके विचारोंपर गहरा प्रभाव पड़ा था। सिकन्दर और उसके साथियोंका विशेष संसर्ग दिगम्बर जैन मुनियोंसे हुआ था। परिणामतः यूनानियोंमें अनेक विद्वान् "अहिंसा परमो धर्मः" सिद्धांत पर जोर देनेको तुल पड़े थे।[1] इन लोगोंने जो भारत एवं जैन मुनियों (Gymnosophists) के सम्बन्धमें जो बातें लिखी हैं; उनका सामान्य दिग्दर्शन कर लेना समुचित है।

भारत-वर्णन।

भारतवर्षके विषयमें यूनानियोंने बहुत कुछ लिखा है, मगर खास जानने योग्य बातें यह हैं कि वह उस समय भारतकी जनसंख्या तमाम देशोंसे अधिक बताते हैं; जो अनेक संप्रदायोंमें विभक्त था और यहां विभिन्न भाषायें बोली जाती थीं।[2] एक संप्रदाय ऐसा भी है कि न उसके अनुयायी किसी जीवित प्राणीको

१-पैथागोरस ऐसा ही उपदेश देता था (देखो ऐइ० पृ० ६५) और पोरफेरियस (Porphyrious) ने मांस निषेध पर एक ग्रन्थ लिखा था। (ऐइ० पृ० १६९)। २-ऐइ० पृ० १।

मारते हैं और न खेती करते हैं। वह घरोंमें नहीं रहते। और शाकाहार करते हैं। वह उस अनाजको प्रयोगमें लाते हैं जो अपने आप पृथ्वीमें उपजता है और मकई (millet) जैसा होता है।[१] बहुत करके यह वर्णन जैनोंके व्रती श्रावकोंको लक्ष्य करके लिखा गया प्रतीत होता है। ब्राह्मणोंमें कतिपय ऐसे भी थे, जो मांस नहीं खाते और न मद्य पीते थे।[२] भारतवासियोंको यूनानियोंने मितव्ययी किन्तु आभूषणोंके प्रेमी लिखा है।[३] उनने मिश्रदेशके समान यहां भी सात जातियोंका होना लिखा है; किन्तु यह राजनैतिक अपेक्षासे सात भेद कहे जासके हैं।[४]

वैसे चार जातियां–ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र–यहां थीं। कृषक लोग अधिक संख्यामें थे। वे बड़े सरल और दयालु थे। उन्हें युद्ध नहीं करना पड़ता था। क्षत्री लोग युद्ध करते थे। प्रत्येक जातिके लिये अपना व्यवसाय करना अनिवार्य था। युद्धके समय भी खेती होती रहती थी। कोई भी उनको नहीं छेड़ता था, फसलका $\frac{3}{4}$ भाग स्वयं रखते और शेष राजाको देते थे।[५] भारतीय घने बुने हुए कपड़ेको लिखनेके काममें लाते थे।[६]

भारतमें अनाजकी बाहुल्यता और विशेषता थी। उनका शरीर गठन साधारण मनुष्योंसे कुछ विशेषता रखता था और उसका उन्हें गर्व था। वह शिल्प और ललित कलाओंमें खूब निपुण थे। धरतीमें शाक और अनाज तो उगता ही है परन्तु अनेक प्रकारकी धातुयें भी निकलती थीं। सोना, चांदी और लोहा विशेष परिणाममें निकलता

१–ऐइ० पृ० २। २–ऐइ० पृ० १८३। ३–ऐइ० पृ० ३८। ४–ऐइ०मे पृ० ४०–४३। ५–ऐइ० पृ० ६–ऐइ० पृ० ५६।

बताया है। नदियोंसे भी सोना निकलता था। इसीकारण कहा जाता है कि भारतमें कभी अकाल नहीं पड़ा और न किसी विदेशी राजाने भारतको विजय कर पाया। उनमें झूठ बोलने और चोरी करनेका प्रायः अभाव था। वे गुणोंका आदर करते थे। वृद्ध होनेसे ही कोई आदरका पात्र नहीं होता। उनमें बहु विवाहकी प्रथा प्रचलित थी। कहीं कन्यापक्षको एक जोड़ी बैल देनेसे वरका विवाह होता था[२] और कहीं वर-कन्या स्वयं अपना विवाह करा लेते थे।[३] स्वयंवरकी भी प्रथा थी।[४] विवाहका उद्देश्य कामतृप्ति और संतान वृद्धिमें था। कोई२ एक योग्य साथी पानेके लिये ही विवाह करते थे।[५] वे छोटीसी तिपाईपर सोनेकी थालीमें रखकर भोजन करते थे। उनके भोजनमें चांवल मुख्य होते थे।[६]

भारतीय तत्ववेत्ता।

यूनानियोंने भारतवर्षके तत्ववेत्ताओंका वर्णन किया है, वह बड़े मार्केका है। उन्होंने भारतकी सात जातियोंमेंसे पहली जाति इन्हीं तत्ववेत्ताओंकी बतलाई है। इनमें ब्राह्मण और श्रमण यह दो भेद प्रगट किये हैं।[७] ब्राह्मण लोग कुल परम्परासे चली हुई एक जाति विशेष थी। अर्थात् जन्मसे ही वह ब्राह्मण मानते थे। किंतु श्रमण सम्प्रदायमें यह बात नहीं थी। हरकोई विना किसी जाति-पांतके भेदमे श्रमण होसक्ता था।[८] ब्राह्मणोंका मुख्य कार्य दान, दक्षिणा लेना और यज्ञ कराना था। वे साहित्य रचना और वर्षफल भी प्रगट करते थे। वर्षारम्भमें वे अपनी२ रचनायें लेकर राजदर-

१-मेऐइ० पृ० ३१-३२। २-ऐइमे० पृ० ७०-७१। ३-ऐइ० पृ० ३८। ४-मेएइ० पृ० २२२। ५-मेऐइ०, पृ० ७१। ६-मेऐइ०, पृ० ७४। ७-मेऐइ०, पृ० ९८। ८-ऐइ० पृ० १६९ व १८१।

रबारमें पहुंचते थे और मान्यता पाते थे। यदि उनका वर्षफल आदि कोई कार्य ठीक नहीं उतरता तो उन्हें जन्मभर मौन रहनेकी आज्ञा होती थी।[१] इस कार्यमें श्रमण भी भाग ले सक्ते थे। ब्राह्मणोंमें ऐसे भी थे, जो वानप्रस्थ दशामें रहते थे।

'जैम्नोसोफिस्ट' दिगम्बर जैन साधु थे।

श्रमण भी कई तरहके थे; किंतु उनमें मुख्य वह थे जो नग्न रहते थे। यह ब्राह्मण और बौद्धोंसे भिन्न थे।[२] इनको विद्वानोंने दिगम्बर जैन मुनि माना है; यद्यपि कोई विद्वान इन्हें आजीविक साधु अनुमान करते हैं। किंतु इनका यह अनुमान निर्मूल है। यूनानियोंने इन नग्न साधुओंकी जिन विशेष क्रियाओंका उल्लेख किया है; उनसे इनका दिगम्बर जैन मुनि होना सिद्ध है। उदाहरणके लिये देखिये:—

(१) यूनानियोंका कथन है कि "श्रमण कोई शारीरिक परिश्रम (Labour=आरम्भ) नहीं करते हैं; नग्न रहते हैं; सर्दीमें खुली हवामें और गरमियोंमें खेतोंमें व पेड़ोंके नीचे शासन जमाते हैं; और फलोंपर जीवन यापन करते हैं।"[३] यह सब क्रियायें जैन मुनियोंके जीवनमें मिलती हैं। जैन मुनि आरम्भके सर्वथा त्यागी होते हैं। वे पानीतक स्वयं ग्रहण नहीं करते यह बौद्ध-शास्त्रोंसे भी प्रगट है।[४] उनका नग्नभेष भी जैनशास्त्रोंके अनुकूल है; जैसे कि पहले लिखा जाचुका है। वनों और गुफाओं आदि एकान्त स्थानमें जैन मुनिको रहनेका आदेश है। तथा वह निरामिषभोजी और उद्दिष्ट त्यागी होते हैं।

१–ऐइ० पृ० ४७। २–जमिरा० १।० १ फि० २–३, पृ० ८६
३–ऐइ० पृ० ४७। ४–ममबु० पृ २२३।

(२) 'श्रमण नग्न रहते, कठिन परीषह सहन करते और किसीका निमंत्रण स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी मान्यता जनसाधारणमें खूब है।'[१] जैन मुनि कठिन परीषह सहन करने और निमंत्रण स्वीकार करनेके लिये प्रख्यात हैं।

(३) 'इन्डियाके साधु नग्न रहते और कोह कॉफका (Caucasus) बर्फ तथा सर्दीका वेग विना संक्लेश परिणामोंके सहन करते हैं और जब वे अपने शरीरको अग्निके सुपुर्द कर देते हैं और वह जलने लगता है, तो उनके मुखसे एक आह भी नहीं निकलती है।'[२] सर्दी, गर्मी, दंश आदि बाईस परीषहोंको जैन मुनि समताभावसे सहन करते हैं उनको शरीरसे ममत्व नहीं होता। अंतिम समयमें वे सल्लेखना व्रत करते हैं और प्राणान्त होजानेपर अग्निचिता उनकी देह भस्म होजाती है। कल्याण (Kalanos) नामक एक जैन मुनिके सल्लेखना व्रतका विशद वर्णन, यूनानियोंने किया है निम्नमें उसको प्रकट करते हुये इस विषयका स्पष्टीकरण होजायगा। आज भी जैन साधु इस व्रतका अभ्यास करते हुये मिलेंगे। इससे भाव आत्महत्याका नहीं है।

(४) 'उन (भारतीयों) के तत्ववेत्ता, जिनको वे 'जिम्नोसोफिस्ट' कहते हैं, प्रातः कालसे सूर्यास्त तक सूर्यकी ओर टकटकी लगा कर खडे रहते हैं। खूब जलती हुई रेतपर वह दिनभर कभी इस पैरसे और कभी दुसरेसे स्थित रहते हैं।'[३] यहांपर जैन मुनियोंको आतापन योग नामक तपस्याका साधन करते हुये बताया गया है।

(५) साधारण मनुष्योंको संयमी और संतोषमय जीवन वितानेकी-

१-ऐइ० पृ० ६३। २-ऐइ० पृ० ६८ फुट०-१। ३-ऐइ पृ० ६८ फु०२।

सलाह इन श्रमणोंने दी थी।[1] जैन मुनि सदा ही ऐसी शिक्षा दिया करते हैं।

(६) श्रमण और श्रमणी ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हैं। श्रमणी तत्वज्ञानका अभ्यास करती हैं।[2] जैनसंघके मुनि आर्यिकाओंको पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करना अनिवार्य होता है। आर्यिकायें तत्व-ज्ञानका खासा अध्ययन करती हैं।

(७) श्रमण संघमें प्रत्येक व्यक्ति सम्मिलित होसक्ता है।[3] जैनसंघका द्वार भी प्रत्येक जीवित प्राणीके लिये सदासे खुला रहा है।[4]

(८) 'श्रमण नग्न रहते हैं। वे सत्यका अभ्यास करते हैं। भविष्य विषयक वक्तव्य प्रगट करते हैं। और एक प्रकारके 'पिरा-मिड' (Pyramid) की पूजा करते हैं, जिनके नीचे वे किसी महापुरुषकी अस्थियां रक्खी हुई मानते हैं।'[5] नग्न रहना, सत्यका अभ्यास करना और भविष्य सम्बंधी वक्तव्य घोषित करना जैन मुनियोंके लिये कोई अनोखी बात नहीं है। ज्योतिष और भविष्य फल प्रगट करनेके लिये वे अजैन ग्रन्थोंमें भी सन्मानकी दृष्टिसे देखे गये हैं।[6] सिद्ध प्रतिमा संयुक्त स्तूप ठीक 'पिरामिड' जैसे होते हैं। जैनोंमें इनकी मान्यता बहु प्राचीनकालसे है। यह स्तूप

१–ऐइ० पृ० ७०। २–ऐइ० पृ० १८३ व मेऐइ० पृ० १०३। ३-ऐइ०, पृ० १६७। ४–वीर, वर्ष ५ पृ० २३०–२३४। ५–ऐइ०, पृ० १८३। ६–न्यायबिन्दु (अ० ३) में श्री ऋषभ व वर्द्धमान महावीरजीको ज्योतिष विद्यामें निष्णात होनेके कारण सर्वज्ञके आदर्शरूप प्रगट किया है। मुद्रा राक्षस (अं० ४), प्रबोध चन्द्रोदय (अं० ३) आदिमें जैन मुनि भविष्य विषयक घोषणा करते बताये गये है। देखो जैग० भाग १४ पृ० ४५–६१।

केवली भगवानके समाधिस्थानपर बनते हैं। तक्षशिलामें आज भी कई भग्न जैन स्तुप मिले हैं।

(९) 'सूर्यकी प्रखर धूपमें खड़े हुए दिगम्बर (नग्न) साधुओंसे सिकन्दरने पूछा कि आप लोग क्या चाहते हैं? उन्होंने उत्तर दिया कि, आप अपने साथियोंके साथ कहीं छायाका आश्रय लें। बस, हमको यही चाहिये।'[१] यह क्रिया दया दाक्षिण्यादि गुणयुक्त जैन साधुओंके उपयुक्त है। उन्होंने यूनानियोंके लिये सूर्यका ताप असहिष्णु समझकर शीतल प्रदेशके उपयोगका उपदेश दिया प्रतीत होता है।

(१०) श्रमणोंने कहा था कि 'इस परिभ्रमणका कभी अन्त होनेवाला नहीं। जब हमारी मृत्यु होगी तो इस शरीर और आत्माका जो अस्वाभाविक मिलन है, वह छूट जायगा।[३] मृत्युके बाद हमें एक अच्छी गति प्राप्त होगी।[३] यह मान्यतायें ठीक जैनोंके समान हैं।

(११) "एकबार सिकन्दरने ध्यानमग्न दश साधुओंको बलात्कारसे पकड़कर मंगा लिया था। साधुओंसे उसने दस प्रश्न किये और धमकी दी कि यदि इनका ठीक उत्तर नहीं होगा, तो हम सबको एक साथ मरवा देंगे। परन्तु साधुओंके संघनायकने बड़ी निर्भीकतासे सिकन्दरसे कहा था कि यद्यपि तुम्हारा शारीरिक और सैनिक बल हमसे बढ़ा चढ़ा है, किंतु आत्मिक बल तुम्हारा हमसे प्रबल नहीं होसक्ता। कहा जाता है कि ये नग्न साधु सिकन्दरके सिपा-

१-जैसि भा० भा० १ कि० २-३, पृ० ८-९। २-पूर्ववत्। ३-ऐइ० पृ० ७५।

हियों तथा अन्यान्य मनुष्योंके पदचिन्हित पृथ्वीपर ही पैर रखकर चलते थे। जैनाचार्योंने जहां मुनियोंके आचारका कथन किया है, वहां विहार वर्णनमें स्पष्ट रूपसे लिखा है कि मुनियोंको तथा साधुओंको मर्दित तथा पददलित भूमिपर ही चलना चाहिये। इस कथनसे ग्रीक इतिहास लेखकोंका कथन बड़ी अभिन्नतासे मिलता है।"[1]

उपरोक्त खास विशेषताओंको देखते हुये यह निस्सन्देह स्पष्ट है कि सिकन्दर महान्को जो नग्न साधु तक्षशिलाके आसपास मिले थे, वह दिगम्बर जैन साधु थे। आजीविक साधु वह नहीं होसक्ते; क्योंकि आजीविक साधु पूर्णतः निरामिष भोजी नहीं होते, आजीविका करते हैं और एक लाठी (डन्डा) भी हाथमें लिये रहते हैं।[2] तथापि उनका वैदिक ऋषि और बौद्ध भिक्षु होना भी असंगत है। इन दोनों साधुओंका उल्लेख तो यूनानियोंने प्रथक रूपमें किया है।[3] अतएव इन नग्न साधुको दिगम्बर जैन श्रमण मानना अनुचित नहीं है।[4] तक्षशिलामें तब इनकी बाहुल्यता और प्रतिष्ठा अधिक थी; इससे कहा जा सक्ता है कि उस समय जैनधर्म अवश्य ही उत्तर-पश्चिमीय सीमावर्ती देशोंतक फैल गया था। यूनानी लोगोंके वर्णनसे तबके जैन साधुधर्मके स्वरूपका भी दिग्दर्शन होजाता है और वह भ० महावीरके समयके अनुकूल प्रगट होता है।

१-जैसि भा०, भा० १ कि० ४ पृ० ६। २-भमबु० पृ० २०-२२ व वीर वर्ष २ पृ० ५४७। ३-जैसिभा०, भा० १ कि० २-३ पृ० ८। ४-डॉ० स्टीवेन्सन (जराऐसो० जनवरी १८५५), प्रो० कोल्ब्रुक (ऐरि० भा० ९ पृ० २९९) और इन्साइक्लोपेडिया ब्रिटेनिका (११वीं आवृत्ति) भा० १५ पृ० १२८में इन नग्न श्रमणोंको जैनमुनि लिखा है।

दिगम्बर जैन साधु मन्दनीस और कलोनस।

यूनानियोंने इन नग्नसाधुओंमें मन्दनीस और कलोनस नामक दो साधुओंकी बड़ी प्रशंसा की है। इनको उन्होंने ब्राह्मण लिखा है और इस अपेक्षा किन्हीं लेखकोंने उनका चरित्र वैदिक ब्राह्मणोंकी मान्यताओंके अनुकूल चित्रित किया है; किंतु उनको सबने नग्न बतलाया है।[१] तथापि कलोनसको जो केशलोंच आदि करते लिखा है, उससे स्पष्ट है कि ये साधु जैन श्रमण थे। एक यूनानी लेखकने कलोनसको ब्राह्मण पुरोहित न लिखकर 'श्रमण' बतलाया भी है।[२] अतः माल्रम ऐसा होता है कि जन्मसे ये ब्राह्मण होते हुये भी जैन धर्मानुयायी थे। इनका मूल निवास तिरहूतमें था।[३] सिकन्दर जब तक्षशिलामें पहुंचा तो उसने इन दिगम्बर साधुओंकी बड़ी तारीफ सुनी। उसे यह भी माल्रम हुआ कि वह निमंत्रण स्वीकार नहीं करते। इसपर वह खुद तो उनसे मिलने नहीं गया; किंतु अपने एक अफसर ओनेसिक्रिटस (Onesikritos)को उनका हालचाल लेनेके लिये भेजा। तक्षशिलाके बाहर थोड़ी दूरपर उस अफसरको पन्द्रह दिगम्बर साधु असह्य धूपमें कठिन तपस्या करते मिले थे। कलोनस नामक साधुसे उसकी वार्तालाप हुई थी। यही साधु यूनान जानेके लिये सिकन्दरके साथ हो लिया था।[४] माल्रम होता है कि 'कलोनस' नाम संस्कृत शब्द 'कल्याण' का अपभ्रंश है।[५]

१–विशेषके लिये देखो वीर, वर्ष ६। २–ऐइ०, पृ० ७२। ३–ऐरि० भा० ९ पृ० ७०। ४–ऐइ०, पृ० ६९। ५–यूनानी लेखक प्लूटार्कका कथन है कि यह मुनि आशीर्वादमें 'कल्याण' शब्दका प्रयोग करते थे। इस कारण कलॉनस कहलाते थे। इनका यथार्थ नाम 'स्फाइन्स' (Sphines) था। मेऐइ० पृ० १०६।

अतः इन साधुका शुद्ध नाम ठीक है, जो जैन साधुओंके नामके समान है।

मुनि कल्याणने इस विदेशीके प्रचण्ड लोभ और तृष्णाके वश हो घोर कष्ट सहते हुये वहां आया देखकर जरा उपहासभाव धारण किया और कहा कि पूर्वकालमें संसार सुखी था–यह देश अनाजसे भरपूर था। वहां दूध और अमृत आदिके झरने बहते थे, किन्तु मानव समाज विषयभोगोंके आधीन हो घमण्डी और उद्दण्ड होगया। विधिने यह सब सामग्री लुप्त करदी और मनुष्यके लिये परिश्रमपूर्वक जीवन बिताना (A life of toil) नियत कर दिया। संसारमें पुनः संयम आदि सद्‌गुणोंकी वृद्धि हुई और अच्छी चीजोंकी बाहुल्यता भी होगई! किन्तु अब फिर मनुष्योंमें असन्तोष और उच्छृङ्खलता आने लगी है और वर्तमान अवस्थाका नष्ट होजाना भी आवश्यक है।[1] सचमुच इस वक्तव्य द्वारा मुनि कल्याणने भोगभूमि और कर्मभूमिके चौथे काल और फिर पंचमकालके प्रारंभका उल्लेख किया प्रतीत होता है।

उनने यूनानी अफसरसे यह भी कहा था कि 'तुम हमारे समान कपड़े उतारकर नग्न होजाओ और वहीं शिलापर आसन जमाकर हमारे उपदेशको श्रवण करो।'[2] बेचारा यूनानी अफसर इस प्रस्तावको सुनकर बड़े असमंजसमें पड़ गया था; किन्तु एक जैन मुनिके लिये यह सर्वथा उचित था कि वह संसारमें बुरी तरह फँसे हुये प्राणीका उद्धार करनेके भावसे उसे दिगम्बर मुनि होजा-

१–ऐइ०, पृ० ७०। २–ऐइ० पृ० ७०।

नेकी शिक्षा दें। प्रायः प्रत्येक जैन मुनि अपने वक्तव्यके अन्तमें ऐसा ही उपदेश देते हैं और यदि कोई व्यक्ति मुनि न होसके तो उसे श्रावकके व्रत ग्रहण करनेका परामर्श देते हैं। मुनि कल्याण-ने भी यही किया था। किन्तु एक विदेशीके लिये इनमेंसे किसी भी प्रस्तावको स्वीकार कर लेना सहसा सुगम नहीं था। मुनि मन्दनीस, जो संभवतः संघाचार्य थे, यूनानी अफसरकी इस विकट उलझनमें सहायक बन गये। उन्होंने मुनि कल्याणको रोक दिया और यूनानी अफसरसे कहा कि 'सिकन्दर' की प्रशंसा योग्य है। वह विशद साम्राज्यका स्वामी है, परन्तु तो भी वह ज्ञान पानेकी लालसा रखता है। एक ऐसे रणवीरको उनने ज्ञानेच्छु रूपमें नहीं देखा! सचमुच ऐसे पुरुषोंसे बड़ा लाभ हो, कि जिनके हाथोंमें बल है, यदि वह संयमाचारका प्रचार मानव-समाजमें करें। और संतोषमई जीवन बितानेके लिये प्रत्येकको बाध्य करे।

महात्मा मन्दनीसने दुभाषियों द्वारा इस यूनानी अफसरसे वार्तालाप किया था। इसी कारण उन्हें भय था कि उनके भाव ठीक प्रकट न होसकें। किन्तु तो भी उनने जो उपदेश दिया था उसका निष्कर्ष यह था कि विषय सुख और शोकसे पीछा कैसे छूटे। उनने कहा कि शोक और शारीरिक श्रममें भिन्नता है। शोक मनुष्यका शत्रु है और श्रम उसका मित्र है। मनुष्य श्रम इसलिये करते हैं कि उनकी मानसिक शक्तियां उन्नत हों, जिससे कि वे भ्रमका अन्त कर सकें और सबको अच्छा परामर्श देसकें। वे तक्षशिला वासियोंसे सिकन्दरका स्वागत मित्ररूपमें करनेके लिये

कहेंगे; क्योंकि अपनेसे अच्छा पुरुष यदि कोई चाहे तो उसे भलाई करना चाहिये।'[1]

इसके बाद उनने यूनानके तत्ववेत्ताओंमें जो सिद्धान्त प्रचलित थे उनकी बाबत पूछा और उत्तर सुनकर कहा कि 'अन्य विषयोंमें यूनानियोंकी मान्यताएं पुष्ट प्रतीत होती हैं, जैसे अहिंसा आदि, किन्तु वे प्रकृतिके स्थानपर प्रवृत्तिको सम्मान देनेमें एक बड़ी गलती करते हैं। यदि यह बात न होती तो वे उनकी तरह नग्न रहनेमें और संयमी जीवन बितानेमें संकोच न करते; क्योंकि वही सर्वोत्तम गृह है, जिसकी मरम्मतकी बहुत कम जरूरत पड़ती है। उनने यह भी कहा कि वे (दिगम्बर मुनि) प्राकृतवाद, ज्योतिष, वर्षा, दुष्काल, रोग आदिके सम्बन्धमें भी अन्वेषण करते हैं।[2] जब वे नगरमें जाते हैं तो चौराहे पर पहुंचकर सब तितर-बितर होजाते हैं।[3] यदि उन्हें कोई व्यक्ति अंगूर आदि फल लिये मिल जाता है, तो वह देता है उसे ग्रहण कर लेते हैं। उसके बदलेमें वह उसे कुछ नहीं देते।[4] प्रत्येक धनी गृहमें वह अन्तः-

१-ऐइ० पृ० ७०-७१ सन्तोषी और संयमी जीवन बितानेकी शिक्षा देना, दूसरोंके साथ भलाई करनेका उपदेश देना और प्रवृत्तिको प्रधानता देना, जैन मान्यताका द्योतक है। २-इस उल्लेखसे उस समयके मुनियोंका प्रत्येक विषयमें पूर्ण निष्णात होना सिद्ध है। ३-यहां आहार क्रियाका वर्णन किया गया है। नियत समयपर संघ आहारके लिये नगरमें जाता होगा और वहां चौराहेपर पहुंचकर सबका अलग २ प्रस्थान कर जाना ठीक ही है। ४-कैसे और कौनसा आहार वे ग्रहण करते हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें महात्मा मन्दनीसने यह वाक्य कहे प्रगट होते हैं। जैन साधुको एक व्यक्ति भक्तिपूर्वक जो भी शुद्ध निरामिष भोजन देता है, उसे ही वह

पुर तक बिना रोकटोकके जासक्ते हैं। आचार्य मन्दनीसने सिकन्दरके लिये यह भी उपदेश दिया था कि वह इन सांसारिक सुखोंकी आशामें पड़कर चारों तरफ क्यों परिभ्रमण कर रहा है? उसके इस परिभ्रमणका कभी अन्त होनेवाला नहीं। वह इस पृथ्वीपर अपना कितना ही अधिकार जमाले, किन्तु मरती बार उसके शरीरके लिये साढेतीन हाथ जमीन ही बस होगी।"[1]

इन महात्माके मार्मिक उपदेश और जैन श्रमणोंकी विद्याका प्रभाव सिकन्दर पर बेढब पड़ा था। उसने अपने साथ एक साधुको भेजनेकी प्रार्थना संघनायकसे की थी; किन्तु संघनायकने यह बात अस्वीकार की थी। उन्होंने इन जैनाचार हीन विदेशियोंके साथ रहकर मुनिधर्मका पालन अक्षुण्ण रीतिसे होना अशक्य समझा था। यही कारण है कि उनने किसी भी साधुको यूनानियोंके साथ जानेकी आज्ञा नहीं दी। किन्तु इसपर भी मुनि कल्याण (कॅलानस) धर्मप्रचारकी अपनी उत्कट लगनको न रोक सके और वह सिकन्दरके साथ हो लिये थे। उनकी यह क्रिया संघनायकको पसंद न आई और मुनि कल्याणकको उनने तिरस्कार दृष्टिसे देखा था।

कलोनसका विदेशमें समाधिमरण।

भारतसे लौटते हुये जिससमय सिकन्दर पारस्यदेशमें पहुंचा; तो वहांके सुसा (Susa) नामक स्थानमें इन महात्मा कॅलानसको एक प्रकारकी व्याधि जो अपने देशमें कभी नहीं होती थी होगई।[2] इस समय

ग्रहण करते हैं। उसके बदलेमें वह उसे कुछ भी नहीं देते। भोजनके नियममें वे भक्तजनका कोई भी उपकार नहीं करते।

१-ऐइ० पृ० ७३। २-जैसि भा०, भा० १ कि० ४ पृ० ५।

वह तेहत्तर वर्षके वृद्ध थे। और फिर रुग्णदशामें उनके लिये जैनधर्मकी प्रथानुसार प्रवृत्ति करना और धर्मानुकूल इन्द्रियदमनकारी भोजनों द्वारा रोगी शरीरका निर्वाह करना असाध्य होगया था। इसलिये उन्होंने सल्लेखना व्रतको ग्रहण कर लेना उचित समझा। यह व्रत उसी असाध्य अवस्थामें ग्रहण किया जाता है, जब कि व्यक्तिको अपना जीवन संकटापन्न दृष्टि पड़ता है। मुनि कल्याणकी शारीरिक स्थिति इसी प्रकारकी थी। उनने सिकन्दर पर अपना अभिप्राय प्रकट कर दिया। पहिले तो सिकंदर राजी न हुआ; परंतु महात्माको आत्मविर्सन करने पर तुला देखकर उसने समुचित सामग्री प्रस्तुत करनेकी आज्ञा दे दी। पहिले एक काठकी कोठरी बनाई गई थी और उसमें वृक्षोंकी पत्तियां बिछा दीगई थीं। इसीकी छतपर एक चिता बनाई गई थी।[1] सिकन्दर उनके सम्मानार्थ अपनी सारी सेनाको सुसज्जित कर तैयार होगया। बीमारीके कारण महात्मा कॅलानस बड़े दुर्बल होगये थे। उनको लानेके लिये एक घोड़ा भेजा गया; किन्तु जीवदयाके प्रतिपालक वे मुनिराज उस घोड़े पर नहीं चढ़े और भारतीय ढंगसे पालकीमें बैठकर वहां आ गये। वह उस कोठड़ीमें उनकी व्यवस्थानुसार बन्द कर दिये गये थे। अन्तमें वह चितापर विराजमान हो गये। चितारोहण करती बार उनने जैन नियमानुसार सबसे क्षमा प्रार्थनाकी भेंट की। तथा धार्मिक उपदेश देते हुये केशलोंच भी किया।[2]

१-ऐइ०, पृ० ७३। २-केशलोंच करना, जैन मुनियोंका खास नियम है। यूनानियोंने मुनि कल्याणके अंतिम समयका वर्णन एक निश्चित रूपमें नहीं दिया है। चितापर बैठकर समाधि लेना जैन दृष्टिसे ठीक नहीं है। सम्भवतः अपने शवको जलवानेकी नियतसे मुनि कल्याणने ऐसा किया हो।

उससमय सिकन्दरको यह दृश्य मर्मभेदी प्रतीत हुआ; तो भी उसने अपनी भक्ति दिखानेके लिए अपने सभी रणवाद्य बजवाये और सभी सैनिकोंके साथ शोकसूचक शब्द किया तथा हाथियोंसे भी चिंघाड करवाई। सिकन्दर उनके निकट मिलनेके लिये भी आया; किंतु उन्होंने कहा कि "मैं अभी आपसे मुलाकात करना नहीं चाहता; अब शीघ्र ही आपसे मुझे भेंट होगी।" इस कथनका भावार्थ उस समय कोई भी न समझ सका; परन्तु कुछ समयके बाद जब सिकन्दर कालकवलित होनेके सम्मुख हुआ तो म० कलॉनसके इस भविष्यद्वक्तृत्व शक्तिकी याद सबको होआई।[1] उस चिताकी धधकती हुई विकराल ज्वालामें महात्मा कलोनसका शरीरान्त होगया था।[2] इन जैनमुनिने विदेशियोंके हृदयोंपर कितना गहरा प्रभाव जमा लिया था, यह प्रकट है। सचमुच यदि वह यूनान पहुंच जाते तो वहांपर एकवार जैन सिद्धांतोंकी शीतल और विमल जान्हवी बहा देते!



१–म० कलॉनसके भविष्यद्वक्तृत्वके इस उदाहरणसे उनको अपने अंतिम समयका ज्ञान हुआ मानना कुछ अनुचित नहीं जंचता और वह चितापर ठीक उसी समय बैठे होंगे; जिस समय उनके प्राण पखेरू इस नश्वर शरीरको छोडने लगे होंगे। २–जैसि भा०, भा० १ कि० ४ पृ० ७–८।

(११)

श्रुतकेवली भद्रबाहुजी और अन्य आचार्य।

(ई० पू० ४७३-३८३)

जम्बूस्वामी अंतिम केवली थे। इनके बाद केवलज्ञान-सूर्य इस उपदेशमें अस्त होगया था; परन्तु पांच मुनिराज श्रुतज्ञानके पारगामी विद्यमान रहे थे।

श्री भद्रबाहुजीका समय।

यह नंदि, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु नामक थे।[1] नंदिके स्थानपर दूसरा नाम विष्णु भी मिलता है।[2] यह पांचों मुनिराज चौदह पूर्व और बारह अंगके ज्ञाता श्री जम्बूस्वामीके बाद सौ वर्षमें हुए बताये गये हैं और इस अपेक्षा अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी ई० पू० ३८३ अथवा ३६९ तक संघाधीश रहे प्रगट होते हैं। किन्तु अनेक शास्त्रों और शिलालेखोंसे यह भद्रबाहुस्वामी मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्तके समकालीन प्रगट होते हैं[3] और चन्द्रगुप्तका समय ई० पू० ३२६-३०२ माना जाता है।[4] अब यदि श्री भद्रबाहुस्वामीका अस्तित्व ई० पू० ३८३ या ३६९ के बाद न माना जाय तो वह चन्द्रगुप्त मौर्यके समकालीन नहीं होसक्ते हैं।

'उत्तर तिल्लोयपण्णति' जैसे प्राचीन ग्रन्थोंसे प्रमाणित है कि भगवान महावीरजीके निर्वाण कालसे २१९ वर्ष (पालकवंश ६०

१-तिल्लोयपण्णति गा० ७२-७४। २-श्रुतावतार कथा पृ० १३ व अंगपण्णति गा० ४३-४४। ३-जैशि मा०, भा० १ कि० १-४ व श्रवण बे० पृ० २५-४०। ४-जबिओसो० भा० १ पृ० ११६।

वर्ष+नन्दवंश १५५) बाद मौर्यवंशका अभ्युदय हुआ था।[1] श्वेतांबर पट्टावलियोंसे सम्राट् चन्द्रगुप्तका वीर निर्वाणसे २१९ वर्ष बाद ई० पू० ३२६ या ३२५ के नवम्बर मासमें सिंहासनारूढ़ होना प्रगट है।[2] इस प्रकार चन्द्रगुप्तका राज्यारोहण काल जो ३२६ ई० पू० अन्यथा माना जाता है, वह जैन शास्त्रोंके अनुसार भी ठीक बैठता है। अतएव श्री भद्रबाहु स्वामीका अस्तित्व ई० पू० ३८३ या ३६५ के बाद मानना समुचित प्रतीत होता है। जैन शास्त्रोंसे प्रकट है कि भद्रबाहुस्वामीके ही जीवनकालमें विशाखाचार्य नामक प्रथम दशपूर्वीका भी अस्तित्व रहा था।[3] इस श्लोकमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही संप्रदायके ग्रंथोंसे भद्रबाहु और चंद्रगुप्त प्रायः समसामयिक सिद्ध होते हैं।[4]

भद्रबाहुका चरित्र। पहिलेके चार श्रुतकेवलियोंके विषयमें दिगम्बर जैन शास्त्रोंमें कुछ भी विशेष वर्णन नहीं मिलता है। हां, भद्रबाहुके विषयमें उनमें कई कथायें मिलती हैं। श्री हरिषेणके 'बृहत्कथाकोष' (सन् ९३१) में लिखा

१–तिप० गा० ९५–९६। २–इऐं० भा० ११ पृ० २५१। ३–दिगम्बर जैनग्रन्थोंसे प्रगट है कि भद्रबाहुस्वामी चन्द्रगुप्त सहित कटिपर्व नामक पर्वतपर रह गये थे और विशाखाचार्यके आधिपत्यमें जैनसंघ चोलदेशको चला गया था। उधर श्वेताम्बरोंकी भी मान्यता है कि भद्रबाहु अपने अन्तिम जीवनमें नेपालमें जाकर एकान्तवास करने लगे थे और स्थूलभद्र पट्टाधीश थे। (परि० पृ० ८७–९०) अतः निस्संदेह भद्रबाहुजीके जीवनकालमें ही उनके उत्तराधिकारी होना और उनका ई० पू० ३८३ के बादतक जीवित रहना उचित जंचता है। २९ वर्ष तक वे पट्टपर रहे प्रतीत होते हैं और फिर मुनिशासक या उपदेशक रूपमें शेष जीवन व्यतीत किया विदित होता है। ४–जैशिसं०, पृ० ६६।

है कि पौण्ड्वर्द्धन देशमें देवकोट्ट नामक ग्राम था; जिसको प्राचीन समयमें 'कोटिंपुर' कहते थे। यहां पद्मरथ राजा राज्य करता था। पद्मरथका पुरोहित सोमशर्मा था। उसकी सोमश्री नामक पत्नीके गर्भसे भद्रबाहुका जन्म हुआ था। एक दिन जब भद्रबाहु खेल रहे थे, चौथे श्रुतकेवली गोवर्द्धनस्वामी उधर आ निकले और यह देखकर कि भद्रबाहु पांचवें श्रुतकेवली होंगे, उन्होंने भद्रबाहुके माता-पिताकी अनुमतिसे उन्हें अपने संरक्षणमें ले लिया। भद्रबाहु अनेक विद्यायोंमें निष्णात पंडित होगये। वे गोवर्द्धन नदीके किनारे एक बागमें ठहरे थे। उस समय उज्जैनमें जैन श्रावक चंद्रगुप्त राजा था और उसकी रानी सुप्रभा थी।

जिस समय भद्रबाहुस्वामी वहां नगरमें आहारके लिये गये, तो एक घरमें एक अकेला बालक पालनेमें पड़ा रोरहा था, उसने भद्रबाहुजीसे लौट जानेके लिये कहा। इससे उनने जान लिया कि उस देशमें बारह वर्षका अकाल पड़नेवाला है। यह जानकर उनने संघको दक्षिण देशकी ओर जानेकी आज्ञा दी और स्वयं उज्जैनके निकट भद्रपाद देशमें जाकर समाधिलीन होगये। राजा चंद्रगुप्तने भी अकालकी बात सुनकर भद्रबाहुके निकट दीक्षा ग्रहण कर ली थी। उन्हींका नाम विशाखाचार्य रक्खा गया था और वे संघाधीश होकर दक्षिणकी ओर पुन्नाट देशको संघ लेगये थे। जब बारह वर्षका अकाल पूर्ण हुआ तब वे संघसहित लौटकर मध्यदेशमें आगये थे।[1] श्री रत्ननंदिजीके 'भद्रबाहु चारित्र' में भी ऐसा ही वर्णन है, परंतु उसमें थोड़ासा अन्तर है। इसके अनुसार

१-ऐहि० भा० १४ पृ० २१७ व श्रव० पृ० २७।

सम्राट् चंद्रगुप्तने भद्रबाहुस्वामीसे सोलह स्वप्नोंका फल पुछा था; जिसे सुनकर वह मुनि होगये थे।

बारह वर्षका अकाल जानकर सब दक्षिणको चले गये थे। इस चारित्रमें भद्रबाहुजीको भी संघके सहित दक्षिणकी ओर गया लिखा है परंतु मार्गमें अपना अन्तसमय सन्निकट जानकर उनने संघको चोलदेशकी ओर भेज दिया था और स्वयं चंद्रगुप्ति मुनिके साथ वहीं रह गये थे। वहींपर उनका स्वर्गवास हुआ था। चंद्रगुप्ति मुनि कान्यकुब्जको चला आया था। कनड़ी भाषाके दो ग्रंथ 'मुनिवंशाभ्युदय' (१६८० ई०) और "राजावलीकथे" (१८३८ ई०)में भी भद्रबाहुका वर्णन मिलता है। पहिले ग्रन्थसे यह स्पष्ट है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु श्रमणबेलगोला तक आये थे और वहांके चिक्कबेट्ट (पर्वत) पर रहे थे। एक व्याघ्रके आक्रमणसे उनका शरीरान्त हुआ था। जैनाचार्य अर्हद्बलिकी आज्ञासे दक्षिणाचार्य भी यहां दर्शन करने आये थे। उनका समागम चन्द्रगुप्तसे हुआ था, जो यहां यात्राके लिये आया था। इस ग्रन्थके अनुसार चंद्रगुप्तने दक्षिण आचार्यसे दीक्षा ग्रहण की थी। मालूम ऐसा होता है कि इस ग्रन्थके रचयिताने द्वितीय भद्रबाहुको चन्द्रगुप्तका समकालीन समझा है। यही कारण है कि वह अर्हद्बलि आचार्यका नाम ले रहा है। किंतु चंद्रगुप्तके समकालीन द्वितीय भद्रबाहु नहीं होसके। उनके समयमें किसी भी चन्द्रगुप्त नामक राजाका अस्तित्व भारतीय इतिहासमें नहीं मिलता। 'राजावलीकथे' में यह विशेषता है कि उसमें चंद्रगुप्त पाटलिपुत्रका राजा प्रगट किया गया है।

१—भद्रबाहु चरित्र पृ० ३१–३५ व ४९...

वास्तवमें मौर्य्य साम्राज्यकी दो राजधानियां उज्जैनी और पाटलिपुत्र प्रारम्भसे रहीं हैं। अतएव जैन कथाकारोंने अपनी रुचिके अनुसार दोनोंमेंसे एक२का उल्लेख समय२ पर किया है। इस ग्रन्थमें चन्द्रगुप्तके पुत्रका नाम सिंहसेन लिखा है; जिसे राज्य देकर चन्द्रगुप्त मुनि होगये थे और भद्रबाहुजीके साथ दक्षिणको चले गये थे। एक पर्वतपर भद्रबाहुजी और चन्द्रगुप्त रहे थे। शेष संघ चोलदेशको चला गया था। तामिलभाषाके "नालडियार" नामक नीतिकाव्यसे भी दक्षिणके पांड्य देशतक इस संघका पहुंचना प्रमाणित है।[२] इस नीतिकाव्यकी रचना इस संघके साधुओं द्वारा हुई कही जाती है। पांड्य राजाने इन जैन साधुओंका बड़ा आदर और सत्कार किया था। वह इनके गुणोंपर इतना मुग्ध था कि उसने सहसा उन्हें उत्तरापथकी ओर जाने नहीं दिया था।

आज भी अर्काट जिलेमें 'तिरुमलय' नामक पवित्र जैनस्थान उत्तर भारतसे जैनसंघ आनेकी प्रत्यक्ष साक्षी देरहा है। यहांपर पर्वतके नीचे अनेक गुफायें हैं। एक गुफा विद्याभ्यासके लिये है, जिनमें जम्बूद्वीप आदिके नकशे बने हुए हैं। यह प्रसिद्ध है कि भद्रबाहुके मुनिसंघवाले बारह हजार मुनियोंमेंसे आठ हजार मुनियोंने यहां आकर विश्राम किया था। पर्वतपर डेढ़फुट लम्बे चरणचिन्ह उसकी प्राचीनता स्वयं प्रमाणित करते हैं।[३] सचमुच उस समय और उससे बहुत पहलेसे चोल, पांड्य आदि देशोंका अस्तित्व और उनकी ख्याति दूर २ देश देशांतरोंमें होगई

१–भद्र०, पृ० १०–१२। २–जैहि० भा० १४ पृ० १३२।
३–मप्राजैस्मा० पृ० ७४।

थी।[1] दक्षिण भारतके इन देशोंका व्यापार एक अतीव प्राचीनकालसे देश–विदेशोंसे होता रहा है।[2] जैनधर्मकी व्यापकता भी यहां भगवान पार्श्वनाथजीसे पहलेकी थी[3]! अतएव उत्तर भारतसे जैन संघका दक्षिणकी ओर जाना एक निश्चित और अभ्रांत घटना है।

जैन संघका दक्षिणको प्रस्थान इत्यादि।

उपरोक्त चरित्रोंमें यद्यपि किंचित् परस्पर विरोध है; किंतु उन सबसे यह प्रमाणित है कि भद्रबाहुके समयमें जैन संघ दक्षिणको गया था और बारह वर्षका भीषण अकाल पड़ा था। इस बातपर भी वे करीब २ सहमत हैं कि जिन भद्रबाहुका उल्लेख है, वह अंतिम श्रुतकेवली हैं और उनके शिष्य एक राजा चन्द्रगुप्त अवश्य थे, जो उज्जैनी और पाटलिपुत्रके अधिकारी थे अर्थात् उनके यह दो राजकेन्द्र थे। यह चंद्रगुप्त इसी नामके प्रख्यात् मौर्य्य सम्राट् हैं। हां, इस बातसे हरिषेणजी, जो अन्य कथाकारोंमें सर्व प्राचीन हैं, सहमत नहीं हैं कि भद्रबाहुजी संघके साथ दक्षिणको गये थे। श्वेतांबर मान्यताके अनुसार भी उनका दक्षिणमें जाना प्रकट नहीं है। उसके अनुसार भद्रबाहुजीका अंतिम जीवन नेपालमें पूर्ण हुआ था; किंतु यह संशयात्मक है कि यह वही भद्रबाहु हैं जिन भद्रबाहुको वह नेपालमें गया लिखते हैं।

जो हो, उपरोक्त दोनों मतोंसे प्राचीन श्रृंगापटम्के दो शिलालेख इस बातके साक्षी हैं कि भद्रबाहुस्वामी चन्द्रगुप्तके साथ श्रव-

---

१–कात्यायन (ई० पू० ४००)को चोल, माहिष्मत और नासिक्यका ज्ञान था। पातंजलि (ई० पू० १५०) समग्र भारतको जानता था।
२–जमैसो० भा० १८ पृ० ३०८–३२०। ३–मपा० पृ० २३४–२३६।

णबेलगोलमें चन्द्रगिरि पर्वतपर आये थे। इनसे भी प्राचीन शिला-लेख चंद्रगिरिपर नं० ३१ वाला है। उसमें भी इन दोनों महात्माओंका उल्लेख है।[1] इस दशामें भद्रबाहुजीका श्रवणबेलगोलमें पहुंचना, कुछ अनोखा नहीं जंचता। हरिषेणजीने शायद दूसरे भद्रबाहुकी घटनाको इनसे जोड़ दिया होगा; क्योंकि प्रतिष्ठानपुरके द्वितीय भद्रबाहुका भाद्रपाद देशमें स्वर्गवास प्राप्त करना बिल्कुल संभव है। अतएव प्रथम भद्रबाहुजीका समाधिस्थान श्रवणबेलगोल मानना और उनके समयमें ही प्रथम दशपूर्वीको रहते स्वीकार करना उचित है।

श्वेतांबर संप्रदायके अनुसार श्री जम्बूस्वामीके उपरांत एक प्रभव नामक महानुभाव उनके उत्तराधिकारी और प्रथम श्रुतकेवली हुये थे। यह वही चोर थे, जिनने अबुद्ध होकर श्री जम्बूस्वामीके साथ दीक्षा ग्रहण की थी। श्वेतांबरोंने प्रभवको जयपुरके राजाका पुत्र लिखा है, जो बचपनसे ही उद्दण्ड था। राजाने उसकी उद्दण्डतासे दुखी होकर अपने देशसे निकाल दिया था और वह राजगृहमें चौर्य कर्म करके जीवन व्यतीत करता था।[2] दिगम्बर जैन ग्रन्थोंमें भी विद्युच्चर चोरको एक राजाका पुत्र लिखा है।[3] किन्तु उसे वे जम्बूस्वामीका उत्तराधिकारी नहीं बताते हैं। समझमें नहीं आता कि जब दिगम्बर और श्वेताम्बर भेदरूप दीवालकी जड़ भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समयमें पड़ी थी, तब उनके पहिले हुये श्रुतकेवलियोंकी गणनामें

श्वेताम्बर पट्टावली।

१-श्रव०, पृ० ३३-३४। २-परि०, पृ० ४२-५० व जैशासं०, वीर०, भा० १ पृ० ३। ३-उपु०, पृ० ७०३।

दोनों सम्प्रदायोंमें क्यों मतभेद है ? जो हो, श्वेताम्बर सम्प्रदायमें प्रथम श्रुतकेवली प्रभव हैं। वह चवालीस वर्षतक सामान्य मुनि रहे थे और उनने ग्यारह वर्षतक पट्टाधीश पदपर व्यतीत किये थे। उनने राजगृहके वत्सगोत्री यजुर्वेदीय यज्ञारंभ करनेवाले शिय्यंभव नामक ब्राह्मणको प्रबुद्ध किया था और वही इनका उत्तराधिकारी हुआ था। श्री प्रभवस्वामीने ८९ वर्षकी अवस्थामें वीर नि० सं० ७९ में मुक्त पद पाया था। श्री शिय्यंभव अट्ठाइस वर्षकी उमरमें जैन मुनि हुये थे। ग्यारह वर्षतक प्रभवस्वामीके शिष्य रहकर वह पट्टपर आरूढ़ हुये थे। तेईस वर्षतक युगप्रधान पद भोगकर ६२ वर्षकी अवस्थामें वीर नि० सं० ९८ में स्वर्गवासी हुये थे। इनने अपने छे वर्षके बालक पुत्रको दीक्षित किया था और उसके लिये दशवैकालिकसूत्रकी रचना की थी।[1]

इनके उत्तराधिकारी श्री यशोभद्रजी थे। यह तुंगीकायन गोत्रके थे और गृहस्थीमें बाईस वर्षतक रहकर जैन मुनि हुये थे। छत्तीस वर्षके हुये तब यह पट्टाधिकारी होकर पचास वर्षतक इस पदपर विभूषित रहे थे। वीरनिर्वाणसे एकसौ व्यालीस वर्षोंके बाद यह तीसरे श्रुतकेवली स्वर्गवासी हुये थे।[2] इनके उत्तराधिकारी श्री संभूतिविजयसूरि थे; जिनके गुरुभाई श्री भद्रबाहु स्वामी थे। इस प्रकार श्वेताम्बर चौथे और पांचवें श्रुतकेवलियोंको समकालीन प्रगट करते हैं। वह कहते हैं कि संभूतिविजयसुरि तो पट्टाधीश थे और भद्रबाहुस्वामी गच्छकी सारसंभाल करनेवाले थे। संभूति-

१-जैसासं० भा० १ वीरवं० पृ० ३ व परि० पृ० ५४...।
२-जैसासं० भा० १ वीरवं० पृ० ४ व परि० पृ० ५८।

विजय माढ़र गोत्रके थे। जब वे ४२ वर्षके थे, तब उनने मुनि-दीक्षा ग्रहण की थी। ८६ वर्षकी उमरमें वह युगप्रधान हुये थे और केवल आठ वर्ष इस पदपर रहकर वी० नि० सं० १९६ में स्वर्गवासी हुये थे।[1]

संभूति विजयके स्वर्गवासी होनेपर भद्रबाहुस्वामी संघाधीश हुए थे। जब वह बयालीस वर्षके थे, तब श्री यशोभद्रसूरिने उनको जैन मुनिकी दीक्षा दी थी। यशोभद्रकी उन्होंने १७ वर्ष तक शिष्यवत् सेवा की थी। फिर वह युगप्रधान हुए थे और इस पदपर चौदह वर्षतक आसीन रहे थे। वीर निर्वाणसे १७० वर्ष बाद उनका स्वर्गवास हुआ था[2] उनके उत्तराधिकारी स्थूलभद्र हुए थे। दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार यद्यपि श्रुतकेवलियोंकी नामावलीमें परस्पर अन्तर है; किन्तु वह दोनों ही भद्रबाहुको अंतिम श्रुतकेवली स्वीकार करते हैं। श्वेतांबर केवल इन्हीं एक भद्रबाहुका उल्लेख करते हैं और इन्हें प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिरका भाई व्यक्त करते हैं। उनके अनुसार इनका जन्मस्थान दक्षिण भारतका प्रतिष्ठानपुर है।

श्वेताम्बर शास्त्रोंमें श्री भद्रबाहु।

१–पूर्व प्रमाण। २–जैसासं० भा० १ वीरवं० पृ० ५ व परि० पृ० ८७। यद्यपि हेमचन्द्राचार्यने वीर निर्वाणसे १७० वर्ष बाद भद्रबाहुका स्वर्गवास हुआ लिखा है, परन्तु वह ठीक नहीं प्रतीत होता; जैसे कि पहिले लिखा जाचुका है। उनने स्वयं उनका स्वर्गवास मौर्य सम्राट् बिन्दुसारका वर्णन कर चुकने पर लिखा है। दिगम्बर मतमें वीर नि० से १६२ वर्षमें श्रुतकेवलियोंका होना लिखा है। इससे भी यही भाव लिया जाता है कि इस समयमें ही भद्रबाहुका स्वर्गवास होगया था; किन्तु यह मानना ठीक नहीं जंचता। इस समय वह संघनायक पदसे विलग होगये होंगे

और वह इनका गोत्र प्राचीन बतलाते हैं;[1] जो बिलकुल अश्रुतपूर्व है और उसका स्वयं उनके ग्रन्थोंमें अन्यत्र कहीं पता नहीं चलता है।[2] वराहमिहिरका अस्तित्व ई०सन्‌के प्रारम्भसे प्रमाणित है।[3] इस अवस्थामें श्वेतांबरोंकी मान्यताके अनुसार भद्रबाहुका समय भी ज्यादासे ज्यादा ईस्वीके प्रारम्भमें ठहरता है; जो सर्वथा असंभव है। मालूम ऐसा होता है कि प्रथम भद्रबाहु और द्वितीय भद्रबाहु दोनोंको एक व्यक्ति मानकर द्वितीय भद्रबाहुकी जीवन घटनाओंको प्रथम भद्रबाहुके जीवनमें जा घुसेड़नेकी भारी भूल करते हैं। 'कल्पसूत्र' इन्हीं भद्रबाहुका रचा कहा जाता है। आवश्यकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, आदिकी निरुक्तियां भी इन्हींकी लिखीं मानी जातीं हैं; किंतु वह भी ई०के प्रारम्भमें हुए भद्रबाहुकी रचनायें प्रगट होती हैं, जैसे कि महामहोपाध्याय डा० सतीशचंद्र विद्याभूषण मानते हैं।[4] मालूम यह होता है कि श्वेताम्बरोंको या तो भद्रबाहु श्रुतकेवलीका विशेष परिचय ज्ञात नहीं था अथवा वह जानबूझकर उनका वर्णन नहीं करना चाहते हैं। क्योंकि श्रुतकेवली भद्रबाहुने उस संघमें भाग

और फिर उपदेशक रूपमें रहे होंगे। श्वे० मान्यतासे उनकी आयु १२६ वर्ष प्रगट है। यदि उन्हें ४० वर्षकी उम्रमें आचार्य पद मिला मानें तो ६५ वर्षकी आयुमें वे आचार्य पदसे अलग हुये प्रगट होते हैं। शेष आयु उनने मुनिवत बिताई थी और इस कालमें वे चंद्रगुप्तकी सेवाको पा सके :

१-जैसासं० भा० १ वीर पं० पृ० ५ व परि० पृ० ५८। २-उसू० भूमिका पृ० १३। ३-डॉ० सतीशचंद्र विद्याभूषणने इस्वी प्रारम्भमें वराहमिहिरका अस्तीत्व माना है (जैहि० भा० ८ पृ० ५३२) किन्तु कर्न आदी छठी शताब्दीका मानते हैं। ४-हिष्ट्री आफ मेडिविल इण्डीयन लाजिक, जैहि० भा० ८ पृ० ५३२।

नहीं लिया था, जिसको श्वेताम्बराचार्य स्थूलभद्रने एकत्र किया था। 'श्री संघके बुलानेपर भी वे पाटलिपुत्रको नहीं आये जिसके कारण श्री संघने उन्हें संघबाह्य कर देनेकी भी धमकी दी थी।'* इसके विपरीत दिगम्बर जैनी भद्रबाहु श्रुतकेवलीका वर्णन बड़े गौरव और महत्वशाली रीतिसे विशेष रूपमें करते हैं। श्वेतांबरोंने उनको प्राचीन गोत्रका बतलाकर दिगम्बर मान्यताकी पुष्टि की है; जो निर्ग्रंथ (नग्न) रूपका भद्रबाहुके समान आर्षमार्गका अनुगामी है।

श्वेतांबरोंने स्थूलभद्रकी अध्यक्षता स्वीकार करके सवस्त्र भेषको मोक्षलिङ्ग माना है और पुरातन नियमों एवं क्रियाओंमें अंतर डाल लिया है। बस वह प्राचीन 'भद्रबाहु' को विशेष मान्यता न देते हुये भी अपने अँग ग्रँथों और भाष्योंको पुरातन और प्रामाणिक सिद्ध करनेके लिये और ईस्वीसन्‌के प्रारम्भवाले भद्रबाहुको प्राचीन भद्रबाहु व्यक्त करनेके भावसे, केवल उन्हींका वर्णन करते हैं। दूसरे भद्रबाहुके विषयमें वह एकदम चुप हो जाते हैं, किंतु वह अपने आप उनको वराहमिहिरका समकालीन बताकर उनकी अर्वाचीनता स्पष्ट कर देते हैं।[2]

१–उसु० भूमिका, पृ० १४। * परि० व जैशिसं० पृ० ६७।
२–एक जैन पट्टावलीमें एक तीसरे भद्रबाहुका उल्लेख है और उनका समय ईसवीकी प्रारम्भिक शताब्दियां हैं। उनके एक शिष्य द्वारा श्वेतांबर संप्रदायकी उत्पत्ति होना लिखा है। संभव है, श्वेतांबरोंके द्वितीय भद्रबाहु यही हों; जिनका उन्हें पता नहीं है। (इंऐ० भा० २१ पृ० ५८) ससाइ० पृ० २४–२५।

जैन संघमें भेद-स्थापना।

श्रुतकेवली भद्रबाहुके जीवनकी सबसे बड़ी घटना उत्तर भारतमें घोर दुष्काल पड़नेकी वजहसे जैनसंघके दक्षिण भारतकी ओर गमन करनेकी है। इस घटनाका अंतिम परिणाम यह हुआ था कि जैन संघके दो भेदोंकी जड़ इसी समय पड़ गई। बारह वर्षका अकाल जानकर श्री विशाखाचार्यकी अध्यक्षतामें संपूर्ण संघ दक्षिणको गया, किंतु स्थूलभद्र और उनके कुछ साथी पाटलिपुत्रमें ही रह गये थे। घोर दुष्कालके विकराल कालमें ये पाटलिपुत्रवाले जैन मुनि प्राचीन क्रियायोंको पालन करनेमें असमर्थ रहे। उन्होंने आपद्रूपमें किंचित् वस्त्र भी ग्रहण कर लिये और मुनियोंको अग्राह्य भोजन भी वे स्वीकार करने लगे थे।

जिस समय विशाखाचार्यकी प्रमुखतावाला दक्षिण देशको गया हुआ संघ सुभिक्ष होनेपर उत्तरापथकी ओर लौटकर आया और उसने पीछे रहे हुये स्थूलभद्रादि मुनियोंका शिथिलरूप देखा तो गहन कष्टका अनुभव किया। विशाखाचार्यने स्थूलभद्रादिसे प्रायश्चित्त लेकर पुनः आर्ष मार्गपर आजानेका उपदेश दिया; किंतु होनीके सिर, उनकी यह सीख किसीको पसंद न आई। स्थूलभद्रकी अध्यक्षतामें रहनेवाला संघ अपना स्वाधीन रूप बना बैठा और वह पुरातन मूल संघसे पृथक् होगया। यही संघ कालांतरमें श्वेतांब-

१–भद्र० ३९–४०; उसू० भूमिका पृ० १५–१६ व ऐइ जै० पृ० ९–१० में श्वे० विद्वान श्री पूर्णचन्द्र नाहरने भी यही लिखा है। हार्णले व ल्युमन सा० भी इस कथाको मान्यता देते हैं (Vienna oriental gournol, VII, 382 व इंऐ० २१।५९–६०।

राम्नायके रूपमें परिवर्तित हुआ। जैसे कि अगाड़ी लिखा गया है। जिस पुरातन संघके प्रधान पहिले 'प्राचीन' भद्रबाहु थे और फिर उनके उत्तराधिकारी विशाखाचार्य हुये, वह अपने सनातन स्वरूपमें रहा और आर्ष रीतियोंका पालन करता रहा। यही आजकल दिगम्बर सम्प्रदायके नामसे विख्यात् है।

श्रुतज्ञानकी विक्षिप्ति।

स्थूलभद्रादिका संघ, जब मूलसंघसे पृथक् होगया; तो प्राकृत उसे अपने धर्मशास्त्रोंको निर्दिष्ट करनेकी आवश्यक्ता हुई। दुष्कालकी भयंकरतामें श्रुतज्ञान छिन्नभिन्न होगया था। भद्रबाहुके समय तक तो जैनसंघ एक ही था; किन्तु उनके बाद ही जो उसमें उक्त प्रकार दो भेद हुये; जिसके कारण श्रुतज्ञानका पुनरुद्धार होना अनिवार्य हुआ। दिगम्बर जैनोंका मत है कि इस समय समस्त द्वादशांग ज्ञान लुप्त होगया था। केवल दश पूर्वोंके जानकार रह गये थे। किन्तु श्वेतांबरोंकी मान्यता है कि पाटलिपुत्रमें जो संघ एकत्रित हुआ था और जिसमें भद्रबाहुने भाग नहीं लिया था, उसने समस्त श्रुतज्ञानका संशोधित संस्करण तैयार कर लिया था। स्थूलभद्रने पूर्वोंका ज्ञान स्वयं भद्रबाहुस्वामीसे प्राप्त किया था; किन्तु उनको अंतिम चार पूर्व अन्योंको पढ़ानेकी आज्ञा नहीं थी।

इस प्रकार ग्यारह अङ्ग और दश पूर्वका उद्धार श्वेतांबरोंने कर लिया था; किन्तु उनके ये ग्रन्थ दि० जैनोंको मान्य नहीं थे। उनका विश्वास था कि पुरातन अंग व पूर्व ग्रंथ नष्ट होचुके हैं। केवल दश पूर्वोंका ज्ञान श्री विशाखाचार्य एवं उनके दश परम्परीण उत्तराधिकारियोंको स्मृतिमें शेष रहा था। दिगम्बर जैनोंकी इस

मान्यताकी पुष्टि जैनसम्राट् खारवेलके हाथीगुफावाले प्राचीन शिलालेखसे भी होती है; जिसमें लिखा है कि श्रुतज्ञान मौर्यकालमें लुप्त होगया था, उसका पुनरुद्धार करनेके लिये सम्राट् खारवेलने ऋषियोंकी एक सभा बुलाई थी और उसमें अवशेष उपलब्ध अङ्ग ग्रंथोंका संग्रह करके श्रुत विच्छेद होनेसे बचा लिया गया था। यह समय अंतिम दश पूर्वोंके अंतिम जीवनकालके लगभग बैठता है और इसके बाद दिगम्बर जैनोंके अनुसार ग्यारह अंगधारी मुनियोंका अस्तित्व मिलता है।

यद्यपि जैनशास्त्रोंमें सम्राट् खारवेल और उनके उपरोक्त प्रशस्त कार्यका उल्लेख कहीं नहीं है; किन्तु उक्त प्रकार दशपूर्वियोंके बाद ग्यारह अंगधारियोंका अस्तित्व मानकर अवश्य ही दिगम्बर जैन मान्यता इस बातका समर्थन करती है कि इस समय अंग ग्रंथोंका उद्धार किन्हीं महानुभावों द्वारा हुआ था। इस दशामें श्वेताम्बर संप्रदायके मतपर विश्वास करना जरा कठिन है; जो दृष्टिवाद अंगके अतिरिक्त शेष समूचे श्रुतज्ञानका अस्तित्व आज भी मानता है।

श्वेताम्बराचार्य स्थूलभद्र। श्वेतांबर ग्रन्थोंमें स्थूलभद्रको अंतिम नन्दराजाके मंत्री शकडालका पुत्र लिखा है। जिस समय शिक्षा पाकर, यह घरको लौटे तो उनके पिताने उन्हें एक वेश्याके सुपुर्द कर दिया। उसके पास रहकर स्थूलभद्र दुनियादारीके कामोंमें दक्षता पाने लगे। वेश्याके यहां रहते हुये बहुत समय व्यतीत होगया और इसमें धन भी बहुत खर्च हुआ। इनके छोटे भाई श्रीयकको अपने पिताकी यह लापरवाही पसंद न आई।

१-जविओसो, भा० १३ पृ० २३६।

उसने पिताके जीवनका अन्त करना ही उचित समझा। स्थूलभद्रको इस घटनासे संवेगका अनुभव हुआ और वह तीस वर्षकी अवस्थामें मुनि होगये। चौबीस वर्षतक उन्होंने श्री संभूतिविजयकी सेवा की और उनसे चौदह पूर्वोको सुनकर, उनने दशपूर्वोका अर्थ ग्रहण किया। संभूतिविजयके उपरांत वे युगप्रधान पदके अधिकारी हुये और इस पदपर ४९ वर्ष रहे।[1] वीरनिर्वाण सं० २१९ में स्वर्गलाभ हुआ कहा जाता है। इन्हींके समयमें अर्थात् वीर नि० सं० २१४में तीसरा निह्नव (संघभेद) उपस्थित हुआ कहा जाता है। यह अषाढ़ नामक व्यक्ति द्वारा स्वेतिका नगरीमें घटित हुआ था; किंतु वह मौर्यबलभद्र द्वारा राजगृहमें सन्मार्ग पर ले आया गया लिखा है।[2]



१-जैसासं०, भा० १ वीर पृ० ५-६; किन्तु श्वेतांबरोंकी दूसरी मान्यताके अनुसार स्थूलभद्रने दश पूर्वोका अर्थ भद्रबाहुस्वामीसे ग्रहण किया था और वह उनके बाद ही पट्टपर आये होंगे। श्वेतांबरोंका यह भी मत प्रगट होता है कि स्थूलभद्र अंतिम श्रुतकेवली थे; किंतु उन्हींकी मान्यतासे भद्रबाहुका अंतिम श्रुतकेवली होना प्रगट है। (उसू० भूमिका पृ० १४) श्वे० हेमचन्द्राचार्यने राज्योंकी काल गणनामें ६० वर्षकी भूल की है; इसी कारण वी० नि० २१५ में स्थूलभद्रका अंतिम समय प्रगट किया गया है। २-इंऐ० भा० २१ पृ० ३३५।

(१२)

मौर्य-साम्राज्य ।

(ई० पूर्व० ३२६-१८८)

चन्द्रगुप्त मौर्य ।

सिकन्दर महान्‌के आक्रमणके बाद मगधका राज्य नन्दवंशके हाथसे जाता रहा था। ब्राह्मण चाणिक्यके सहयोगसे चंद्रगुप्त नामक एक व्यक्ति मगधका राजा हुआ था। जब ई० पूर्व ३२६ अक्टूबरको सिकन्दर महान् पंजाबसे वापिस हुआ, उस समय मगधमें नन्दराजा राज्य कर रहा था। किन्तु इसके एक महीने बाद अर्थात् ई० पूर्व ३२६ के नवम्बर मासमें चन्द्रगुप्तने मगधके राज्यपर अपना अधिकार जमा लिया था। यद्यपि यह निश्चय नहीं है कि चन्द्रगुप्तने पहिले पंजाब विजय किया था या मगधको अपने अधिकारमें कर लिया था; किन्तु मालूम होता है कि उसने पहिले पंजाबको अपना मित्र बना लिया था और उसकी सहायतासे मगध जीता था। यूनानी लेखकोंके कथनसे सिकन्दरके लौटते समय चन्द्रगुप्तका पंजाबमें होना प्रमाणित है। सिकन्दर कार्मिनियामें था, तब ही भारतवासियोंने उसके यूनानी सूबेदार फिलिप्सकी जीवनलीला उस समयमें ही समाप्त करके अपनी स्वाधीनताका बीज बो लिया था। 'मुद्राराक्षस' में जिस राजा पर्वतककी हत्या होनेका बखान है वह यही फिलिप्स था। इस घटनामें अवश्य ही चंद्रगुप्तका हाथ था। इसप्रकार पंजाबवासियोंने चन्द्रगुप्तके निमित्तसे अपनेको विदेशी युना-

---

१-जबिओसो० भाग १ पृ० ११२...पर्वतककी समानता यूं दर्शाई गई है-पर्वतक=परबओ=पिरबओ=फिलिप्पोस ।

नियोंकी पराधीनतासे मुक्त होता जानकर उसका पूरा साथ दिया था और वह उनकी सहायतासे मगधका राजा बनगया था।

यह चंद्रगुप्त कौन था? इस प्रश्नका उत्तर खोजनेमें हमारा ध्यान सर्व प्रथम मुद्राराक्षस नाटकके टीका-

चन्द्रगुप्त कौन था?

कारके कथनपर जाता है। उसने 'वृषल' शब्दके आधारपर अपनी टीकामें लिखा है कि 'नन्दवंशके अंतिम राजाकी वृषल (शूद्र) जातिकी मुरा नामक रानीसे चन्द्रगुप्त उत्पन्न हुआ और अपनी माताके नामसे मौर्य कहलाया'[1] बस, इसको पढ़कर ईसवी द्वितीय शताब्दिके यूनानी लेखकों एवं अन्य विद्वा-नोंने मान लिया कि चन्द्रगुप्त मुरा नामकी शूद्रा स्त्रीकी कूंखसे जन्मा था,[2] इसलिये उसका नाम मौर्य पड़ा। किन्तु इस मान्यतामें तथ्य तनिक भी नहीं है। संस्कृत व्याकरणके अनुसार मुराका पुत्र 'मौरेय' कहलायगा, न कि मौर्य! चाणक्यने जरूर चन्द्रगुप्तके प्रति सम्बोधनमें 'वृषल' शब्दका प्रयोग किया है; किन्तु उसका अर्थ शूद्र न होकर मगधका राजा होना उचित है; जैसे कि कोषकार बतलाते हैं।[3] अशोकके लिये 'देवानां प्रिय' सम्बोधन बहु प्रयुक्त हुआ है किन्तु उसको साधारण (अर्थात् मूर्ख) अर्थमें कोई ग्रहण नहीं करता।

१–'कल्पादौ नन्दनामानः केचिदासन्महीभुजः ॥ २३ ॥
सर्वार्थसिद्धिनामासीत्तेषु विख्यातपौरुषः... ॥ २४ ॥
राज्ञः पत्नी सुनन्दासीज्ज्येष्ठान्या वृषलात्मजा।
मुराख्या सा प्रिया भर्तुः शीललावण्यसंपदा ॥ २५ ॥
मुरा प्रसूतं तनयं मौर्याख्यं गुणवत्तरं...॥ ३१ ॥'

२–ऐइं० भा० १ पृ० ५९ व अश० पृ० ६–७।

३–हेमचन्द्राचार्यका हेमकोष देखो।

इसी प्रकार वृषलका साधारण अर्थ ग्रहण करना अनुचित है। फिर यह असंभव है कि चाणक्यके समान समझदार व्यक्ति, अपने उस कृपाभाजनके प्रति ऐसे क्षुद्र शब्दका प्रयोग कर उसे लज्जित करे, जो एक बड़े साम्राज्यका योग्य शासन था और जिसकी भ्रकुटि जरा टेढ़ी होनेपर किसीको अपने प्राण बचाना दुर्भर होजाता था। फिर चाणक्य तो स्वयं लिखता है कि दुर्बल राजाको भी न कुछ समझना भूल है। असल बात यह है कि चाणक्य 'वृषल' शब्दका व्यवहार आदर रूपमें–मगधके राजाके अर्थमें–इसलिये करता था कि इससे उसके उस प्रयत्नका महत्व प्रगट होता था जो उसने चन्द्रगुप्तको मगधका राजा बनानेमें किया था और इसकी स्मृति उसके आनन्दका कारण होना प्राकृत ठीक है। मुद्राराक्षसके ब्राह्मण टीकाकारने साम्प्रदायिक द्वेषवश चन्द्रगुप्तको शूद्रजात लिख मारा है; वरन् स्वयं हिन्दू पुराणोंमें चंद्रगुप्तके शूद्र होनेका कोई पता नहीं चलता है।[2]

'विष्णुपुराण' में उनको नन्देन्दु अर्थात् 'नंद–चंद्र' (गुप्त), भविष्यपुराणमें 'मौर्य–नंद' और बौद्धोंके 'दिव्यावदान्' में केवल 'नन्द' लिखा है।[3] इन उल्लेखोंसे चंद्रगुप्तका कुछ संबंध नंदवंशसे प्रगट होता है। कोई विद्वान् 'मुद्राराक्षस' से भी यह संबंध प्रगट होता लिखते हैं;[4] किन्तु इन उल्लेखोंसे भी चन्द्रगुप्तका शूद्राजात

१–'दुर्बलोऽपि राजानावमन्तव्यः नास्त्यग्ने दौर्बल्यम्।'

२–अधः पृ० ६ व हिड्राव० परि० पृ० ७१...और राइ० भा० १ पृ० ६०–६१ माइ० पृ० ६२। ३–जबिओसो० भा० १ पृ० ११६ फुटनोट। ४–हिड्राव०, भूमिका पृ० ११–१५ व अध० पृ० ७।

होना सिद्ध नहीं है। जैन लेखक तो स्पष्ट रीतिसे चन्द्रगुप्तको क्षत्रिय कहते हैं।[1] हेमचन्द्राचार्यने 'मयूरपोषक' ग्रामके नेताकी पुत्रीको चन्द्रगुप्तकी माता लिखा है।[2] किंतु इससे भाव 'मोर पालनेवाले' के लगाना अन्याय है। प्रत्युत इस उल्लेखसे पुराणोंके उपरोक्त उल्लेखोंका स्पष्टीकरण हुआ दृष्टि पड़ता है। संभवतः नंद राजाकी एक रानी मयूरपोषक देशके नेताकी पुत्री थी और उसीसे चन्द्रगुप्तका जन्म हुआ थाै। जब शूद्राजात महापद्मने नंद राज्यपर आधिपत्य जमा लिया तो चन्द्रगुप्त अपनी ननसालमें जाकर रहने लगा हो तो असंगत ही क्या है? वहींपर चाणक्यकी उससे भेट हुई होगी।

जैन शास्त्रोंमें एक मौर्याख्य देशका अस्तित्व महावीरस्वामीसे पहलेका मिलता है। वहांके एक क्षत्रिय पुत्र—मौर्यपुत्र भगवानके

१–जैसिभा० भा० १ कि० ४ पृ० १९; भाइ० पृ० ६२ व राइ० भाग १ पृ० ६०।

२–'मयूरपोषकग्रामे तस्मिंश्च चणिनन्दनः।
प्राविशत्कणभिक्षार्थं परिव्राजकवेषभृत् ॥ २३० ॥
मयूरपोषकमहत्तरस्य दुहितुस्तदा।
अभूदापन्नसत्त्वायाश्चन्द्रपानाय दोहदः ॥ २३१॥–८ ॥'

इत्यादि। श्री हेमचन्द्रके इस कथनसे चन्द्रगुप्तको 'मोरोंको पालनेवालेकी कन्याका पुत्र' लिखना ठीक नहीं है; जब कि वह ग्रामका नाम मयूर-पोषक लिख रहे हैं। मि० बरोदिया (हिलिजै० पृ० ४४) और उनके अनुसार मि० हैवेल (हिआइ० पृ० ६६) ने 'मयूरपोषक' का शब्दार्थ ही प्रगट किया है।

३–डॉ० विमलाचरण लॉ० नन्दराजाका विवाह पिप्पलिवनके मोरिय (मौर्य) क्षत्रियोंकी राजकुमारीसे हुआ समझते हैं। देखो क्षत्रीक्लेन्स० पृ० २०५।

गणधर भी थे।[1] उधर 'महावंश' नामक बौद्ध ग्रंथसे प्रगट ही है कि 'चन्द्रगुप्त हिमालय पर्वतके आसपासके एक देशका, जो पिप्पलिवनमें था और मोर पक्षियोंकी अधिकताके कारण मौर्य राज्य कहलाता था, एक क्षत्रिय राजकुमार था[2]।' हेमचन्द्राचार्यका मयूरपोषक ग्राम, दिगम्बर जैनोंका मौर्याख्य देश और बौद्धोंके मोरिय (मौर्य) क्षत्रियोंका पिप्पलिवनवाला प्रदेश एक ही प्रतीत होते हैं और इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त इस देशकी अपेक्षा ही मौर्य कहलाता था। ऐसा ही मैकक्रिन्डलका लेख है।[3]

चन्द्रगुप्तका बाल्य-जीवन।

चन्द्रगुप्तका बाल्यजीवन मौर्याख्यदेशकी अपेक्षा अधिकतर मगधदेशमें व्यतीत हुआ था। तब मोरिय (मौर्य) क्षत्रियोंकी राजधानी पिप्पलीवन थी। इन लोगोंमें भी उस समय गणराज्य प्रणालीके ढंगपर राज्य-प्रबंध होता था। यही कारण प्रतीत होता है कि हेमचंद्राचार्यने मयूरपोषक देशके एक नेताका उल्लेख किया है। उनके उसे वहांका राजा नहीं लिखा है। किन्तु महापद्म नन्दने इन्हें भी अपने आधीन बना लिया था और एक मौर्य क्षत्री उनका सेनापति भी रहा था; यद्यपि अन्तमें उन्होंने उसे और उसकी सन्तानको मरवा डाला था। महापद्मके आधीन रहते हुये मौर्य क्षत्री सुखी नहीं रहे थे। चन्द्रगुप्तके भी प्राण सदैव संकटमें रहते थे; क्योंकि नंद राजाको उससे स्वभावतः भय होना अनिवार्य था; किंतु चंद्रगुप्तकी विधवा माताने उनकी रक्षा बड़ी तत्परतासे की

१-वृजैश० पृ० ७। २-महावंश-टीका (सिंहलीयावृत्ति) पृ० ११९...। ३-माइ० पृ० ६२। ४-जैसिभा०, भा० १ कि० ४ पृ० २१।

थी।[1] फलतः जिससमय चंद्रगुप्त युवावस्थामें पदार्पण कर रहे थे, उससमय उनका समागम चाणक्यसे हुआ, जो नंदराजा द्वारा अपमानित होकर उससे अपना बदला चुकानेकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर चुका था। चाणक्यके साथ रहकर चंद्रगुप्त शस्त्र-शास्त्रमें पूर्ण दक्ष होगया और वह देश-विदेशोंमें भटकता फिरा था, इससे उसका अनुभव भी खूब बढ़ा था। जो हो, इससे यह प्रकट है कि चन्द्रगुप्तका प्रारंभीक जीवन बड़ा ही शोचनीय तथा विपत्तिपूर्ण था।

राज-तिलक और राज्यवृद्धि। जिससमय चंद्रगुप्त मगधके राज्य सिंहासनपर आरूढ़ हुये उस समय वह पच्चीस वर्षके एक युवक थे। उनकी इस युवावस्थाका वीरोचित और भारत हितका अनुपम कार्य यह था कि उन्होंने अपने देशको विदेशी यूनानियोंकी पराधीनतासे छुड़ा दिया। सचमुच चन्द्रगुप्तके ऐसे ही देशहित सम्बन्धी कार्य उसे भारतके राजनैतिक रंगमंचपर एक प्रतिष्ठित महावीर और संसारके सम्राटोंकी प्रथम श्रेणीका सम्राट् प्रगट करते हैं। 'योग्यता, व्यवस्था, वीरता और सैन्य संचालनमें चन्द्रगुप्त न केवल अपने समयमें अद्वितीय था, वरन् संसारके इतिहासमें बहुत थोड़े ऐसे शासक हुये हैं, जिनको उसके बराबर कहा जासक्ता है।'[2] मगधके राज्य प्राप्त करनेके साथ ही नंद राजाकी विराट् सेना उसके आधीन हुई थी। चन्द्रगुप्तने उस विपुलवाहिनीकी वृद्धि की थी। उसकी सेनामें तीस हजार घुड़सवार, नौ हजार हाथी, छै लाख पैदल और बहुसंख्यक रथ थे।[3] ऐसी दुर्जय

१-बौद्धोंके 'अर्थ कथाकोष' में भी यह उल्लेख है। जैसि भा० पूर्व पृ० २१। २-जाभाइ०, भा० पृ० १४२। ३-अहिइ० पृ० १२४।

सेनाकी सहायतासे उसने समस्त उत्तर भारतके राजाओंको जीत लिया था। उसके सिंहासनारूढ़ होनेके पहले उत्तरी भारतमें ही छोटे २ बहुतसे राजा थे, जो आपसमें लड़ा करते थे। धीरे धीरे चन्द्रगुप्तने उन सबको अपने अधिकारमें कर लिया और उसके साम्राज्यका विस्तार बंगालकी खाड़ीसे अरब-समुद्र तक होगया। इस प्रकार "वह शृङ्खलाबद्ध ऐतिहासिक युगका पहला राजा है, जिसे भारत सम्राट् कह सकते हैं।"[१]

दक्षिण-विजय।

महीसूर प्रांतकी अर्वाचीन मान्यताओंसे प्रगट है कि उस प्रांतपर नंदवंशका भी अधिकार था।[२] यदि यह बात ठीक मानी जाय तो नंदवंशके उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त मौर्यका अधिकार भी इन देशोंमें होना युक्तिसंगत है। तामिल भाषाके प्राचीन साहित्यमें अनेकों उल्लेख हैं; जिनसे स्पष्ट है कि मौर्योंने दक्षिण भारतपर आक्रमण किया था और उसमें वे सफल हुये थे।[३] किन्तु इससे यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सक्ता कि दक्षिण भारतकी यह विजय चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा ही हुई थी अथवा उसके पुत्र और उत्तराधिकारी बिन्दुसारने दक्षिण प्रदेश अपने आधीन किया था। परन्तु यह विदित है कि चन्द्रगुप्तका पौत्र अशोक जब सिंहासनपर बैठा, तब यह दक्षिण देश उसके साम्राज्यमें शामिल था। जैन मान्यताके अनुसार चन्द्रगुप्तका साम्राज्य दक्षिण भारत तक होना प्रमाणित है।[४]

१-भाइ० पृ० ६२। २-ऑहिइ० पृ० ७४। ३-श्रवण० पृ० ३८। ४-मैभप्राजैस्मा० पृ० २०५ व जराएसो०; १९२८, पृ० १३५।

सिल्यूकस नाइके-टरसे युद्ध।

जिससमय चन्द्रगुप्त भारतमें उक्त प्रकार एक शक्तिशाली केन्द्रिक शासन स्थापित करनेमें संलग्न था, उसी समय पश्चिमीय मध्य ऐशियामें सिकंदर महान्‌का सिल्यूकस नाइकेटर नामक एक सेनापति अपना अधिकार जमानेका प्रयास कर रहा था। उसने बड़ी सफलतासे सिरिया, एशिया माइनर और पूर्वीय प्रदेशोंको हस्तगत कर लिया था। उसने भारतको भी फिरसे जीतना चाहा और ३०५ ई० पू० में सिन्धु नदी पार कर आया। चन्द्रगुप्तकी अजेय सेनाने उसका सामना किया। पहिली ही मुठभेड़में सिल्यूकसकी सेना पिछड़ गई और उसे दबकर सँधि कर लेनी पड़ी। इस सँधिके अनुसार सिंधु नदीके पश्चिमी सूबों—बिलोचिस्तान और अफगानिस्तानको चंद्र-गुप्तने अपने राज्यमें मिला लिया। सिल्यूकस ५०० हाथी लेकर संतुष्ट होगया। उसने अपनी बेटी भी चन्द्रगुप्तको ब्याह दी।[1]

इस विजयसे चंद्रगुप्तका गौरव और मान विदेशोंमें बढ़ गया। सिल्यूकसका दूत उसके राजदरबारमें आकर रहने लगा और उसके सम्पर्कसे भारतका महत्वशाली परिचय और तात्विक ज्ञान विदे-शियोंको हुआ। पैर्हो (Pyrrho) नामक एक यूनानी तत्ववेत्ता जैन श्रमणोंसे शिक्षा ग्रहण करनेके लिये यहां चला आया और व्यापारकी भी खूब उन्नति हुई। चन्द्रगुप्तके इस साम्राज्य विस्तारके अपूर्व कार्य और फिर उसे व्यवस्थित भावसे एक सूत्रमें बांध रख-नेसे उसकी अदभुत तेजस्विता, तत्परता और बुद्धिमत्ताका परिचय मिलता है। साधारण अवस्थासे उठकर वह एक महान् सम्राट्

१-भाइ० पृ० ६२-६३। २-हिस्ट्री० पृ० ४२ व लाम० पृ० ३४।

होगया, यह उसके अदम्य पुरुषार्थ और कर्मठताका प्रमाणपत्र है।

शासन-प्रबन्ध।

सिल्यूकसकी ओरसे जो दूत मौर्य दरबारमें आया था, वह मेगास्थनीज नामसे विख्यात् था। वह कई वर्षोंतक चन्द्रगुप्तके दरबारमें रहा था और बड़ा विद्वान् था। उसने उससमयका पूरा वृतान्त लिखा है। वह चन्द्रगुप्तको योग्य और तेजस्वी शासक बतलाता है। उसके वृत्तांत एवं कौटिल्यके अर्थशास्त्रसे चन्द्रगुप्तके शासन-प्रबन्ध और उस समयकी सामाजिक स्थितिका अच्छा पता चलता है। राज्यका शासन पंचायतों द्वारा होता था; यद्यपि प्रत्येक प्रान्त भिन्न २ गवर्नरोंके आधीन था। इन प्रांतिक अधिकारियोंको छै पंचायतों द्वारा राज्यप्रबन्ध करना पड़ता था। 'एक पंचायत प्रजाके जन्म-मरणका हिसाब रखती थी। दूसरी टैक्स यानी चुंगी वसूल करती थी। तीसरी दस्तकारीका प्रबंध करती थी। चौथी विदेशीय लोगोंकी देखभाल करती थी। पांचवीं व्यापारका प्रबंध करती थी। और छठी दस्तकारीकी चीजोंके विक्रयका प्रबंध करती थी। कुछ विदेशीय लोग भी पाटलिपुत्रमें रहते थे। उनकी सुविधाके लिये अलग नियम बना दिये गये थे।'[1]

राजधानी।

पाटलिपुत्र उस समय एक बड़ा समृद्धिशाली नगर था। और वह मौर्य सम्राट्की राजधानी थी। तब यह नगर सोन और गंगाके संगमपर ९ मीलकी लम्बाई और १½ मील चौड़ाईमें बसा था। इसप्रकार वह वर्तमान पटनाकी तरह लंबा, संकीर्ण और समांतर-चतुर्भुजाकार था। उसके चारों ओर

१-भाइ० पृ० ६१।

एक लकड़ीकी दीवार थी । इसमें ६४ फाटक और ५७० मीनार थे । इसके बाहर २०० गज चौड़ी और १५ गज गहरी खाई थी, जो सोनके जलसे भरी रहती थी ।[१] वर्तमान पटना नगरके नीचे यह प्राचीन पाटलिपुत्र छुपा पड़ा है । बांकीपुरके निकटमें खुदाई करनेसे चंद्रगुप्तके राजप्रासादका कुछ अंश मिला है । यह राजभवन भी लकड़ीका बना हुआ था, परंतु सजधज और सुंदरतामें किसी राजमहलसे कम न था । राज्यके शासन-प्रबन्धके समान ही नगरका प्रबंध एक म्युनिसिपल कमीशन द्वारा होता था । इसमें भी छै पंचायतें थीं और प्रत्येक पंचायतमें पांच सदस्य इनके द्वारा देश और नगरका सुचारु और आदर्श प्रबंध होता था।

शासन प्रबन्धकी विशेषतायें ।

चन्द्रगुप्तका शासन प्रबन्ध आजकलके प्रजातंत्र राज्योंके लिये एक अनुकरणीय आदर्श था । आजकलकी म्युनिसिपिल कमेटियोंसे यदि उसकी तुलना की जाय, तो वह प्राचीन प्रबन्ध कई बातोंमें अच्छा मालूम देगा। चन्द्रगुप्तके इस व्यवस्थित शासनमें प्रत्येक मनुष्य और पशुतककी रक्षाका पूरा ध्यान रक्खा जाता था। कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें पशुओंके भोजन, गौओंके दुहने और दूध, मक्खन आदिकी स्वच्छताके सम्बंधमें नियम दिये हुये मिलते हैं । पशुओंको निर्दयता और चोरीसे बचानेके नियम सविस्तर दिये गये हैं।[२] एक जैन सम्राट्के लिये ऐसा दयालु और उदार प्रबंध करना सर्वथा उचित है । मनुष्योंकी रक्षाका भी पूरा प्रबंध था। व्यापारियोंके लिये कई सड़कें बनवाई गई थीं; जिनपर मुसाफिरोंकी रक्षाका पूरा प्रबन्ध था ।

१–मेग० । २–अर्थशा० पृ० १६७ ।

भारतकी सीमासे पाटलिपुत्रतक राजमार्ग बना हुआ था। यह मार्ग शायद पुष्कलावती (गान्धारकी राजधानी) से तक्षशिला होकर झेलम, व्यास, सतलज, जमनाको पार करता हुआ तथा हस्तिनापुर, कन्नौज और प्रयाग होता हुआ पाटलिपुत्र पहुंचता था। सड़कोंकी देखभालका विभाग अलग था।× दुर्भिक्षकी व्यवस्था उच्च न्यायालय करते थे। जो अन्न सरकारी भण्डारोंमें आता था उसका आधा भाग दुर्भिक्षके दिनोंके लिये सुरक्षित रक्खा जाता था और अकाल पड़नेपर इस भाण्डारमेंसे अन्न बांटा जाता था। अगली फसलके बीजके लिये भी यहींसे दिया जाता था।

चन्द्रगुप्तके राज्यके अंतिम कालमें एक भीषण दुर्भिक्ष पड़ा था। खेतोंकी सिंचाईका पूरा प्रबन्ध रक्खा जाता था; जिसके लिये एक विभाग अलग था।[२] चन्द्रगुप्तके काठियावाड़के शासक पुष्यगुप्तने गिरनार पर्वतके समीप 'सुदर्शन' नामक झील बनवाई थी।[३] छोटी बड़ी नहरों द्वारा सारे देशमें पानी पहुंचाया जाता था। नहरका महकमा आबपाशी-कर वसूल करता था। इसके अतिरिक्त किसानोंसे पैदावारका चौथाई भाग वसूल किया जाता था। आयात निर्यात आदि और भी कर प्रजापर लागू थे।

गुप्तचर विभाग।

राज्यमें किसी प्रकारकी अनीति न होने पाये, इसके लिये चन्द्रगुप्तने एक गुप्तचर विभाग स्थापित किया था। नगरों और प्रांतोंकी समस्त घटनाओंपर दृष्टि रखना और सम्राट् अथवा अधिकारी वर्गको गुप्तरीतिसे सूचना

× भाप्रारा० भा० २ पृ० ७९। १-लाभाइ० पृ० १६७। २-भाइ० पृ० ६४। ३-जराएसो० सन् १८९१ पृ० ४७

देना इनका कार्य था। मेगास्थनीज लिखता है कि इन गुप्तचरोंपर कोई मिथ्या समाचार देनेका दोषारोपण कभी नहीं हुआ; क्योंकि किसी भी भारतीयसे यह अपराध कभी नहीं बन पड़ा। सचमुच प्राचीन भारतके निवासी सचाई और ईमानदारीके लिये बहुत ही विख्यात थे।[1]

दण्ड विधान।

चन्द्रगुप्तका फौजदारी कानून कठोर था। यदि किसी कारीगरको कोई चोट पहुंचाता, तो उसे प्राणदण्ड ही मिलता था। यदि कोई व्यक्ति किसीको अंगहीन कर देता तो दण्ड स्वरूप वह भी उसी अंगसे हीन किया जाता था; और हाथ घातेमें काट लिया जाता था। झूठी गवाही देनेवालेके नाक कान काट लिये जाते थे। पवित्र वृक्षोंको हानि पहुंचानेवाला भी दण्ड पाता था। सिरके बाल मुड़ दिये जानेका दण्ड बड़ा लज्जाजनक समझा जाता था। साधारणतः चोरीके अपराधमें अंग छेदका दण्ड दिया जाता था। चुङ्गीका महसूल देनेमें टालमटूल करनेवाला मृत्युदण्ड पाता था। अपराधी कड़ी यातनाओं द्वारा अपराध स्वीकार करनेके लिये बाध्य किये जाते थे। चन्द्रगुप्तके फौजदारी कानूनकी यह कठोरता किंचित् आपत्तिजनक कही जा सकती है; किन्तु जिन्होंने इंग्लेन्ड आदि यूरोपीय देशोंका निकट भूतकालीन इतिहास पढ़ा है, वह जानते हैं कि इन देशोंमें भी जरा२ से अपराधके लिये भी प्राणदण्ड देनेका रिवाज था।[2]

ऐसा मालूम होता है कि प्राचीनकालमें दण्डकी कठोरतामें

१—भाइ० पृ० ६४, अहिइ० पृ० १२१ और लामाइ पृ० १५८,
२—भाइ० पृ० ६४ और लामाइ० पृ० १५९-१६०।

सदाचार और सुनीतिकी बढ़वारीका विश्वास था। चन्द्रगुप्तके विषयमें कहा जासक्ता है कि उसका यह कठोर दण्डविधान सफल हुआ था। मेगास्थनीज लिखता है कि जितने समय तक यह चंद्रगुप्तकी सेनामें रहा, उस समय चार लाख मनुष्योंके समूहमें कभी किसी एक दिनमें १२०) रुपयेसे अधिककी चोरी नहीं नहीं हुई। और यह प्रायः नहींके बराबर थी। भारतीय कानूनकी शरण बहुत कम लेते थे। उनमें वायदाखिलाफी और खयानतके मुकद्दमें कभी नहीं होते थे। उन्हें साक्षियोंकी भी जरूरत नहीं पड़ती थी। वे भारतीय अपने घरोंको विना ताला लगाये ही छोड़ देते थे।[1] इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्तके दण्ड विधानका नृशंसरूप जनताको सदाचारी और राज्याज्ञानुवर्ती बनानेमें सहायक था। इस दशामें उसका प्रयोग अधिकताके साथ प्रायः नहीं होना संभव है।

सैनिक विभाग। चन्द्रगुप्तकी विशाल सेनाकी व्यवस्थाके लिये एक सैनिक विभाग था। सेनाके चारों भागों—(१) पैदल सिपाही, (२) अश्वारोही, (३) रथ, (४) हाथीका प्रबन्ध चार पंचायतों-द्वारा होता था। पांचवीं पंचायत कमसरियट विभाग और सैनिक नौकर—चाकरोंका प्रबन्ध करती थी। छठी पंचायत जहाजोंका प्रबन्ध करती थी। सेनाको वेतन नगद मिलता था।[2] जहाज आदि सब वहीं बनाये जाते थे। इस व्यवस्थासे स्पष्ट है कि चंद्रगुप्तका सैनिक प्रबंध सर्वाङ्ग पूर्ण और सराहनीय था। यदि उसकी व्यवस्था ठीक न होती, तो इतने बड़े साम्राज्यपर वह सहसा अधिकार न जमा सकता!

१-मेऐइं० पृ० ६९-७०। २-भाइ० पृ० ६६।

सामाजिक दशा।

मौर्यकालकी सामाजिक दशा भगवान महावीरके समयसे कुछ अधिक विलक्षण नहीं थी। वह प्रायः वैसी ही थी। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र—यह चार प्रधान जातियां थीं और इनको अपना वंशगत व्यवसाय करना अनिवार्य था। किन्तु प्रत्येक प्राणीको राजाज्ञासे दूसरा अथवा एकसे अधिक व्यवसाय करनेकी स्वाधीनता प्राप्त थी।[1] इन वर्णोंमें परस्पर उदारताका व्यवहार था। जातीय कट्टरताका नामशेष नहीं था। पारस्परिक सहयोगसे रहते हुये यहांके लोग बड़े सुखसम्पन्न और सदाचारी थे। वे मनुष्य जीवनके चारों पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—का समुचित साधन करते थे। ब्रह्मचर्यदशामें रहकर विद्याध्ययन करनेसे उनकी बुद्धि कुशाग्र और स्वास्थ्य अनुपम रहता था। वे सदा सत्यवादी थे। और शिल्प एवं कलाकौशलमें बड़े निपुण थे। सोने चांदी और जवाहरातके आभूषण बनानेके लिये देशमें सोने, चांदी, तांबे, लोहे, रत्न आदिकी खानें थीं।[2] तब भारतीय अच्छे२ शस्त्र और बड़े जहाज बनाते थे। उस समय यहांका शिल्प और वाणिज्य उन्नतिकी चरमसीमापर पहुंचा हुआ था। सिंधुदेशके सुन्दर वस्त्र और देशकी बनी हुई अन्य वस्तुयें दूर २ विदेशोंमें बिकनेके लिये जातीं थीं।[3] मेगास्थनीज लिखता है कि "भारतीय यद्यपि सरल स्वभाव हैं और सादगीको बहुत पसंद करते हैं, परंतु रत्नों, अलंकारों और परिच्छेदोंका उनको खास शौक है। परिच्छदोंपर सुन-

१—भाप्राइ० भा० २ पृ० ६१। २—लाभाइ० भा० १ पृ० १४६।
३—भाप्राइ० भा० २ पृ० ६२।

हला और रुपहला काम कराते हैं। वे निहायत बारीकसे बारीक मलमलपर फूलदार कामकी बनी हुई पोशाकें पहिनते हैं। उनके ऊपर छतरियां लगाते हैं, क्योंकि भारतीयोंको सौन्दर्यका बहुत ध्यान है।"[१]

एरियन निर्याकसके अनुसार लिखता है कि "भारतवासी नीचे रुईका एक वस्त्र पहनते हैं, जो घुटनेके नीचे आधी दूर तक रहता है। और उसके ऊपर एक दूसरा वस्त्र पहिनते हैं। जिसे कुछ तो वे कंधोंपर रखते हैं और कुछ अपने सिरके चारों ओर लपेट लेते हैं। वे सफेद चमड़ेके जूते पहनते हैं; जो बहुत ही अच्छे बने हुये होते हैं।"[२] इस लेखसे प्राचीन ग्रंथोंमें लिखे हुये 'अधोवस्त्र' और 'उत्तरीय' का बोध होता है। अधिकांश जनता शाकाहारी थी और मद्यप न नहीं करती थी। आबनूसके चिकने बेलनोंको त्वचापर फिराकर मालिश करानेका बहुत रिवाज था। ब्राह्मणों और श्रमणोंका आदर विशेष था। श्रमण संप्रदायमें प्रत्येक मुमुक्षु आत्मकल्याण करनेका साधन प्राप्त कर लेता था।

महिलाओंकी महिमा।

चारों वर्णोंमें परस्पर विवाह सम्बन्ध प्रचलित था। विवाह जवान पुरुषों और युवती कन्याओंके होते थे। तब बाल्यविवाहका नाम सुनाई नहीं पड़ता था। विवाहके समय पति स्त्रीको अलङ्कार आदि देते थे, पर आजकलके मुसलमानोंके 'मेहर' के समान 'वृत्ति' (या स्त्रीधन) नामका निश्चित धन भी देते थे। इस धन एवं अन्य जो सम्पत्ति स्त्रीको अपने

१–ऐंइमे०, पृ० ७०। २–भाप्रारा० भा० २ पृ० ८९।

रिश्तेदारोंसे मिलती, उसपर उसका पूरा अधिकार होता था। वह जैसे चाहे वैसे उसको खर्च कर सक्ती थी। स्त्री-धनकी रक्षाके लिये कड़े नियम राज्यकी ओरसे बने हुये थे।* किन्तु यदि पतिकी मृत्युके उपरान्त स्त्री दूसरा विवाह करती थी, तो उसका सारा स्त्रीधन जप्त होजाता था। हां, श्वसुरकी सम्मतिसे दूसरा विवाह करनेपर वह उस धनको पासक्ती थी। पर इतना स्पष्ट है कि पुनर्विवाह हेय दृष्टिसे ही देखा जाता था। पुनर्विवाह करनेके लिये अतीव कठिन नियम बना दिये गये थे; जिनमें स्त्रियोंके इस अधिकारको यथासंभव परिमित करनेका प्रयास था। पुरुषोंमें बहु विवाह करनेका रिवाज था; किन्तु इसके लिये भी समुचित राज-नियम बने हुए थे।

एक पत्नीसे यदि संतान न हो, तो दूसरा विवाह करनेकी साधारण आज्ञा थी। और दूसरी पत्नीसे भी पुत्रोत्पन्न न हो, तो पुरुष तीसरा और फिर चौथा इत्यादि सामर्थ्यके अनुसार विवाह कर सक्ता था; किन्तु दूसरा विवाह करनेके पहले उसे प्रथम पत्नीके भरण-पोषणका पूरा प्रबन्ध कर देना अनिवार्य था। इस नियमके होनेके कारण बहुत कम ऐसे पुरुष होते थे जो बहुपत्नीक हों। किन्हीं विशेष अवस्थाओंमें विवाह विच्छेद करनेकी भी राजाज्ञा थी। किंतु उससमय एक पतिव्रत और एक पत्नीव्रतकी प्रधानता थी।[१]

*—जैन कानूनमें इस बातका खास ध्यान रक्खा गया है। उसीके अनुसार चन्द्रगुप्त जैसे जैन सम्राट्का राज्य नियम होना उपयुक्त है।
१—सरस्वती, भा० २८ खण्ड २ पृ० १३६७।

धार्मिक स्थिति।

उस समयकी समाजमें वैदिक, जैन और बौद्ध एवं आजीविक धर्म प्रचलित थे। जैनधर्मका प्रचार खूब था; जैसे कि मुद्राराक्षस नाटकसे प्रकट है।[१] प्रत्येक संप्रदायके धर्मायतन बने हुये थे। त्यौहारों और पर्वोंके अवसरोंपर बड़ी धूमधामसे उत्सव मनाये जाते थे और समारोह-पूर्वक बड़े २ जुलूस निकाले जाते थे; जिनमें सोने और चांदीके गहनोंसे सजे हुये विशालकाय हाथी सम्मिलित होते थे। 'चार२ घोड़ों और बहुतसे बैलोंकी जोड़ियोंवाली गाड़ियां और बल्लमबरदार होते थे। जुलूसमें अतीव बहुमूल्य सोने चांदी और जवाहरातके कामके वर्तन और प्याले आदि साथ जाते थे। उत्तमोत्तम मेज, कुरसियां और अन्य सजावटकी सामिग्री साथ होती थी। सुनहले तारोंसे काढी हुई नफीस पोशाकें, जंगली जन्तु, बैल, भैंसे, चीते, पालतु सिंह, सुन्दर और सुरीले कण्ठवाले पक्षी भी साथ चलते थे।'[२]

आजकलकी जैन रथयात्रायें प्रायः इस ही ढंगसे सुसज्जित निकली जाती हैं। पशु, पक्षियोंको साथ रखनेमें, श्री तीर्थंकर भगवानके समोशरणको प्रत्यक्षमें प्रगट करना इष्ट था। अशोकका पोता संप्रति ऐसी ही एक जैन यात्राको अपने राजमहल परसे देखते हुये स्म्बोधिको प्राप्त हुआ था।[३] इससे भी उससमय जैन-धर्मकी प्रधानता स्पष्ट होजाती है। तब वह राष्ट्र-धर्म होनेका गौरव प्राप्त किये हुये था।

१–वीर वर्ष ५ पृ० २८७–२९२। २–जआमाइ० भा० १ पृ० १५०।
३–परि० पृ० ९२–९६।

उपरोक्त वर्णनसे सम्राट् चंद्रगुप्तके राजनैतिक जीवनका परिचय प्राप्त है। 'प्रत्येक मनुष्य स्वयं विचार कर सकता है कि यह कैसा प्रतापी और विलक्षण राजा था; जिसने केवल २४ वर्षके अल्पसमयमें ही अपने हाथों स्थापित किये नवीन राज्यको ऐसी उन्नत दशापर पहुंचा दिया। आजसे २२ सौ वर्ष पूर्वके इसके राज्य प्रबंधका वर्णन पढ़कर हमारे पूर्वजोंको मूर्ख समझनेवाली आजकलकी साम्याभिमानी जातियां भी आश्चर्यचकित होती हैं।'[1] चन्द्रगुप्तका वैयक्तिक जीवन भी आदर्श था। वह दिनभर राजसभामें बैठकर न्याय किया करता था और वैदेशिक दूतों आदिसे मिलता था। राजाकी रक्षाके लिये यवनदेशकी स्त्रियां नियत थीं, जो शस्त्रविद्या और संगीत शास्त्रमें चतुर होती थीं। इस देशकी भाषा और रहन सहनसे उनका ही बिल्कुल परिचय न होनेके कारण किसी षड्यन्त्रमें उनका संमिलित होना असंभव था। राजा भड़कीली पोशाक पहिनता था और उसकी सवारी भी बड़ी शान शौकतसे निकलती थी। उसकी सवारीके चारों ओर सशस्त्र यवन स्त्रियां चलतीं थीं और उनके इर्दगिर्द बर्छीवाले सिपाही रहते थे। मार्गमें रस्सियोंसे सीमा निर्धारित कर दी जाती थी। इस सीमाको उल्लंघन करनेवाला मृत्युदण्ड पाता था।[2] राजाको काष्ठकुन्दके बेलनोंसे देह दबवानेका बड़ा शौक था। राज दरबारमें भी उसकी इस सेवाके लिये चार परिचारक नियत रहते थे। राजाकी वर्षगांठ बड़ी धूमधामसे मनाई जाती थी। सम्राट नियमित रूपसे धार्मिक क्रियायें करते थे और मुनिजनों (श्रमणों)

चन्द्रगुप्तका वैयक्तिक जीवन।

१—आरा० भा० २ पृ० ५२। २—भाग्यक० भा० १ पृ० ८०-८२।

को आहार देते थे ।[1] उनके एकसे अधिक रानियां थीं । रानी सुप्रभा उनमें प्रधान थी ।[2] एक रानी वैश्य वर्णकी थी; जिसका भाई पुष्पगुप्त गिरनार प्रांतका शासक था ।[3] उस समय राजाके निकट सम्बंधियोंको विविध प्रांतोंमें शासक नियत करनेका रिवाज था । तीसरी रानी विदेशी यवन राजा सिल्यूकसकी पुत्री थी । यवन लोगोंको यद्यपि आज म्लेच्छ समझते हैं, किन्तु मालूम होता है, उस समय उनके साथ विवाह सम्बंध करना अनुचित नहीं समझा जाता था ।

इन तीन रानियोंके अतिरिक्त उनके और भी कोई रानी थी, यह विदित नहीं है । सम्राट् चन्द्रगुप्तका पुत्र और उत्तराधिकारी बिन्दुसार था । 'राजाबलीकथे' में शायद इन्हींका नाम सिंहसेन लिखा है ।[4] इनके अतिरिक्त चन्द्रगुप्तके और कोई संतान थी, यह मालूम नहीं है । इस प्रकार गार्हस्थिक आनन्दका उपयोग करते हुये भी चंद्रगुप्त निशङ्क नहीं थे। गुप्त षड्यंत्रोंके कारण उन्हें सदा ही अपने प्राणोंका भय लगा रहता था। उनके पास प्रचुर धन था और ठाठबाटका सामान भी खुब था ।

चन्द्रगुप्त जैन थे ।

जैन शास्त्रोंसे प्रगट है कि सम्राट् चंद्रगुप्त जैन धर्मानुयायी थे। वह दिगम्बर जैन मुनियों (निर्ग्रंथश्रमणों) की वन्दना-पूजा करते थे और उनको विनयपूर्वक आहारदान देते थे ।[7] जैन ग्रन्थोंके इस वक्तव्यका समर्थन

१–जराएसो० भा० ९ पृ० १७६ । २–श्रवण० पृ० २८ । ३–संप्राजैस्मा० पृ० १७८ । ४–माइ० पृ० ६७ । ५–श्रमण०, पृ० ३१ । ६–माइ० पृ० ६६ । ७–श्रवण० पृ० २५–४० ।

मेगास्थनीजके कथनें एवं 'मुद्राराक्षस'[1] नाटकके वर्णनसे होता है।[2] मौर्याख्यदेशमें जैनधर्मका प्रचार विशेष था। एक मौर्यपुत्र स्वयं भगवान महावीरजीके गणधर थे। और नन्दवंश भी जैनधर्म भक्त था, यह प्रगट है। इस दशामें चन्द्रगुप्तका जैन-एक श्रावक होना कुछ भी अत्योक्ति नहीं रखता। जैन शास्त्र उसे एक आदर्श और धर्मात्मा राजा प्रगट करते हैं। किन्तु उनके जैन न होनेमें सबसे बड़ी आपत्ति यह कीजाती है कि वह शिकार खेलते थे। पर चंद्रगुप्तके शिकार खेलने संबन्धमें जो प्रमाण दिया जाता है, वह यूनानी लेखकोंका भ्रान्त वर्णन है। क्योंकि युनानियोंने जहांपर शिकार खेलनेका वर्णन दिया है; वहां चन्द्रगुप्तका स्पष्ट नामोल्लेख नहीं है। वह कथन साधारण रूपमें है। और इधर जैनशास्त्रोंसे यह प्रगट ही है कि चंद्रगुप्तने कभी शिकार आदि कोई संकल्पी हिंसाकर्म नहीं किया था।

अतः माल्लम यह पड़ता है कि चन्द्रगुप्त जन्मसे अविरत सम्यग्दृष्टी जैनी थे; किन्तु फिर जैन मुनियोंके उपदेशको पाकर उन्होंने अहिंसा आदि व्रतोंको ग्रहण करके अपना शेष जीवन धर्ममय बना लिया था। यदि उन्होंने पहिलेसे श्रावकके व्रतोंका अभ्यास न किया होता, तो यह सम्भव नहीं था कि वह एकदम जैन मुनि होजाते। उनका जैन मुनि होना प्राचीनतम साक्षीसे सिद्ध है।[3] और उसे

१-जराएसो० भा० ९ पृ० १७६। २-वीर वर्ष ५ पृ० ३९०। ३-ईसाकी पहिली या दूसरी शताब्दिके ग्रन्थ 'तिलोयपण्णति' (गा० ७१)में चन्द्रगुप्तको जैन मुनि होना लिखा है। और उसे "मुकुटधर" राजा लिखा है। 'मुकुटधर' से भाव सम्भवतः उस राजासे है जिसके

आधुनिक विद्वान भी मान्य ठहराते हैं।[1] भद्रबाहु श्रुतकेवलीसे चंद्रगुप्तने दीक्षा ग्रहण की थी और उनका दीक्षित नाम मुनि प्रभाचंद्र था। इन्होंने अपने गुरु भद्रबाहुके साथ दक्षिणको गमन किया था और श्रवणबेलगोलमें इनने समाधिपूर्वक स्वर्ग लाभ किया था।[2]

इस स्पष्ट और जोरदार मान्यताके समक्ष चंद्रगुप्तको जैन न मानकर शैव मानना, सत्यका गला घोंटना है। हिन्दू शास्त्रोंमें अवश्य उनके जैन साधु होनेका प्रगट उल्लेख नहीं है; परन्तु हिंदू शास्त्र उन्हें एक शूद्राजात लिखनेका दुस्साहस करते हैं; वह किस बातका द्योतक है ? यदि चंद्रगुप्त जैन नहीं थे, तो उन्होंने एक क्षत्री राजाको अकारण वर्ण-शंकर क्यों लिखा ? इस वर्णनमें सांप्रदायिक द्वेष साफ टपक रहा है; जैसे कि विद्वान् मानते हैं[3] और इस तरह भी चंद्रगुप्तका जैन होना प्रगट है। कोई विद्वान् उनके नृशंस दंड विधान आदिपर आपत्ति करते हैं और यह क्रिया एक जैन सम्राट्के लिये उचित नहीं समझते।[4] किन्तु उनका दण्डविधान कठिन होते हुये भी अनीति पूर्ण और अना-

---

आधीन एक हजार राजा हों। चन्द्रगुप्त मौर्य ऐसे ही प्रतापी राजा थे। शिलालेखीय साक्षी ई० सनके प्रारम्भिक कालकी है। (देखो० श्रवण० पृ० २५-४० व जैसिभा० भा० १)।

१-अहिइ० पृ० १५४; मैसूर एण्ड कुर्ग-राइस, भा० १; हिवि० भा० ७ पृ० १५६; इरिइ०-चन्द्रगुप्त; कैहिइ० भा० १ पृ० ४८४ और आइजै० पृ० २०-२५, हिआइ० पृ० ५९ जैनीज्म और श्री अर्ली फेथ आव अशोक पृ० २३ व जबिओसो भा० ३ ०। २-जैसिभा० भा० १ कि० २-३-४ व कैहिइ० भा० १ पृ० ४८५। ३-राइ० भा० १ पृ० ६१। ४-आमाइ० पृ० १५३।

चारको बढ़ानेवाला नहीं था। उसका उद्देश्य जनसाधारणमें सुनीतिका प्रचार करना था। और इस उद्देश्यमें वह सफल हुआ था; जैसे कि हम देख चुके हैं। तथापि उसमें जब पशुओं और वृक्षों तककी रक्षाका पूर्ण ध्यान था, तब उसे जैनधर्मके विरुद्ध खयाल करना भूल भरा है। चन्द्रगुप्त अवश्य ही एक बड़े नीतिज्ञ और उदारमना जैन सम्राट् थे। यही कारण है कि प्रत्येक धर्मके शास्त्रोंमें उनका उल्लेख हुआ मिलता है। जैन शास्त्रोंमें उनका विशेष वर्णन है और वह उनके अंतिम जीवनका एक यथार्थ वर्णन करते हैं; वरन् अन्य किसी जैनेतर श्रोतसे यह पता ही नहीं चलता है कि उनका राज्य किस प्रकार पूर्ण हुआ था। जैन शास्त्र बतलाते हैं कि वह अपने पुत्रको राज्य देकर जैन मुनि होगये थे और यह कार्य उनके समान एक धर्मात्मा राजाके लिये सर्वथा उपयुक्त था। अतएव चंद्रगुप्तका जैन होना निःसंदेह ठीक है। मि० स्मिथ कहते हैं कि "जैनियोंने सदैव उक्त मौर्य सम्राट्को बिम्बसार (श्रेणिक)के सदृश जैन धर्मावलंबी माना है और उनके इस विश्वासको झुठ कहनेके लिये कोई उपयुक्त कारण नहीं है।"[२]

चाणक्य।

कोई विद्वान कहते हैं कि यदि चन्द्रगुप्त जैन धर्मानुयायी थे, तो वह एक ब्राह्मणको अपना मंत्री नहीं रख सक्के थे। किंतु इस आपत्तिमें कुछ तथ्य नहीं है, क्योंकि कई एक जैन राजाओंके मंत्री वंश परम्परा रीतिपर अथवा स्वाधीन रूपमें ब्राह्मण थे। और फिर जैन शास्त्रोंका कहना

१-श्रवण० पृ० ३७ व आहि्।० पृ० ७५-७६। २-आहि्इ० पृ० ७५ व अेशिसं० भू० पृ० ६९।

है कि चंद्रगुप्तके ब्राह्मण मंत्री चाणक्य, जिनको विष्णुगुप्त, द्रोमिल, द्रोहिण, अँशुल, कौटिल्य आदि अनेक नामोंसे संबोधित किया जाता है, एक जैन ब्राह्मणके पुत्र थे। गोल्ल नामक ग्राममें चणक नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह पक्का श्रावक था। चणेश्वरी उसकी भार्या थी। चाणक्यका जन्म इन्हींके गृहमें हुआ था। वह भी अपने माता पिताके समान एक श्रमणोपासक श्रावक था। नन्दराजा द्वारा अपमानित होकर उसने राज्यभ्रष्ट चंद्रगुप्तका आश्रय लिया था। उसका साथ देकर वह चंद्रगुप्तके राजा होनेपर स्वयं उसका राज-मंत्री हुआ था।

चाणक्यने संभवतः चंद्रगुप्तके लिये राजनीतिका एक अच्छा ग्रन्थ लिखा था। उसका एक अर्वाचीन संस्करण प्राप्त है। वह 'कौटिल्यका अर्थशास्त्र' नामसे छप भी चुका है। इस ग्रन्थमें कई एक ऐसी बातें हैं जो जैनधर्मसे संबंध रखतीं हैं। पशुओंकी रक्षाका विधान करना, लेखकको अहिंसा धर्मप्रेमी प्रकट करनेको पर्याप्त है। एक जैन विद्वान् उसमें खास जैन शब्दोंका प्रयोग हुआ बत-

३-परि०, पृ० ७७।

चणी चाणक्य इत्याख्यां ददौ तस्यांगजन्मनः।
चाणक्योऽपि श्रावकोऽभूत्सर्वविद्याब्धिपारगः॥ २००॥
श्रमणोपासकत्वेन स सन्तोष धनः सदा।
कुलीन ब्राह्मणस्यैकामेव कन्यामुपायत॥ २०१॥ इत्यादि।

दिगम्बर जैन ग्रन्थों (हरिषेण कथाकोष व आक० भा० ३ पृ० ४६) में चाणक्यके पिताका नाम कपिल और उनकी माताका नाम देविला लिखा है। वे वेद पारङ्गत विद्वान् थे। महीधर नामक जैनमुनिसे उनने जैन दीक्षा ग्रहण की थी।

लाते हैं; जैसे उपभेद वाची 'प्रकृति' शब्द। जैनदर्शनमें कर्मोंके १४८ भेदोंको 'प्रकृतियां' कहते हैं। कौटिल्य भी इस शब्दको इसी अर्थमें प्रयुक्त करता है, यथा "अरि और मित्रादिक राष्ट्रोंकी सब कुल प्रकृतियां ७२ होती हैं।" उनने अपने नीतिसूत्रोंमें जैन प्रभावके कारण ही जैनाचार विषयक कई सिद्धांतोंको भी लिखा है; जैसे "दया धर्मस्य जन्मभूमिः"; "अहिंसा लक्षणो धर्मः", "मांसभक्षणमयुक्तं सर्वेषाम्"; "सर्वमनित्यं भवति"; "विज्ञानदीपेन संसारभयं निवर्तते।" इत्यादि।

उन्होंने अपने अर्थशास्त्रमें राय दी है कि राजा अपने नगरके बीचमें विजय, वैजयंत, जयंत और अपराजित नामक देवताओंकी स्थापना करे! ये चारों ही देवता जैन हैं! और जैन पंडित कहते हैं कि सांसारिक दृष्टिसे नगरके बीच इनके मंदिरोंके बनवानेकी यों जरूरत है कि ये चारों ही देवता उस स्थानके रहनेवाले हैं, जहांकी सभ्यता और नागरिकता ऐसी बढ़ी चढ़ी है कि वहांपर प्रजासत्तात्मक राज्य अथवा साम्राज्यशून्य ही संसार बसा हुआ है। ये अपनी बढ़ी-चढ़ी सभ्यताके कारण सबके सब अहमिन्द्र कहलाते हैं और इनके रहनेके स्थानको ऊँचा स्वर्ग जैन शास्त्रोंमें माना है। लोक शिक्षाके लिये तथा राजनीतिका उत्कृष्ट ध्येय बतलानेके लिये इन देवताओंका प्रत्येक नगरके बीच होना जरूरी है। इन उल्लेखों एवं ऐसे ही अन्य उल्लेखोंसे, जो अर्थ शास्त्रका अध्ययन करनेसे प्रगट होसक्ते हैं, चाणक्यका जैनधर्म विषयक ही श्रद्धान प्रगट है। और अन्तमें चाणिक्यने जैन शास्त्रानुसार जैन साधुकी वृत्ति ग्रहण करली थी।[1]

1-आक० भा० ३ पृ० ५१-५९।

चाणक्य जैनाचार्य हुये थे और अपने ५०० शिष्यों सहित उनने देश विदेशोंमें विहार करके दक्षिणके वनवास नामक देशमें स्थित क्रौंचपुर नगरके निकट प्रायोपगमन सन्यास ले लिया था। चाणक्यके साधु होनेका जिक्र जैनेतर शास्त्रोंमें भी है।[2] इस अवस्थामें चाणक्यको जैन ब्राह्मण मानना अथवा उनपर जैनधर्मका प्रभाव पड़ा स्वीकार करना कुछ अनुचित नहीं है। चाणक्यको अवश्य ही जैनधर्मसे प्रेम था। अतएव चन्द्रगुप्तने उनको मंत्रीपद देकर एक उचित कार्य ही किया था। चाणक्यके मंत्री होनेसे उनके जैनत्वमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता है। यही बात प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री विन्सेन्ट स्मिथ स्वीकार करते हैं। वह कहते हैं कि 'चंद्रगुप्तने राजगद्दी एक कुशल ब्राह्मणकी सहायतासे प्राप्त की थी, यह बात चंद्रगुप्तके जैन धर्मावलम्बी होनेके कुछ भी विरुद्ध नहीं पड़ती।' (ऑहिइ० पृ० ७६) इस अवस्थामें सम्राट् चंद्रगुप्त और चाणक्यके जैन होनेके कारण भारतवर्षके प्रथम उद्धारका यश जैनियोंको ही प्राप्त है।

कहते हैं कि चंद्रगुप्तने कुल चौवीस वर्ष राज्य किया था।[3]

धर्म-प्रभावनाके कार्य और अन्तमें वह जैन साधु होगया था।

और समाधिमरण। उसने अपनी राज्यावस्थामें जैनधर्म प्रभावनाके लिये क्या२ कार्य किये थे, उनका पता लगा लेना आज कठिन

१-आक० भा० ३ पृ० ५१-५२। २-हिड्राव०, भूमिका पृ० १०-२६। ३-जबिओसो० भा० १ पृ० ११५-११६. मि० जायसवालने चन्द्रगुप्तका राज्य काल सन् ३२६ ई० पु०से सन ३०२ ई० पु०तक लिखा किन्तु श्री० नगेन्द्रनाथ वसु इससे बहुत पहिले उनका राज्यकाल निर्धारित करते हैं; उनका कहना है कि "सिकन्दरका समकालीन चन्द्रगुप्त न

है। किन्तु उनके समान एक न्यायशील और धर्मात्मा राजाने अवश्य ही धर्मके लिये कोई ठोस कार्य किये होंगे, यह मान लेना ठीक है। इतना तो कहा जाता है कि दक्षिणके जैनतीर्थ 'श्रवणवेलगोल'-के पास जो गांव है उसको सम्राट् चंद्रगुप्तने ही बसाया था। अजैन विद्वान् भी कहते हैं कि उन्होंने दक्षिण भारतके श्री शालम् प्रांतमें एक नगरको जन्म दिया था।[२] मालूम होता है कि वह उस ओर जब अपना साम्राज्य-विस्तार करते हुए पहुंचे थे, तब उक्त जैन तीर्थकी वन्दना की थी और वहांपर एक ग्रामकी जड़ जमाई थी। उपरांत यह ग्राम जैनधर्मका मुख्य केन्द्र हुआ और अब भी है। भले ही चंद्रगुप्तके अन्य धर्म कार्योंका पता आज न चले; किन्तु जैनधर्मके इतिहासमें उनका नाम और उनका राज्य अवश्य ही प्रमुख स्थान प्राप्त किये रहेगा। इसका कारण है कि उनके समयमें ही जैनधर्मका पूर्णश्रुत व्यक्षिप्त हुआ था और जैन संघमें दिगम्बर एवं श्वेतांबर भेदकी जड़ भी तब ही जमी थी। अशोकके समयमें संकलित हुए बौद्ध शास्त्रोंसे भी इसी समयके लगभग जैन संघमें मतभेद खड़ा होनेका समर्थन होता है। (भबबु० पृ० २१३) दि० जैन शास्त्र कहते हैं कि सम्राट् चंद्रगुप्तने

होकर अशोक था। उनका समय ३७२ ई० पू० ठीक है। हिन्दू, बौद्ध और जैन श्रोतोंसे यही प्रमाणित होता है" (देखो हिवि० भा० १ पृ० ५८७) यदि ३७२ ई० पू० चन्द्रगुप्तका समय माना जाय तो भद्र-बाहुका समय ई० पू० ३८३ उनके समयसे करीब २ आ मिलता है। किन्तु अशोकके लेखोंमें जिन विदेशी राजाओंका उल्लेख है, उनका समय इतना प्राचीन है कि अशोकको सिकन्दरका समकालीन माना जावे।

१-मजैप्राजैस्मा० पृ० २०५। २-ऐहि० भा० १ पृ० ६६।

सोलह स्वप्न देखे थे; जिनका फल श्री भद्रबाहुजी श्रुतकेवलीने बतलाया था।[1]

इसका निष्कर्ष इस कलिकालमें जैनधर्म और आर्य मर्यादाका ह्रास होना था; किन्तु पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार इन स्वप्नोंको कल्पित ठहराते हैं।[2] जो हो, इतना स्पष्ट है कि जैनधर्ममें और खासकर दिगम्बर जैनधर्ममें चंद्रगुप्तका स्थान बड़े गौरव और महत्वका है। जैनियोंने उनकी जीवन घटनाओंको पत्थरकी शिलाओंपर सुन्दर चित्रकारीमें अंकित कर रक्खा है। श्रवणबेलगोलके चन्द्रगिरिवाले मंदिरोंमें सम्राट् चन्द्रगुप्त और उनके गुरु भद्रबाहुजीके जीवन सम्बन्धी नयनाभिराम चित्रपट अपूर्व हैं और वह आज भी सम्राट् चंद्रगुप्तके जैनत्वकी स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं।[3] चंद्रगुप्तके नामसे ही इस पर्वतका नाम 'चन्द्रगिरि' हुआ है और वहांपर एक गुफामें उनके गुरुके चरणचिन्ह भी बिराजमान हैं।

जैन शिलालेखोंमें सम्राट् चन्द्रगुप्तकी मुनि अवस्थाका स्मरण बड़े गौरवास्पद शब्दोंमें हुआ मिलता है। उन्हें मुनींद्र चन्द्रगुप्त व महामुनि चन्द्रगुप्त अथवा चन्द्र प्रकाशोज्वल सान्द्रकीर्ति चंद्रगुप्त या मुनिपति चन्द्रगुप्त लिखा गया है।[4] और यह विशेषण उनके समान एक महान् और तेजस्वी राजर्षिके लिये सर्वथा उचित थे। महामुनि चन्द्रगुप्तने श्रवणबेलगोलसे ही समाधिमरण द्वारा स्वर्गलाभ किया था।

१–भद्रबाहु चरित्र पृ० ३१–३२। २–जैहि० भा० १३ पृ० २३६। ३–ह्विवि० भा० ७ पृ० १५०, जैसि० भा० १ कि० २–३ पृ० ८५ व ममैप्राजैस्मा० पृ० २०५। ४–जैसिभा० भा० १ किरण २–३ पृ० ७–८।

बिन्दुसार।

चंद्रगुप्तके बाद मौर्यवंशका दूसरा राजा बिंदुसार था। विद्वान कहते हैं कि वह भी अपने पिताके समान जैनधर्मानुयायी और पराक्रमी राजा था।[1] जैन शास्त्रोंमें इसका नाम सिंहसेन लिखा है। सन् ३०० ई० पू० के लगभग वह मगधके राज्यसिंहासनपर बैठा था। इसका विशेष इतिहास कुछ ज्ञात नहीं है। किन्तु इस राज्यका संपर्क विदेशी राजाओंसे बढ़ा था; यह प्रगट है, मेगास्थनीजके चले जानेके बाद इसके राजदरबारमें सिल्युकसके पुत्र एण्टिओकस नया दूत समूह भेजा था; फिर मिस्रनरेश टोल्मी फी डोलफसने भी डेओनीसे उसकी अध्यक्षतामें एक दूत समूह भेजा था।[2] बिन्दुसारके राज्यकालमें विदेशोंसे व्यापारके अनेक मार्ग खुले थे और आपसमें दूतोंका शब्द अदल बदल होता था। यूनानी विद्वानोंने इसका नाम कुछ ऐसे शब्दोंमें लिखा है जो अमित्रघात अथवा अमित्रखादका अपभ्रंश प्रतीत होता है।[3]

अशोकका राजतिलक।

बिन्दुसारकी एक रानी ब्राह्मण जातिकी सुभद्रांगी नामकी थी। अशोकका जन्म इसीकी कोखसे हुआ था। कहते हैं कि अशोकका एक बड़ा भाई और था; किन्तु सब भाइयोंमें योग्यतम होनेके कारण उसके पिताने उसे ही युवराज पद प्रदान किया था।[4] बिन्दुसारके उपरान्त वही मगधका राजा हुआ था। उसके हाथोंमें राज्यभार

१—हिवि० भा० ७ पृ० १५७। २—लाभाइ० पृ० १६९। ३—जराएसो० सन् १९२८ भा० १ पृ० १३२-१३५। ४—भाप्रारा० भा० २ पृ० ६६।

यद्यपि ई० पू० २७७ में आगया, परंतु उसका राज्याभिषेक इसके चार वर्ष बाद सन् २७३ ई० पू० में हुआ था।[1] इन चार वर्षों तक वह युवराजके रूपमें राज्य-शासन करता रहा था। इस अवधि तक राजतिलक न होनेका कारण कोई विद्वान् उसका बड़े भाईसे झगड़ा होना अनुमान करते हैं;[2] परंतु यह बात ठीक नहीं है।

मालूम ऐसा होता है कि उस समय अर्थात् सन् २७७ ई० पू० में अशोककी अवस्था करीब २१-२२ वर्षकी थी और प्राचीन प्रथा यह थी कि जबतक राज्यका उत्तराधिकारी २५ वर्षकी अवस्थाका न होजाय तबतक उसका राजतिलक नहीं होसक्ता था; यद्यपि वह राज्यशासन करनेका अधिकारी होता था। इसी प्रथाके अनुरूप जैनसम्राट् खारवेलका भी राज्य अभिषेक कुछ वर्ष राज्य-शासन युवराजपदसे कर चुकने पर २५ वर्षकी अवस्थामें हुआ था। अशोकके संबंधमें भी यही कारण उचित प्रतीत होता है।[3] जब वह २५ वर्षके होगये तब उनका अभिषेक सन् २७३ ई० पू० में हुआ। और उनका अद्भुत राज्य-शासन सन् २३६ ई० पू० तक कुशलता पूर्वक चला था।

बिन्दुसारके समयमें अशोक उत्तर पश्चिमीय सीमा प्रान्त और पश्चिमी भारतका सूबेदार रह चुका था। इन प्रदेशोंका उसने ऐसे अच्छे ढंगसे शासन-प्रबंध किया था कि इसके सुप्रबन्ध और योग्यताका सिक्का

अशोक तक्षशिला व उज्जनीका सूबेदार।

१—कोई विद्वान बिन्दुसारकी मृत्यु सन् २७३ ई० पू० और अशोकका राज्याभिषेक सन् २६९ ई० पू० मानते हैं। (भाइ० पृ० ६७—६८)
२—लाभाइ०, पृ० १७०। ३—जबिओसो० भा० ३ पृ० ४३८।
४—जबिओसो० भा० १ पृ० ११६।

तब ही जम गया था। उत्तर पश्चिमीय सीमा प्रान्तका राज्य 'तक्षशिलाके राज्य' के नामसे प्रगट था और उसमें काश्मीर, नेपाल, हिन्दुकुश पर्वत तक सारा अफगानिस्तान, बलोचिस्तान और पंजाब मिले हुये थे। तक्षशिला वहांकी राजधानी थी, जो अपने विश्व-विद्यालयके लिये प्रख्यात थी। बड़े २ विद्वान् वहां रहा करते थे। और दूर दूरके लोग वहां विद्याध्ययन करने आते थे।[1] तक्षशिलाके अतिरिक्त अशोक पश्चिमी भारतका भी शासक रहा था। उस समय वहांकी राजधानी उज्जैन थी, जो तक्षशिलासे कुछ कम प्रसिद्ध न थी। यह पश्चिमी भारतका द्वार और एक बड़ा नगर था। वहांका विद्यालय गणित और ज्योतिषके लिये विख्यात था।[2] उज्जैन जैनोंका मुख्य केन्द्र थे और जैन साधु अपने प्रिय विषय ज्योतिष और गणितके लिये जगप्रसिद्ध थे। उन्होंने उस समय उज्जैनको भारतका ग्रीनिच बना दिया था। अशोकने इन दोनों स्थानोंका शासन सुचारु रीतिसे किया था।

कलिङ्ग-विजय।

जब अशोक राजसिंहासनपर आसीन होगये तो उनको भी अपने पूर्वजोंकी भांति साम्राज्य विस्तार करनेकी सूझी। उस समय बंगालकी खाड़ीके किनारे महानदी और गोदावरी नदियोंके बीचमें स्थित देश कलिङ्गके नामसे प्रसिद्ध था और यह देश मगध साम्राज्यका शासनभार उतारकर स्वाधीन होगया था। अशोकने उसे पुनः अपने राज्यमें मिला लिया था। इस कलिङ्गविजयमें बड़ी घनघोर लड़ाई हुई

१-लाभाइ० पृ० १७०-१७१ व भाप्राश० भा० २ पृ० ९६।
२-लाभाइ० पृ० १७१। ३-कैहिइ० भा० १ पृ० १६७।

थी। अशोकने इस युद्धमें जो भयानक हत्याकाण्ड देखा, उसका उसके हृदयपर गहरा प्रभाव पड़ा ! उसकी आत्मा इस नृशंस नर-संहारको देखकर भयभीत हो गई। और उसके हृदयमें दया एवं प्रेमका स्रोत बह निकला। कलिङ्ग विजयने अशोकको एक कट्टर धर्मात्मा बना दिया। वह राजलोलुपी न रहा। उसने प्रण करलिया कि वह फिर कभी कोई युद्ध नहीं करेगा। इतना ही क्यों बल्कि उसने अपना शेष जीवन धर्म प्रचारमें व्यतीत करनेका दृढ़ संकल्प करलिया और अपने उत्तराधिकारियोंके लिये भी आदेश किया कि 'मेरे पुत्र और प्रपौत्र इस बातको सुन लें और युद्ध विजयको बुरा समझ छोड़ दें। तीर चलानेके समय भी शांति और थोड़े दण्ड देनेको ही पसंद करें। धर्मविजयको ही असली विजय समझें।' इस आदेशमें जिस अनूठे ढंगसे प्रिय-सत्यका प्रतिबिम्ब अंकित है, वह हृदयको मोह लेता है। सम्यग्दर्शन अथवा संबोधिको प्राप्त होनेपर संसारी जीव धर्मके मर्मको समझ जाता है, यह बात अशोकके उक्त हृदयोद्गारसे स्पष्ट है।[1]

अशोकका साम्राज्य।

अशोकने अपने शासनकालमें केवल एक उक्त चढ़ाई की और उसके बाद उसने धर्म-विजयके सच्चे प्रयत्न किये थे। इतनेपर भी उसके समयमें मौर्य साम्राज्यकी वृद्धि हुई थी। उसका राज्य उत्तरमें हिमालय और हिंदुकुश पर्वततक पहुंचता था। अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान और सिन्ध उसके आधीन थे। बंगाल उसके राज्यका पूर्वीय सूबा था। कलिंग और आंध्र देश भी उसके राज्यमें सम्मिलित थे।[2]

१-भाप्राग० भा० २ पृ० ९७-९८। २-माइ० पृ० ६८।

काश्मीरमें उसने एक नई राजधानी बनाई; जिसका नाम श्रीनगर रक्खा। नेपालमें भी ललितपाटन नामक एक नई राजधानी स्थापित की थी। दक्षिण भारतमें नेलोर प्रदेशसे लेकर पश्चिमी किनारे अर्थात कल्याणपुरी नदीतक उसका राज्य था। इस प्रदेशके दक्षिणमें जो पांड्य, केरलपुत्र और सतियपुत्र तामिल राज्य थे, वे स्वतंत्र और स्वाधीन थे। इस प्रकार दक्षिणके थोड़ेसे भागके अतिरिक्त सारे भारतवर्षमें उसीका साम्राज्य था।

इस बृहत साम्राज्यको अशोकने कई भागोंमें विभक्त कर रक्खा था। इनमें मध्यवर्ती भागके अतिरिक्त शेष भागोंमें चार राजप्रतिनिधि—संभवतः राजकुमार राज्य करते थे। एक राजप्रतिनिधि तक्षशिलामें रहता था; दूसरा कलिंग प्रांतकी राजधानी तोषलीमें, तीसरा उज्जैनमें और चौथा दक्षिणमें रहकर सारे दक्षिणी देशपर शासन करता था। उज्जैनके राज प्रतिनिधि मालवा, काठियावाड़ और गुजरातका शासन प्रबंध करता था। कलिंगके शासनकी अशोकको बड़ी फिकर रहती थी। वहांपर उसके राज्यप्रतिनिधि कभी२ अच्छा शासन नहीं करते थे। इसलिये उसने वहांपर दो शिलालेख खुदवाकर राजप्रतिनिधियोंको समुचित शिक्षा दी थी।[1]

अशोकका शासन प्रबन्ध। अशोकने शासन प्रबन्धमें धर्मको प्रधान स्थान दिया था। इसी कारण उसके राज्यमें राष्ट्रका रूप बदल गया था। राजनीति संबंधी कार्योंमें धार्मिक कार्य आ मिले थे। इसलिये 'राज्यका कर्तव्य न केवल देशमें शांति स्थापित रखना और प्रजाकी रक्षा करना था, वरन धर्मका प्रचार

1—लाभाइ० पृ० १७५—१७६। २—अध० पृ० ३७।

करना भी था। इसके लिये अशोकने भरसक प्रयत्न किया। उसके महामात्र राज्यमें दौरा करते थे और जनताको धर्मका उपदेश करते थे। प्रत्येक वर्षमें कुछ दिन ऐसे नियत कर दिये गये जिनमें राजकर्मचारी सर्कारी काम करनेके अलावा प्रजाको उसका कर्तव्य बतलाते थे। जनसाधारणके चाल-चलनकी निगरानीके लिये निरीक्षक नियुक्त थे। इनका काम यह देखना था कि लोग मातापिताका आदर करते हैं या नहीं, जीव हिंसा तो नहीं करते। ये लोग राजवंशकी भी खबर रखते थे। स्त्रियोंके चाल-चलनकी देखभालके लिये भी अफसर थे। राज्यका दान विभाग अलग था। यहांसे दीनोंको दान मिलता था। पशुओंको मारकर यज्ञ करनेकी किसीको आज्ञा नहीं थी।'[1]

अशोकका वैयक्तिक जीवन।

अशोक एक बड़ा राजनीतिज्ञ, सच्चा धर्मात्मा और प्रजापालक राजा था। इसकी अभिलाषा थी कि प्रत्येक प्राणी अपने जीवनको सफल बनाये और परभवके लिये खूब पुण्य संचय करे। दया, सत्य, और बड़ोंका आदर करनेपर वह बड़ा जोर देता था। वह प्रजाके सुखमें अपना सुख और दुःखमें दुःख समझता था! वह एक आदर्श राजा था और उसकी प्रजा खूब सुखी और समृद्धिशाली थी। वह अपने अभिषेकके वार्षिकोत्सव पर एक एक कैदी छोड़ा करता था।[2] इससे प्रगट है कि उसके राज्यमें अपराध बहुत कम होते थे और जेलखानोंमें कैदियोंका जमघट नहीं रहता था। उसकी एक उपाधि 'देवानां प्रिय' थी और उसे 'प्रियदर्शी' भी लिखा गया

१-भाइ० पृ० ७३-७४। २-माप्रारा० भा० ३ पृ० १३१।

है।[1] जैन शास्त्रोंमें जैन राजाओंके लिये 'देवानां प्रिय'का प्रयोग हुआ मिलता है। भगवान महावीरके पिता राजा सिद्धार्थको भी लोग 'देवानां प्रिय' कहकर पुकारते थे और उनकी माता रानी त्रिशलाको 'प्रियकारिणी' कहते थे।[2]

अशोकपर जैनधर्मका विशेष प्रभाव पड़ा था। वह अपने पितामह और पिताके समान जैन धर्मानुयायी ही था; यद्यपि अपने धर्मप्रचारके समय उसने पूर्ण उदारतासे काम लिया था और जैन धर्मके आधारपर अपने धर्मका निरूपण किया था। बौद्ध ग्रंथ 'महावंश' के आधारपर विद्वान् उसे ब्राह्मण धर्मानुयायी बतलाते हैं;[3] किन्तु इस ग्रन्थके कथन निरे कपोल-कल्पित प्रमाणित हुये हैं।[4] इस कारण उसपर विश्वास करना कठिन है, तिसपर सिंहलके लोगोंके निकट ब्राह्मणसे भाव बौद्धेतर संप्रदायोंका होना उचित दृष्टि पड़ता है;[5] क्योंकि बौद्ध ग्रन्थोंमें ब्राह्मण और श्रमण रूप जो उल्लेख हैं; उनमें श्रमणसे भाव बौद्ध भिक्षुओंका है। और ब्राह्मण केवल वेदानुयायी ब्राह्मणोंका द्योतक नहीं होसक्ता। उसके कुछ व्यापक अर्थ ठीक जंचते हैं। इस कारण यह संभव है कि इसी भावसे सिंहलवासियोंने अशोकको बौद्ध न पाकर उसे ब्राह्मण (बौद्ध-विरोधी) लिख दिया है। वरन् एक उस राजाके लिये जिसके पितामह और पिता जैनी थे, और जिसका प्रारंभिक जीवन

१-अध० द्वितीय अध्याय, व इंऐ० भा० २० पृ० २३२। २-कसू० पृ० २६-३० व ५४। ३-अशोक० पृ० २३। ४-अशोक पृ० २३ व ४७, भाअशो० पृ० १६, मैबु० पृ० ;११० । ५-मि० ई० टॉमस सा० भी यही ठीक समझते हैं। जराएसो० भा० ९ पृ० १८१।

जैनोंके दो प्रधान नगरों तक्षशिला और उज्जैनीमें व्यतीत हुआ हो, यह संभव नहीं है कि वह अकारण ही अपने वंशगत धर्मको तिलांजलि देदे।

इस विषयमें अगाड़ीकी पंक्तियोंसे बिल्कुल स्पष्ट होजायगा कि वास्तवमें अशोक मूलमें जैनधर्मानुयायी था। उज्जैनमें जिस समय वह थे, तब उनका विवाह विदिशागिरि (बेसनगर-भिलसाके निकट) के एक श्रेष्टीकी कन्यासे हुआ था। उनकी पट्टरानी क्षत्रीय-वर्णकी थी और वह पाटलिपुत्रमें थी। अशोक जब राजा होकर पाटलीपुत्र पहुंचे तब उनके साथ उनके सब पुत्र-पुत्रियां भी वहां गये थे; किन्तु पट्टरानी आदिके अतिरिक्त उनकी अन्य स्त्रियां उज्जैनमें रहीं थीं। अशोकने इनका उल्लेख 'अवरोधन' रूपमें किया है।[1] इससे अनुमान होता है कि यह महिलाएं परदेमें रहतीं थीं। किन्तु परदेका भाव यहांपर इतना ही होसक्ता है कि वह जनसाधारणकी तरह आम तौरसे जहां-तहां आ जा नहीं सक्तीं होंगी। राजमर्यादाका पालन करते हुये, उनके जाने-आनेमें रुकावट नहीं थीं। यदि यह बात न होती तो अशोककी रानियां महात्मा-लोगोंके दर्शन नहीं कर सक्ती थीं और न दान-दक्षिणादि देसक्तीं थीं। बौद्धशास्त्र अशोकको प्रारम्भमें एक दुष्ट व्यक्ति प्रगट करते हैं और कहते हैं कि उनने अपने ९९ भाइयोंकी हत्या करके राज्यसिंहासन पर अधिकार जमाया था; किन्तु उनके शिलालेखोंसे उनके राज्यकालमें भाइयों और बहिनोंका जीवित रहना प्रमाणित है।[2] अतः बौद्धोंका यह कथन कोरा कल्पित है। तब

१-भाअशो० पृ० १३। २-अशोक० पृ० २३ व भाइ पृ० ६१।

अशोक बौद्ध न होकर जैन थे, इसलिये बौद्धोंने उनको दुष्ट लिखा है।

किन्हीं लोगोंका कहना है कि पहिले अशोक मांसभोजी था। उसकी भोजनशालामें हजारों जानवर मारे जाते थे।[1] एक जैनके लिये इस प्रकार मांसलोलुपी होना जी को नहीं लगता और इसीसे विद्वानोंने उसे शैव धर्मानुयायी प्रकट किया है।[2] किन्तु इस उल्लेखसे कि अशोकके राज घरानेकी रसोईमें मांस पकता था, यह नहीं कहा जासक्ता कि अशोकके मांसभोजी था। संभव यह है कि अन्य मांसभोजी राजवर्गके लिये ऐसा होता होगा। जन्मसे जैनी होनेके कारण अशोकका मांसभक्षी होना सर्वथा असंगत है। यह उल्लेख उसके अन्य सम्बंधियोंके विषयमें ठीक जंचता है; जिनको भी उसने अन्तमें अपने समान कर लिया था। पहले एक ही कुटुम्बमें विभिन्न मतोंके अनुयायी रहते थे, यह सर्वमान्य बात है। इसके विपरीत यदि पहलेसे ही अहिंसातत्वका प्रभाव और खासकर जैन अहिंसाका, अशोक हृदयमें घर किये हुये न माना जाय तो उसका कलिंग-विजयमें भयानक नरसंहार देखकर भयभीत होना असंभवसा होजाता है। और यह भी तब संभव नहीं कि उसके रसोई घरमें एकदम हजारोंकी संख्यासे कम होकर केवल तीन प्राणी ही मारे जाने लगते और फिर वह भी बन्द कर दिये जाते। यह ध्यान रहे कि वैदिक अहिंसामें मांसभोजनका हर हालतमें निषेध नहीं है और न बौद्ध अहिंसा ही किसी व्यक्तिको पूर्ण शाकाहारी बनाती है। वह केवल

अशोक प्रारंभमें जैनी था।

१-माप्रा० पृ० ७१। २-भाप्रारा० भा० २ पृ० ५८।

जैन अहिंसा है जो हर हालतमें प्राणीवधकी विरोधी है और एक व्यक्तिको पूर्ण शाकाहारी बनाती है।

उस समय वैदिक मतावलंबियोंमें मांसभोजनका बहुपचार था और बौद्धलोग भी उससे परहेज नहीं रखते थे। म० बुद्धने कई बार मांसभोजन किया था और वह मांस खास उनके लिये ही लाया गया था।[1] अतएव अशोकका पूर्ण निरामिष भोजी होना ही उसको जैन बतलानेके लिए पर्याप्त है। इस अवस्थामें उसे जन्मसे ही जैनधर्मका श्रद्धानी मानना अनुचित नहीं है। जैन ग्रन्थोंमें उसका उल्लेख है[2] और जैनोंकी यह भी मान्यता है कि श्रवणवेलगोलामें चन्द्रगिरिपर उसने अपने पितामहकी पवित्रस्मृतिमें चंद्रवस्ती आदि जैन मंदिर बनवाये थे।[3]

'राजावलीकथा'में उसका नाम भास्कर लिखा है और उसे अपने पितामह व भद्रबाहु स्वामीके समाधिस्थानकी वंदनाके लिये श्रवणबेलगोल आया बताया है। (जैशि सं०, भूमिका पृ० ६१) अपने उपरान्त जीवनमें मालूम पड़ता है कि अशोकने उदारवृत्ति ग्रहण करली थी और उसने अपनी स्वाधीन शिक्षाओंका प्रचार करना प्रारंभ किया था; जो मुख्यतः जैन धर्मके अनुसार थी। यही कारण प्रतीत होता है कि जैन ग्रंथोंमें उसके शेष जीवनका हाल नहीं है। जैन दृष्टिसे वह वैनयिक-रूपमें मिथ्यात्व ग्रसित हुआ कहा जासक्ता है; परन्तु उसकी शिक्षाओंमें जैनत्व कूट२ कर भरा हुआ मिलता है। उसने बौद्धों, ब्राह्मणों और आजीविकोंके साथ

१-भमबु० पृ० १७२। २-राजावलीकथा और परिशिष्ट पर्व (पृ० ८७) ३-हिवि० भा० ७ पृ० १५०।

जैनोंको भी भुलाया नहीं था, यह बात उसके शिलालेखोंसे स्पष्ट है।[1]

अजैन साक्षी। प्रो० कर्नके समान बौद्ध धर्मके प्रखर विद्वान् अशोकका जैन होना बहुत कुछ संभव मानते हैं[2] और मि० टॉमसने तो जोरोंके साथ उनको जैन धर्मानुयायी प्रगट किया है।[3] मि० राईस और प्राच्य विद्या महार्णव पं० नागेन्द्रनाथ वसु भी अशोकको एक समय जैन प्रगट करते हैं।[4] यह बात भी नहीं है कि केवल आधुनिक विद्वान ही अशोकको पहिले जैनधर्मका श्रद्धानी प्रगट करते हों; बल्कि आजसे बहुत पहिलेके भारतीय लेखक भी उनका जैनी होना सिद्ध करते हैं। 'राजतरिङ्गणी'में लिखा है कि अशोकने जिन शासनका उद्धार या प्रचार काश्मीरमें किया था।[6] 'जिनशासन' स्पष्टतः जैनधर्मका द्योतक है; किन्तु विद्वान् इसे बौद्ध धर्मके लिये प्रयुक्त हुआ बतलाते हैं। हमारी समझसे "बौद्धधर्म" में 'जिन' शब्दका व्यवहार अवश्य मिलता है; किन्तु जैनधर्ममें जैसी प्रधानता इस शब्दको मिली हुई है, वैसी बौद्ध धर्ममें नहीं।[7] इस शब्दकी अपेक्षा ही जब जैनधर्मका नामकरण हुआ है, तब वह शब्द इसी धर्मका द्योतक माना जा सक्ता है। 'राजतरिङ्गणी'में अन्यत्र काश्मीरके राजा मेघवाहनको

१-जमीसो० भा० १७ पृ० २७५। २-इंऐ० भा० २० पृ० २४३। ३-जराएसो० भा० ९ पृ० १५५-१९१। ४-मैसूर एण्ड कुर्ग देखो। ५-हिवि० भा० २ पृ० ३५०।

६-'यः शान्तवृजिनो राजा प्रपन्नो जिनशासनम्।
शुष्कलेऽत्र वितस्तात्रौ तस्तार स्तूपमण्डले ॥-राजतरंगिणी अ० १

७-इहिक्वा० भा० ३ पृ० ४७५-४७६।

जैनोंके समान हिंसासे घृणा करनेवाला लिखा है।[1] इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि कवि कल्हणके निकट 'जिन' शब्द जैनोंके अर्थमें महत्व रखता था।

अबुल्फ़ज़लने 'आइने अकबरी' में जो काश्मीरका हाल लिखा है, उससे भी इस बातका समर्थन होता है कि अशोकने वहां जैनधर्मका प्रचार किया था। अबुलफ़ज़लने 'जैन' शब्दका प्रयोग अशोकके संबन्धमें किया है और अगाड़ी "बौद्ध" शब्दका प्रयोग बौद्धधर्मके वहांसे अवनत होनेके वर्णनमें किया है।[2] इस दशामें अशोकका प्रारम्भमें जैनमतानुयायी होना संभव है। श्रवणबेलगोलमें जो राजा जैनमंदिर बनवा सक्ता है, वह जैनधर्मका प्रचार काश्मीरमें भी कर सक्ता है। अशोक स्वयं कहता है कि उसके पूर्वजोंने धर्मप्रचार करनेके प्रयत्न किये, पर वह पूर्ण सफल नहीं हुए।[3] अब यदि अशोकको बौद्धधर्म अथवा ब्राह्मणमतका प्रचारक मानें तो उसका धर्म वह नहीं ठहरता है जो उसके पूर्वजोंका था। सम्राट् चंद्रगुप्तने जैन मुनि होकर धर्मप्रचार किया था। इस दशामें अशोक भी अपने पूर्वजोंके धर्मप्रचारका हामी प्रतीत होता है। जिस धर्मका प्रचार करनेमें उसके पूर्वज असफल रहे, उसीका प्रचार अशोकने नये ढंगसे कर दिखाया और अपनी इस सफलता पर उसे गर्व और हर्ष था।

वह केवल साम्प्रदायिकतामें संलग्न नहीं रहा—उदारवृत्तिसे उसने सत्यका प्रचार मानवसमाजमें किया। प्रत्येक मतवालेको

१-राजतरंगिणी अ० १ श्लो० ७२ व अ० ३ श्लो० ७। २-जराएसो० भा० ९ पृ० १८३। ३-प्रसमस्तंभलेख-अध० पृ० ३७१।

उसने उसके मतमें अच्छाई दिखा दी और वह सबका आदर करने लगा। साम्प्रदायिक दृष्टिसे जैन अशोकके इन वैनयिक भावसे संतुष्ट न हुये और उनने उसके संबन्धमें विशेष कुछ न लिखा। इतनेपर भी अशोकका शासन प्रबन्ध और उसके धर्मकी शिक्षाओंमें जैनत्वकी झलक विद्यमान है। डॉ० कर्न सा० लिखते हैं कि "अशोकके शासन प्रबन्धमें बौद्धभावका द्योतक कुछ भी न था। अपने राज्यके प्रारंभसे वह एक अच्छा राजा था। उसकी जीव-रक्षा संबन्धी आज्ञायें बौद्धोंकी अपेक्षा जैनोंकी मान्यताओंसे अधिक मिलती हैं।"[1] अपने राज्यके तेरहवें वर्षसे अशोकका राजघराना एक जैनके समान पूर्ण शाकभोजी होगया।[2] उनने जीव हत्या करनेवालेके लिये प्राणदंड जैसी कड़ी सजा रक्खी थी। जैनराजा कुमारपालकी भी ऐसी ही राजाज्ञा थी।[3] यज्ञमें भी पशुहिंसाका निषेध अशोकने किया था। कहते हैं कि इस कार्यसे उसकी वैदिक धर्मावलम्बी प्रजा असंतुष्ट थी।[4] म० बुद्धके समयमें बौद्ध-लोग बाजारसे मांस लेकर खाते थे; किन्तु अशोकने भोजनके लिये भी पशुहिंसा बन्द करदी थी, यह कार्य सर्वथा एक जैनके ही उपयुक्त था। प्रीतिभोज और उत्सवोंमें भी कोई मांस नहीं परोस सक्ता था।

अशोककी शिक्षायें जैन धर्मानुसार हैं।

आखेटको भी अशोकने बन्द कर दिया था। उसने बैलों, बकरों, घोड़ों आदिको बधिया करना भी बन्द कराया था। पशुओंकी रक्षा और चिकित्साका भी उसने पिंजरापोलके ढंगपर प्रबंध किया था। कहते

१-इंऐ० भा० ५ पृ० २०५। २-मैअशो० पृ० ४९। ३-अहिइ० पृ० १८५-१९०। ४-मैअशो० पृ० ४९।

हैं कि पिंजरापोल संस्थाका जन्म जैनोंद्वारा हुआ है और आज भी जैनोंकी ओरसे ऐसी कई संस्थायें चल रही हैं।[1] अशोकने कई वार जैनोंकी तरह 'अमारी घोष' (अभयदानकी घोषणा) कराई थी। सारांश यह है कि अशोकको पशुरक्षाका पूरा ध्यान था। कोई विद्वान् कहते हैं कि पशुरक्षाको उसने इतना महत्व दिया था कि उसके निकट मानवसमाजकी भलाई गौण थी। यह ठीक वैसा ही लाञ्छन है जैसा कि आज जैनोंपर वृथा ही आरोपित किया जाता है; किन्तु इससे अशोककी प्रवृत्ति जैनोंके समान थी, यह प्रकट होता है। अशोकने मानवोंकी भलाईके कार्य भी अनेक किये थे। उनकी जीवनयात्रायें धार्मिक कार्योंको करते हुए व्यतीत हों, इसलिये अशोकने उनको धर्मशिक्षा देनेका खास प्रबन्ध किया था। प्राणदण्ड पाये हुये कैदीके जीवनको भी भविष्यमें सुखी बनानेके लिये उसने उसको धर्मोपदेश मिलनेका प्रबन्ध किया था। कृतपापके लिये पश्चाताप और उपवास करनेसे मनुष्य अपनी गति सुधार सक्ता है। जैनधर्ममें इन बातोंपर विशेष महत्व दिया गया है।

अशोक भी इन हीकी शिक्षा देता था। उसने केवल मनुष्यके परभवका ही ध्यान नहीं रखा था। वह जानता था कि धर्म पारलौकिक और लौकिकके भेदसे दो तरहका है। एक श्रावकके लिये यह उचित है कि वह दोनोंका अभ्यास सुचारु रीतिसे करे। अशोकने अपनी शिक्षाओंसे धर्मके इस भेदका पूरा ध्यान रक्खा।

१–मैअशो० पृ० ४९–५०। २–अध० पृ० १६३–१६७–पंचम शिलालेख। ३–अध० पृ० ३३९। ४–अध० पृ० ३१०–प्रथम स्तम्भ लेख।

उसकी शिक्षाओंमें निम्न बातोंका उपदेश मनुष्यके पारलौकिक धर्मको लक्ष्य करके दिया गया था; जो जैनधर्मके अनुकूल है:–

(१) जीवित प्राणियोंकी हिंसा न की जावे[1] और इसका असली नमूना स्वयं अशोकने अपने राजघरानेको शाकभोजी बनाकर उपस्थित किया था। हम देख चुके हैं कि अशोकका अहिंसातत्व बिल्कुल जैनधर्मके समान है। वह कहता है कि सजीव तुषको नहीं जलाना चाहिये (तुसे सजीवे नो झापेतविये) और न वनमें आग लगाना चाहिये।[2] यह दोनों शिक्षायें जैनधर्ममें विशेष महत्व रखती हैं। वनस्पतिकाय, जलकाय आदिमें जैनोंने ही जीव बतलाये हैं।[3]

(२) मिथ्यात्ववर्द्धक सामाजिक रीति-रीतियोंको नहीं करना चाहिये[4]–अर्थात् ऐसे रीति रिवाज जो किसीके बीमार होनेपर, किसीके पुत्र-पुत्रीके विवाहोत्सवपर अथवा जन्मकी खुशीमें और विदेशयात्राके समय किये जाते हैं, न करना चाहिये। इनको वह पापवर्द्धक और निरर्थक बतलाता है और खासकर उस समय जब इनका पालन स्त्रियों द्वारा हो, कारण कि इनका परिणाम संदिग्ध और फल नहींके बराबर है। और उनका फल केवल इस भवमें मिलता है। इनके स्थानपर वह धार्मिक रीति रिवाजोंको जैसे गुरुओंका आदर, प्राणियोंकी अहिंसा, श्रमण और ब्राह्मणोंको दान देना आदि क्रियाओंका पालन करनेका उपदेश देता है। यहांपर अशोक प्रगटतः भोले मनुष्योंकी देवी, भवानी, यक्ष, पितृ

१–अश० पृ० १४८–चतुर्थ व ग्यारस शिलालेख। २–अश० पृ० ३५२–३५३–पंचम स्तम्भ लेख। ३–Js. Pts Id II Intro. ४–अश० पृ० २११–नवम शिलालेख।

आदिकी मान्यता मनाने आदि लौकिक पाखण्डका विरोध कर रहा है। भारतीय समाजमें यह पाखण्ड बड़े मुद्दतोंसे बढ़ रहा है। अशोकके लाख उपदेश देनेपर भी आजतक यह निरर्थक और पापवर्द्धक रीति नीति जीवित है। लोग अब भी देवी, भवानी, पीर-पैगम्बर आदिकी मान्यतायें मनाकर सांसारिक भोगोपभोगकी सामग्रीके पानेकी लालसामें पागल होरहे हैं। अशोककी यह शिक्षा भी ठीक जैनधर्मके अनुसार है। जैन शास्त्रोंमें मिथ्यात्वपाखण्डका घोर विरोध किया गया है और धार्मिक क्रियायोंके करनेका उपदेश है।[1]

(३) सत्य बोलना चाहिये[2]—जैनोंके पंचाणुव्रतोंमें यह एक सत्याणुव्रत है।[3]

(४) अल्प व्यय और अल्पभांड़ताका अभ्यास करना अर्थात् थोड़ा व्यय करना और थोड़ा संचय करना अच्छा है।[4] अशोककी इस शिक्षाका भाव जैनोंके परिग्रह प्रमाण व्रतके समान है। श्रावक इस व्रतको ग्रहण करके इच्छाओंका निरोध करता है और अल्प व्ययी एवं अल्प परिग्रही होता है।[5]

१–उपु० पृ० ६२४ तथा रत्नकरण्डश्रावकाचारमें लिखते हैं:—

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥ १ ॥ २२ ॥
वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥ १ ॥ २३ ॥

२–अध० पृ० ९६–ब्रह्म० द्वि० शिलालेख। ३–तत्वार्थसूत्रम अ० ७ सूत्र० १। ४–अध० पृ० १३१–तृतीय शिला०।

५—धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ॥ ३ ॥ १५ ॥
—रत्नकरण्डश्रा०।

(५) संयम और भावशुद्धिका होना आवश्यक है। अशोक कहते हैं कि जो बहुत अधिक दान नहीं कर सक्ता उसे संयम, भाव-शुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़ भक्तिका अभ्यास अवश्य करना चाहिये।[1] एक श्रावकके लिये देव और गुरुकी पूजा करना और दान देना मुख्य कर्तव्य बताये गये हैं।[2] अशोकने भी ब्राह्मण और श्रमणोंका आदर करने एवं दान देनेकी शिक्षा जनसाधारणको दी थी।[3] यदि वह दान न दे सकें तो संयम, भावशुद्धि और दृढ़ भक्तिका पालन करें। जैनधर्ममें इन बातोंका विधान खास तौरपर हुआ मिलता है। संयम और भावशुद्धिको उसमें मुख्यस्थान प्राप्त है।[4]

(६) अशोककी धर्मयात्रायें-स्व-पर कल्याणकारी थीं।[5] उनमें श्रमण और ब्राह्मणोंका दर्शन करना और उन्हें दान देना तथा ग्रामवासियोंको उपदेश देना और धर्मविषयक विचार करना आवश्यक थे। जैन संघका विहार इसी उद्देश्यसे होता है। जैन संघमें श्रावक-श्राविका साधुजनके दर्शन पूजा करके पुण्य-बन्ध करते हैं और उन्हें बड़े भक्तिभावसे आहार दान देते हैं। साधुजन अथवा उनके साथके पंडिताचार्य सर्व साधारणको धर्मका स्वरूप

१—अध० पृ० १८९—सप्तम शिला०। २—दाणं पूजा मुक्खं सावय धम्मो, ण सावगो तेण विणा।—कुंदकुंदाचार्य। ३—अध० पृ० १९७ व २११—अष्टम व नवम् शिला०—'ब्राह्मण और श्रमण' का प्रयोग पहिले साधारणतः साधुजनको लक्ष्य कर किया जाता था।

४—'भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणाविंति।'—अष्टपाहुड़ पृ० १६२।
'संजम जोगे जुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अणेगविधं।
सो कम्मणिज्जराए विउलाए वट्टदे जीवो ॥२४२॥५॥—मूलाचार।
५—अध० पृ० १९६—अष्टमशि०।

समझाते हैं और खूब ज्ञान गुदड़ी लगती है। मालूम होता है कि अशोकने अपनी धर्मयात्राओंका ढांचा जैनसंघके आदर्शपर निर्मित किया था।

(७) सर्व प्राणियोंकी रक्षा, संयम, समाचारण और मार्दव (सवभूतानं अछति, संयम, समचरियं, मादवं च) धर्मका पालन करनेकी शिक्षा अशोकने मनुष्योंको परभव-सुखके लिये समुचित रीत्या दी थी।[1] जैनधर्ममें इन नियमोंका विधान मिलता है। समाचरण वहां विशेष महत्व रखता है। जैन मुनियोंका आचरण 'समाचार' रूप और धर्म साम्यभाव कहा गया है।[2] सर्व प्राणियोंकी रक्षा, संयम और मार्दव जैनोंके धर्मके दश अँगोंमें मिलते हैं।[3]

(८) अशोक कहते हैं कि 'एकान्त धर्मानुराग, विशेष आत्म-परीक्षा, बड़ी सुश्रूषा, बड़े भय और महान् उत्साहके विना ऐहिक और पारलौकिक दोनों उद्देश्य दुर्लभ हैं।'[4] जैनोंको इस शिक्षासे कुछ भी विरोध नहीं होसक्ता। श्रावकके लिये धर्मध्यानका अभ्यास करना उपादेय है[5] और आत्मपरीक्षा करना—प्रतिक्रमणका नियमित

१–अध० पृ० २५०–त्रयोदश शि०।

२–समदा सामाचारो सम्माचारो समो व आचारो।
सव्वेसिंहि सम्माणं सामाचारो दु आचारो ॥१२३॥४॥ मूला०।
अथवाः–"चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो, परिणामो अप्पणो हि समो ॥७॥ प्रवचनसार।

३–"खंतीमद्दव अज्जव लाघव तव संजमो अकिंचणदा।
तह होइ बह्मचेरं सच्चं चाओ य दस धम्मा ॥७५२॥–मूला०।

४–अध० पृ० ३१०–प्रथम स्तंभलेख। ५–अष्टपाहुड पृ० २१४ व २२१ व ३४४

विधान रखना जैनधर्ममें परमावश्यक है।[1] बड़ीसुश्रूषा वैयाव्रत्यकी द्योतक है।[2] बड़ा भय संसारका भय है[3] और उससे छूटनेका दृढ़ अनुराग बड़ा उत्साह है।[4]

(९) अशोक धर्म पालन करनेका उपदेश देते थे और धर्म यही बताते थे कि 'व्यक्ति पापाश्रव (अपास्रवः)से दूर रहे, बहुतसे अच्छे काम करे, दया, दान, सत्य और शौचका पालन करे।'[5] अशोकने ज्ञान दान दिया था;[6] पशुओं और मनुष्योंके लिये चिकित्सालय खुलवाकर औषधिदानका यश लिया था,[7] वृद्धों और गरीबोंके भोजनका प्रबंध करके आहारदानका पुण्यबंध उपार्जन किया था[8] और जीवोंको प्राण-दक्षिणा देकर, परमोत्कृष्ट अभय-दानका अभ्यास किया था।[9] जैनधर्ममें दान ठीक इसी प्रकार चार तरहका बताया गया है।[10] जैनधर्ममें ही कर्मवर्गणाओंके आश्रव होनेपर पापबन्ध होता लिखा है।[11] अशोक भी पापकी व्याख्या ठीक ऐसी ही कर रहा है। पापकी व्याख्या वैदिक और बौद्धधर्मोंके सर्वथा प्रतिकूल है; क्योंकि इन दोनों दर्शनोंमें कर्म

१–मूला० पृ० ११ व। २–अष्टपाहुड़ पृ० २३५।

३–जिणवयणमणुगणंता संसार महाभयंपि चिंतंता।

गब्भवसदीसु भीदा भीदा पुण जम्ममरणेसु ॥८०५॥–मूला०।

णत्थि भय मरणे समं।' –मूला०।

४–उच्छंत्स्वभावणासं पसंससेवा सुदंसणे सद्धा।

ण जहदि जिण सम्मतं कुव्वंतो णाणमग्गेण ॥१४॥ अष्ट० पृ० ८९।

५–६. अध० पृ० ३१७–द्वितीय स्तंभलेख। ७–अध०। ८–अध० पृ० ३७३–३८०–सप्तम स्तंभलेख। ९–अध० पृ० ३१७–द्वितीय स्तंभलेख। १०–तत्वार्थ० पृ० ५५। ११–प्रवचनसार टीका खंड २ पृ० १२२ व तत्वार्थ० पृ० १२४।

एक ऐसा सूक्ष्म पुद्गल पदार्थ नहीं माना गया है जिसका आश्रव होसके। दया, दान, सत्य और शौच धर्म भी जैनमतमें मान्य है।

(१०) अशोकने अंकित कराया था कि आत्मपरीक्षा बड़ी कठिन है, तो भी मनुष्यको यह देखना चाहिये कि चंडता, निष्ठुरता, क्रोध, मान और ईर्ष्या यह सब पापके कारण हैं। वह इनसे दूर रहे।[1] कारागारमें पड़े हुये प्राणदण्ड पुरस्कृत कैदियोंके लिये भी अशोकने तीन दिनका अवकाश दिया था; जिसमें वे और उनके संबंधी उपवास, दान आदि द्वारा परभवको सुधार सकें।[2] एक धर्मपरायणके राजाके लिये ऐसा करना नितांत स्वाभाविक था। अशोककी यह शिक्षा भी जैनधर्मके अनुकूल है।[3] कैदियोंका ध्यान समाधिमरणकी ओर आकर्षित करना उसके लिये स्वाभाविक था। जैनका स्वभाव ही ऐसा होजाता है कि वह दूसरोंको केवल जीवित ही न रहने दे, प्रत्युत उसका जीवन सुखमय हो, ऐसे उपाय करे। अशोक भी यही करता है।

इस प्रकार अशोकने जो बातें पारलौकिक धर्मके लिये आवश्यक बताई हैं, वह जैनधर्ममें मुख्य स्थान रखती हैं। हां, इतनी बात ध्यान रखनेकी अवश्य है कि अशोकने अपने शासन-लेखोंमें लौकिक और पारिलौकिक धर्ममें ब्राह्मण-श्रमणका आदर करना, दान देना, जीवोंकी रक्षा करना, कृत पापोंसे निवृत होनेके लिये आत्म परीक्षा करना और व्रत उपवास करना मुख्य हैं। इन्हीं पांच बातोंके अन्तर्गत अवशेष बातें आजाती हैं। और इन्हीं पांच बातोंका

१–अध० पृ० ३२४–तृतीय स्तंभलेख। २–अध० पृ० ३३९। ३–भाअशो० पृ० १२६–१२७।

उपदेश जैन शास्त्रोंमें मिलता है। सब जीवोंपर दया करना, दान देना, गुरुओंकी विनय और उनकी मूर्ति बनाकर पूजा करना, कल्पापोंके लिये प्रतिक्रमण करना और पर्व दिनोंमें उपवास करना एक श्रावकके लिये आवश्यक कर्म है।[1]

अशोक यह भी कहते हैं कि धर्मको चाहे सर्व रूपेण पालन करो और चाहे एक देशरूप, परन्तु करो अवश्य ![2] और वह यह भी बतला देते हैं कि सर्वरूपेण धर्मका पालन करना महाकठिन है।[3] यहांपर उन्होंने स्पष्टतः जैन शास्त्रोंमें बताये हुये धर्मके दो भेद—(१) अनगार धर्म और (२) सागार धर्मका उल्लेख किया है। अनगार—श्रमण धर्ममें धार्मिक नियमोंका पूर्ण पालन करना पड़ता है; किन्तु सागार धर्ममें वही बातें एक देश—आंशिक रूपमें पाली जातीं हैं।[4] इस अवस्थामें अशोकका पारलौकिक धर्मके लिये जो बातें आवश्यक बताई हैं, उनसे भी जैनोंको कुछ विरोध नहीं है; क्योंकि वह सम्यक्त्वमें बाधक नहीं हैं।[5] तिसपर जैन शास्त्रोंमें उनका विधान हुआ मिलता है। अशोक लौकिक धर्मके ही लिये कहते हैं कि:—

(१) माता—पिताकी सेवा करना चाहिये। विद्यार्थीको आचा-

१—कल्पसूत्र पृ० ३२—जराएसो० भा० ९ पृ० १७२ फुटनोट १। २—अध० पृ० १०९—सप्तम शिला०। ३—अध० पृ० २२०—शि० ११। ४—अष्टपाहुड पृ० ९४ व ९९।

५—द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः॥
सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्व हानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥"

योंकी सेवा करना चाहिये और अपने जाति भाइयोंके प्रति उचित बर्ताव करना चाहिये।'[1] (ब्रह्मगिरिका द्वि० शि०, अघ० पृ० ९६)

(२) मनुष्य व पशु चिकित्साका प्रबन्ध करना चाहिये। फूल फल जहां न हों, वहां भिजवाना चाहिये और मार्गोंमें पशुओं व मनुष्योंकि आरामके लिये वृक्ष लगवाना व कुँयें खुदवाना चाहिए।[2]

(३) बन्धुओंका आदर और वृद्धोंकी सेवा करनी चाहिये। (चतुर्थ शि०) वृद्धोंके दर्शन करना और उन्हें सुवर्णदान देना चाहिये। (अष्टम शि०)

(४) दास और सेवकोंके प्रति उचित व्यवहार और गुरुओंका आदर करना चाहिये। (नवम शि०)

(५) और अनाथ एवं दुखियोंके प्रति दया करना चाहिये। (सप्तम स्तम्भ लेख)

इन लौकिक कार्योंको अशोक महत्वकी दृष्टिसे नहीं देखते थे। वह साफ लिखते हैं कि 'यह उपकार कुछ भी नहीं है। पहिलेके राजाओंने और मैंने भी विविध प्रकारके सुखोंसे लोगोंको सुखी किया है; किन्तु मैंने यह सुखकी व्यवस्था इसलिये की है कि लोग धर्मके अनुसार आचरण करें।'[3] अतः अशोकके निकट धर्मका मूल भाव पारलौकिक धर्मसे था। लौकिक धर्म सम्बन्धी कार्य मूल धर्मकी वृद्धिके लिये उनने नियत किये थे। जैनधर्ममें लौकिक

१—'तिण्हं दुप्पडि आरं समणाआवो तं जहा।
अमपिउणो भट्टिदायगस्स धम्मायरियस्स॥'

२—सोमदेवः—'माता-पित्रोश्च पूजकः'—श्री मण्डनगणि।

३—अघ० पृ० ३७६—सप्तम स्तम्भ लेख।

कार्योंको करना पारिलौकिक धर्ममें सहायक होनेके लिये बताया है। प्रवृत्ति भी निर्वृतिकी ओर ले जानेवाली है। अशोक भी इस मुख्य भेदके महत्वको स्पष्ट करके तद्रूप उपदेश देते हैं।

अशोकने जैनोंके पारिभाषिक शब्द व्यवहृत किए थे।

जिसप्रकार अशोककी धार्मिक शिक्षायें जैनधर्मके अनुकूल हैं, उसी प्रकार उनके शासन-लेखोंकी भाषामें भी अनेक बातें जैनधर्मकी द्योतक हैं। खास बात तो यह है कि उन्होंने अपने शासन-लेख प्राकृत भाषाओंमें लिखाये हैं; जैसे कि जैनोंके ग्रंथ इसी भाषामें लिखे गये हैं। अशोककी प्राकृत जैनोंकी अपभ्रंश प्राकृतसे मिलती जुलती है।[1] तिसपर उन्होंने जो निम्न शब्दोंका प्रयोग किया है, वह खास जैनोंके भावमें है और जैनधर्ममें वे शब्द पारिभाषिक रूप (Technical Term) में व्यवहृत हुये हैं; यथा:-

(१) श्रावक या उपासक-शब्दका प्रयोग रूपनाथके प्रथम लघु शिलालेख वैराट और सहसरामकी आवृतिमें हुआ है। जैन धर्ममें ये शब्द एक गृहस्थके द्योतक हैं।[2] बौद्ध धर्ममें श्रावक उस साधुको कहते हैं जो विहारोंमें रहते हैं।[3] अतः यह शब्द अशोकके जैनत्वका परिचायक है।

(२) प्राण-शब्द ब्रह्मगिरिके द्वितीय लघु शिलालेखमें प्रयुक्त हुआ है। जैनधर्ममें संसारी जीवके दश प्राण माने गये हैं

१-शाहबाजगढी और मन्सहराकी शिलाओंपर खुदी हुई अशोककी प्रशस्तियोंकी भाषा जैन अपभ्रंशके समान है। देखो 'प्राकृतलक्षण' by Dr. R. Hoernle, Calcutta, 1880. Introduction.
२-अष्टपाहुड़ पृ० ९९ व उद०। ३-भमबु० भूमिका, पृ० १२।

और उन्हींके अनुसार कमती बढ़ती रूपमें संसारी जीवोंके विविध भेद ही हुये हैं।[1]

(३) जीवशब्दका व्यवहार प्रथम शिलालेखमें हुआ है। जैनधर्ममें 'जीव' सात तत्वोंमें प्रथम तत्व माना गया है।[2]

(४) श्रमण शब्द तृतीय व अन्य शिलालेखोंमें मिलता है। जैन साधु और जैन धर्म क्रमशः श्रमण और श्रमणधर्म नामसे परिचित है।[3]

(५) प्राण अनारम्भ शब्द तृतीय शिलालेखमें है। जैनोंमें यह शब्द प्रतिरोध रूपमें "पाणारम्भ" रूपमें मिलता है।[4]

(६) भूत शब्द चतुर्थ शिलालेखमें प्रयुक्त हुआ है। जैन शास्त्रोंमें जीवके साथ इस शब्दका भी व्यवहार हुआ मिलता है।[5]

१–पंचवि इन्दियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दसपाणा ॥५७॥ प्रवचनसार।

२–तत्वार्थाधिगम सूत्र १।४–५०६।

३–मूलाचार पृ० ३१८ व कल्पसूत्र पृ० ८३।

४–सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि अलीयवयणं च।
सव्वमदत्तादाणं मेहुण परिग्गहं चेव ॥ ४१ ॥ मूला०

५–Js. Pt I & II Intro. और मूला० पृ० २०४ यथाः–अशोकने जीव, पाण, भूत और जात शब्दोंका जो व्यवहार किया है वह 'आचाराङ्गसूत्र' (S. B. E. P. 36 XXII) के इस वाक्य अर्थात् पाणा–भूया–जीवा–सत्ता के बिल्कुल समान है। बेशक अशोकने इनका व्यवहार एक साथ नहीं किया है; किन्तु इनने प्राण व भूत (अनारंभो प्राणानां अविहिंसा भूतानां) का व्यवहार साथ २ करके स्पष्टतः इन शब्दोंके पारस्परिक भेदको स्वीकार किया है; जैसे कि जैन प्रकट करते हैं। (भाअशो० पृ० १२७) दि० जैनोंके प्रतिक्रमणमें भी "पाणभूद जीवसत्ताणं" रूपमें इसका उल्लेख है। (श्रावक प्रतिक्रमण पृष्ठ ५)

(७) कल्प शब्दका व्यवहार पंचम शिलालेखमें हुआ है। जैनोंकी कालगणनामें कल्पकाल माना गया है।[1]

(८) एक देश शब्द सप्तम शिलालेखमें मिलता है। जैन-धर्ममें भी आंशिक धर्मको एक देश धर्म बताया गया है।[2]

(९) सम्बोधिका प्रयोग अष्टम शिलालेखमें है। जैनशास्त्रमें बोधि सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिको कहा गया है।[3]

(१०) वचन गुप्तिका उपदेश बारहवें शिलालेखमें है कि अपने धर्मसे भिन्न धर्मोंके प्रति वचन गुप्तिका अभ्यास करो, जिससे परस्पर ऐक्यकी बढ़वारी हो। गुप्ति जैनधर्ममें तीन मानी गई हैं—(१) मनगुप्ति (२) वचनगुप्ति और (३) कायगुप्ति।[4] अन्यत्र यह भेद नहीं मिलता है।

(११) समवायका व्यवहार भी बारहवें शिलालेखमें है। जैन द्वादशांगमें एक अंग ग्रन्थका नाम 'समवायांग' है।[5]

(१२) वेदनीय शब्द त्रयोदश शिलालेखमें अशोकने दुःख प्रकाशके लिये प्रयुक्त किया है। जैनधर्ममें भी वेदनीय शब्द दुःख सुखका द्योतक माना गया है और आठ कर्मोंमें एक कर्मका नाम है।[6]

"जो समो सव्वभूदेसु तसेसु थावरेसुय।
जस्स रागो य दोसो य वियडिं ण जणेंति दु ॥५२६॥ मूला०।
१—" पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो।
पावइ तिहुवणसारं बोही जिणसासणे जीवो ॥७८॥"—अष्ट० पृ० २१५
२—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ४१७।
३—'सेय भवभयमहणी बोधी।'—मूला० पृ० २७७
४—मूलाचार पृ० १३५ व तत्वार्थ० पृ० १७५–१७६। ५—तत्वार्थ-धिगमसूत्र, पृ० ३०। ६—तत्वार्थधिगमसूत्र, पृ० १६०।

(१३) अपासिनवे (अपास्रव) शब्दका प्रयोग द्वितीय स्तंभ लेखमें पापरूपमें हुआ है। जैनधर्ममें आस्रव शुभ और अशुभ ही माना गया है। अशुभ अथवा अप आस्रव पाप कहा गया है।[1]

(१४) आसिनव जो 'आस्रव' शब्दका अपभ्रंश है तृतीय स्तम्भ लेखमें व्यवहृत हुआ है। जैन शब्द 'अण्हय', और यह दोनों एक ही धातुसे बने हैं।[2] यह और आस्रव शब्द समानवाची हैं। आस्रव शब्द बौद्धों द्वारा भी व्यवहृत हुआ है; किन्तु अशोकने इस शब्दका व्यवहार उनके भावमें नहीं किया है। खास बात यहां दृष्टव्य यह है कि इस स्तंभलेखमें आस्रव (आसिनव) के साथ२ अशोकने पापका भी उल्लेख किया है। डॉ०भांडारकर कहते हैं कि बौद्ध दर्शनमें पाप और आस्रव, ऐसे दो भेद नहीं हैं। उनके निकट पाप शब्द आस्रवका द्योतक है। किन्तु जैनधर्ममें पाप अलग माने गये हैं और आस्रव उनसे भिन्न बताये गये हैं। कषायोंके वश होकर पाप किये जाते और आस्रवका संचय होता है। क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चार कषाय हैं। अशोक क्रोध और मानका उल्लेख पापास्रवके कारण रूपमें करता है। अशोककी ईर्ष्या जैनोंके द्वेष या ईर्ष्याके समान हैं। चंडता और निष्ठुरता जैनोंकी हिंसाके अन्तर्गत समिष्ट होते हैं।[3] यह पाप और आस्रवके कारण है। इस प्रकार अशोक यहां भी बौद्ध या किसी अन्य धर्मके सिद्धांतों और पारिभाषिक शब्दोंका व्यवहार न करके जैनोंके सिद्धान्त और उनके पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग कर रहा है।

१-तत्वार्थाधिगमसूत्र, पृ० १२४। २-इण्डियन एण्टीक्वेरी भा० २ पृ० २५०। ३-भाअशो० पृ० १२६-१२७।

(१५) द्विपदचतुष्पदेषु पक्षिवारिचरेषु-(दुपदचतुपदेसु पखिवालिचलेसु) वाक्य द्वितीय स्तम्भ लेखमें मिलता है। यहां पशुओंके भेद गिनाये हैं; जिनपर अशोकने अनुग्रह किया था और यह जैनोंके तीन प्रकारके बताये हुये तिर्यंचोंके समान हैं। जैनोंके पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीव (१) जलचर (२) थलचर और (३) नभचर इस तरह तीन प्रकारके हैं।

(१६) जीवनिकाय शब्द–पंचम स्तम्भ लेखमें आया है और इस रूपमें इसका व्यवहार जैनोंके शास्त्रोंमें हुआ मिलता है।[1]

(१७) प्रोषध शब्द पंचम स्तम्भलेखमें है और जैनोंमें यह प्रोषधोपवास खास तौरपर प्रतिपादित है।[2]

(१८) धर्मवृद्धि शब्द षष्टम स्तम्भलेखमें प्रयुक्त है। जैन साधुओं द्वारा इस शब्दका विशेष प्रयोग होता है और जैनोंको धर्मवृद्धिका विशेष ध्यान रहता है।[3]

इस प्रकार जैनोंके उपरोक्त खास शब्दोंका व्यवहार करनेसे भी अशोकका जैन होना प्रमाणित है। तिस-पर उनके शासन लेखोंसे जिन धार्मिक सिद्धांन्तोंमें उनका विश्वास प्रगट होता है, वह भी जैनधर्मके अनुकूल है। जैसे:—

अशोकके दार्शनिक सिद्धांत जैनमतानुसार हैं।

(१) अशोक प्राणियोंके अच्छे बुरे कामोंके अनुसार सुख-दुःखरूप फल मिलना लिखते हैं।[4] वह पापास्रवको एक मात्र

१–"ईर्यापथे प्रचलताद्य मया प्रमादा
देकेन्द्रियप्रमुख जीवनिकाय बाधा।" इत्यादि।

२–रत्नकरण्डश्रावकाचार ४–१६ व १मू०। ३–'वीर' वर्ष ५ पृ० ३९२।
४–चतुर्थ, नवम एवं त्रयोदश शिलालेख–जमैसो० मा० १७ पृ० २६९।

विपत्ति बतलाते हैं।[1] जैन दृष्टिसे यह बिल्कुल ठीक है। आस्रवका नाश होनेपर ही जीव परमसुख पा सक्ता है।[2] अशोकने आस्रव शब्दको जैन भावमें प्रयुक्त किया है, यह लिखा जाचुका है। अतएव अशोकका श्रद्धान ठीक जैनोंके अनुसार है कि प्राणियोंका संसार स्वयं उनके अच्छे बुरे कर्मोंपर निर्भर है। कोई सर्वशक्तिशाली ईश्वर उनको सुखी बनानेवाला नहीं है। कर्मवर्गणाओंका आगमन (आस्रव) रोक दिया जाय, तो आत्मा सुखी होजाय।

(२) आत्माका अमरपना यद्यपि अशोकने स्पष्टतः स्वीकार नहीं किया है; किन्तु उन्होंने परभवमें आत्माको अनन्त सुखका उपभोग करने योग्य लिखा है। इससे स्पष्ट है कि वह आत्माको अमर–अविनाशी मानते हैं[3] और यह जैन मान्यताके अनुकूल है।[4]

(३) लोकके विषयमें भी अशोकका विश्वास जैनोंके अनुकूल प्रतीत होता है। वह इहलोक और परलोकका भेद स्थापित करके आत्माके साथ२ लोकका सनातन रूप स्पष्ट कर देते हैं। उनके निकट लोक अनादि है; जिसमें जीवात्मा अनंत कालतक अनंत सुखका उपभोग कर सक्ता है। किंतु अशोक 'कल्प-काल'[6] का उल्लेख करके लोक-व्यवहारमें जो यहां परिवर्तन होते रहते हैं, उनका भी संकेत कर रहे हैं। जैन कहते हैं कि यद्यपि यह लोक अनादि निधन है, पर भरतखण्डमें इसमें उलटफेर होती रहती है; जिसके

१–दशम शिलालेख–अध० पृ० २२०। २–तत्वार्थ० अ० ६–१०। ३–जमीसो० भा० १७ पृ० २७०। ४–एको मे सासदो अप्पा णाणदंसण लक्खणो। सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोग लक्खणा॥८॥–कुन्दकुन्दाचार्यः। ५–अध० पृ० २६८–त्रयोदस शि०। ६–अध० पृ० १४८ व १६३–चतुर्थ व पंचम शिला०।

कारण इसका आदि और अंत है। एक परिवर्तन अथवा उलटफेर 'कल्प' कहलाता है।[1]

(४) धर्मके सिद्धांतमें अशोक जीवोंकी रक्षा अथवा अहिंसाको मुख्य मानते हैं। उनके निकट अहिंसा ही धर्म है। जैन शास्त्रोंमें भी धर्म दयामई अथवा अहिंसामई निर्दिष्ट किया गया है। उसमें धर्मके नामपर यज्ञमें भी हिंसा करनेकी मनाई है।[2] अशोकने भी यही किया था।

(५) धर्मका पालन प्रत्येक प्राणी कर सक्ता है। जैनधर्मकी शरणमें आकर क्षुद्रसे क्षुद्र जीव अपना आत्मकल्याण कर सक्ता है।[3] ठीक इस उदारवृत्तका अनुसरण अशोकने किया था। उनका प्रतिघोष था कि धर्मविषयक उद्योगके फलको केवल बड़े ही लोग पासकें ऐसी बात नहीं है; क्योंकि छोटे लोग भी उद्योग करें तो महान् स्वर्गका सुख पासके हैं।[4] इस प्रकार उन्होंने धर्माराधनकी स्वतंत्रता प्रत्येक प्राणीके लिये कर दी थी और इस बातका प्रयत्न किया था कि हरकोई धर्मका अभ्यास करे। उनका यह कार्य भी यज्ञ-हिंसाके प्रतिरोधकी तरह वैदिक मान्यताका लोप था। ब्राह्मण समुदायका श्रद्धान और व्यवहार था कि धार्मिक कार्य करनेका पूर्ण अधिकार उन्हींको प्राप्त है। अशोकने भगवान महावीरके उपदेशके अनुसार प्रत्येक प्राणीको आत्म-स्वातंत्र्य और पुण्यसंचय

१–धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोपि ये परित्यक्तुम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुंचन्तु॥७५–पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।
२–मूलाचार पृ० १०८ व उसू० । ३–वीर वर्ष ५ पृ० २३०–२३४।
४–रूपनाथ और सहसरामके शिलालेख; मस्कीका शि० व ब्रह्मगिरीका शिला०।

करनेका अधिकार देकर ब्राह्मणोंकी इस मान्यताको नष्टप्राय कर दिया था। उपरोक्त पांचों बातोंका श्रद्धान रखने और बहुत प्रयत्न करनेसे उनने यहां सत्य धर्मका सिक्का जमा दिया था। उनसे कई सौ वर्षों पहलेसे जो मनुष्य (अर्थात् ब्राह्मण) यहां सच्चे माने जाते थे, वे अपने देवताओं सहित झूठे सिद्ध कर दिये गये; यह वह स्वयं बतलाते हैं।[१]

(६) धर्मका पालन पूर्ण और आंशिकरूपमें किया जाता है। जैनशास्त्रोंमें यह भेद निर्दिष्ट है। अशोक भी एक देश अथवा पूर्णरूपमें धर्मका पालन करनेकी सलाह देते हैं।[२] तथापि वह सावधानतापूर्वक कह रहे हैं कि आश्रवके फंदेसे तबही छूटा (अपरिस्रवे) जासक्ता है, जब सब परित्याग करके बड़ा पराक्रम किया जाय![३] यह बड़ा पराक्रम त्यागके परमोच्चपद श्रमणके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[४] जैनशास्त्रोंका ठीक यही उपदेश है।

(७) अशोकके निकट देवताओंकी मान्यता भी जैनोंके समान थी। वह कहते हैं कि देवताओंका सम्मिश्रण यहांके लोगोंके साथ बन्द होरहा था; उसको उन्होंने फिर जीवित कर दिया।[५] जैनशास्त्रोंका कथन है, जैसे कि सम्राट् चन्द्रगुप्तके सोलह स्वप्नोंमेंसे एक स्वप्नके फलरूप बतलाया गया है कि अब इस पंचमकालमें देवता लोग यहां नहीं आयेंगे;[६] ठीक यही बात अशोक कर रहे हैं।

१–अध० पृ० ७४–७५, रूपनाथका प्रथम लघु० शिला०। २–अध० पृ० १८९ सप्तमशिला०। ३–अध० पृ० २२० दशमशिला०। ४–जैसू०, भा० २ पृ० ५७ व अष्टपाहुड़ पृ० ३८–४० व ९९। ५–रूपनाथक प्रथम लघु शला०–जाएसो० सन् १९११ पृ० ११३४। ६–जैहि० भा० १३ पृ० २२६।

उन्होंने इस अभावकी पूर्तिके सदप्रयत्न किये और लोगोंको देव-योनिके अस्तित्वका पता बतानेका प्रयत्न किया। देवतालोग स्वयं तो आ नहीं सक्ते थे। अतएव अशोकने उनके प्रतिबिम्ब लोगोंको दिखाये।[1] विमान दिखलाकर वैमानिक देवताओंका दिव्यरूप लोगोंको दर्शा दिया! इन देवताओंके इन्द्रका ऐरावत हाथी जैन लोगोंमें बहुप्रसिद्ध है। जब तीर्थंकर भगवानका जन्म होता है तब इन्द्र इसी हाथीपर चढ़कर आता है।[2] आजकल भी जैन रथयात्राओंमें काठ वगैरहके बने हुए ऐसे ही हाथी निकाले जाते हैं। अशोकने भी ऐसे ही हाथी जलूसमें दिखाये थे।[3] 'अग्नि-स्कंध' दिखलाकर अशोकने ज्योतिषी देवोंके अस्तित्वका विश्वास लोगोंको कराया प्रतीत है; क्योंकि इन देवोंका शरीर अग्निके समान ज्योतिर्मय होता है।[4] शेषमें भवनवासी देव रह गये। अशोकने इनके दर्शन भी लोगोंको अन्य दिव्यरूप दिखलाकर करा दिये थे। सारांशतः अशोककी यह मान्यता भी जैनोंकी देव योनिके वर्णनसे ही समानता रखती है। इससे यह भी पता चलता है कि अशोकको 'मूर्तिपूजा' से परहेज नहीं था। जैनोंके यहां तीर्थंकर भगवानकी मूर्तियां स्थापित करके पूजा करनेका रिवाज बहुप्राचीन है।

(८) अशोक सब धार्मिक कार्योंका फल स्वर्ग-सुखका मिलना बतलाता है। उसने मोक्ष अथवा निर्वाणका नाम उल्लेख भी नहीं किया है। बौद्ध दर्शनमें 'निर्वाण' ही जीवन अथवा अर्हत् पदका अंतिम फल लिखा गया है; किन्तु अशोक उसका कहीं नाम भी

१–अध० पृ० १४६–पंचमशिला०। २–हरि० पृ० ११। ३–अध० पृ० १४७। ४–तत्त्वार्थ० ४।१।

नहीं लेते हैं।[1] इसी तरह जैन शास्त्रोंमें मोक्ष ही मनुष्यका अंतिम ध्येय बताया गया है; पर अशोक उसका भी उल्लेख नहीं करते हैं। किंतु उनका मोक्षके विषयमें कुछ भी न कहना जैन दृष्टिसे ठीक है; क्योंकि वह जानते थे कि इस जमानेमें कोई भी यहांसे उस परम पदको नहीं पासक्ता है और वह यहांके लोगोंके लिये धर्माराधन करनेका उपदेश देरहे हैं। वह कैसे उन बातोंका उपदेश दें अथवा उल्लेख करें जिसको यहांके मनुष्य इस कालमें पाही नहीं सक्ते हैं। जैन शास्त्र स्पष्ट कहते हैं कि पंचमकालमें (वर्तमान समयमें) कोई भी मनुष्य—चाहे वह श्रावक हो अथवा मुनि मोक्ष लाभ नहीं कर सक्ता। वह स्वर्गोंके सुखोंको पासक्ता है।[2] फिर एक यह बात भी विचारणीय है कि अशोक केवल धर्माराधना करनेपर जोर देरहा है और यह कार्य शुभरूप तथापि पुण्य प्रदायक है। जैन शास्त्रानुसार इस शुभ कार्यका फल स्वर्ग सुख है।[3] इसी कारण अशोकने लोगोंको स्वर्ग-प्राप्ति करनेकी ओर आकृष्ट किया है। उसके बताये हुए धर्म कार्योंसे सिवाय स्वर्ग सुखके और कुछ मिल ही नहीं सक्ता था।

(९) कृत अपराधको अशोक क्षमा कर देते थे, केवल इस शर्तपर कि अपराधी स्वयं उपवास व दान करे अथवा उसके संबंधी वैसा करे।[4] हम देख चुके हैं कि जैन शास्त्रोंमें प्रायश्चित्तको विशेष महत्व दिया हुआ है। गर्हा, निन्दा, आलोचना और प्रतिक्रमण

१—जमीसो० भा० १७ पृ० २७१। २—अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं। लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआणिव्वुदि जंति ॥७७॥—अष्ट० पृ० ३३८ ३—धम्मेण परिणदप्पा, अप्पा जदि सुद्धसम्पयोग जुदो। पावदि णिव्वाणसुहं, सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥ ११ ॥—प्रवचनसार टीका भा० १ पृ० १९। ४—स्तम्भ लेख ७ व जमेसो० भा० १७ पृ० २७०।

करके कोई भी प्राणी कृतपापके दोषसे विमुक्त होता है। उसे कायोत्सर्ग और उपवास विशेष रूपमें करने पड़ते हैं। जिनेन्द्र भगवानकी पूजन व दान भी यथाशक्ति करना होता है।[1] अतएव कृत पापके दोषसे छूटनेके लिये अशोकने जो नियम निर्धारित किया था, वह जैनोंके अनुसार है!

इस प्रकार स्वयं अशोकके शासन–लेखों तथापि पूर्वोल्लिखित स्वाधीन साक्षीसे यह स्पष्ट है कि अशोकका सम्बन्ध अवश्य जैन धर्मसे था। हमारे विचारसे वह प्रारम्भमें एक श्रावक (जैन गृहस्थ) था और अपने जीवनके अंतिम समय तक वह भाव अपेक्षा जैन था; यद्यपि प्रगटमें उसने उदारवृत्ति ग्रहण करली थी। ब्राह्मणों, आजीविकों और बौद्धोंका भी वह समान रीतिसे आदर करने लगा था।[2] मालूम होता है कि बौद्ध धर्मकी ओर वह कुछ अधिक सदय हुआ था। यद्यपि उसके शासन लेखोंमें ऐसी कोई शिक्षा नहीं है जो खास बौद्धोंकी हो।[3] अकबरके समान "दीन इलाही" की तरह यद्यपि अशोकने कोई स्वतंत्र मत नहीं चलाया था, तौभी उसकी अंतिम धार्मिक प्रवृत्ति अकबरके समान थी।[4] जैन अकबरको जैनधर्मानुयायी हुआ प्रकट करते हैं।[5] यह ठीक है कि अशोकके विषयमें जैन शास्त्रोंमें सामान्य वर्णन है; किन्तु इससे

१–देखो प्रायश्चित्त संग्रह–माणिकचन्द ग्रन्थमाला। २–अघ० पृ० ३६१–षष्ठम स्तम्भ लेख। ३–मैबु० पृ० ११२; सेनार्ट; इंऐ० भा० २० पृ० २६० जमीसो० भा० १७ पृ० २७१–२७५। ४–अशोक साफ लिखता है कि 'मेरे मत' में अथवा 'मेरा उपदेश है (१–२ कलिंग शिलालेख व षष्ठम व सप्तम स्तम्भ लेख) अतः उनका निजी मत किसी सम्प्रदाय विशेषसे अन्तमें अवलंबित नहीं था। ५–ससू० पृ० १९७।

हमारी मान्यतामें कुछ बाधा नहीं आती; अशोकका नामोल्लेख तक जैन शास्त्रोंमें न होता तो भी कोई हर्ज ही नहीं था। क्योंकि हम जानते हैं कि पहिलेके जैन लेखकोंने इतिहासकी ओर विशेष रीतिसे ध्यान नहीं दिया था। यही कारण है कि खारवेल महामेघवाहन जैसे धर्मप्रभावक जैन सम्राट्का नाम निशान तक जैन शास्त्रोंमें नहीं मिलता। अतः अशोकपर जैनधर्मका विशेष प्रभाव जन्मसे पड़ा मानना और वह एक समय श्रावक थे, यह प्रगट करना कुछ अनुचित नहीं है। उनके शासनलेखोंके स्तम्भ आदिपर जैन चिह्न मिलते हैं। सिंह और हाथीके चिह्न जैनोंके निकट विशेष मान्य हैं।[1] अशोकके स्तंभोंपर सिंहकी मूर्ति बनी हुई मिलती है और वह उस ढंगपर है, जैसे कि अन्य जैन स्तम्भोंमें मिलती है। यह भी उनके जैनत्वका द्योतक है।

अशोकको बौद्ध मानना ठीक नहीं है।

किंतु हमारी यह मान्यता आजकलके अधिकांश विद्वानोंके मतके विरुद्ध है। आजकल प्रायः यह सर्वमान्य है कि अशोक अपने राज्यके नवें वर्षसे बौद्ध उपासक हो गया था।[2] किंतु यह मत पहिलेसे

१-ये दोनों क्रमशः अन्तिम और दूसरे तीर्थङ्करोंके चिन्ह हैं और इनकी मान्यता जैनोंमें विशेष है। (वीर० भा० ३ पृ० ४६६-४६८) मि० टॉमसने भी जैन चिन्होंका महत्व स्वीकार किया है और कुहाऊंके जैन स्तंभपर सिंहकी मूर्ति और उसकी बनावट अशोकके स्तम्भों जैसी बताई है। (जराएसो० भा० ९ पृ० १६१ व १८८ फुटनोट नं० २) तक्षशिलाके जैन स्तूपोंके पाससे जो स्तंभ निकले हैं उनपर भी सिंह है। (तक्ष० पृ० ७३) श्रवणबेलगोलके एक शिलालेखके प्रारम्भमें हाथीका चिन्ह है। २-इंऐ० भा० २० पृ० २३०।

ही अशोकके बौद्धत्वको वास्तविक मानकर विद्वानोंने स्वीकार किया है, वरन् ऐसा कोई स्पष्ट कारण नहीं है कि उन्हें बौद्ध माना जावे। यह मत नया भी नहीं है। डॉ० फ्लीट[1], मि० मेक-फैल,[2] मि० मोनहन[3] और मि० हेरसने[4] अशोकको बौद्ध धर्मानुयायी प्रगट नहीं किया था। डॉ० कर्न[5] और डॉ० सेनार्ट[6] व इल्श सा० भी अशोकके शासन लेखोंमें कोई बात खास बौद्धत्वकी परिचायक नहीं देखते हैं, किंतु वह बौद्धोंके सिंहलीय ग्रंथोंके आधारपर अशोकको बौद्ध हुआ मानते हैं। और उनकी यह मान्यता विशेष महत्वशाली नहीं है क्योंकि बौद्धोंके सिंहलीय अथवा ४ थी से ६ ठी श० तकके अन्य ग्रन्थ काल्पनिक और अविश्वसनीय प्रमाणित हुये हैं।[8] तथापि रूपनाथके प्रथम लघु शिलालेखके आधारसे जो अशोकको बौद्ध उपासक हुआ माना जाता है, वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि बौद्ध उपासकके लिये श्रावक शब्द व्यवहृत नहीं होसक्ता है जैसे कि इस लेखमें व्यवहृत हुआ है।[9] बौद्धोंके निकट श्रावक शब्द विहारोंमें रहनेवाले भिक्षुओंका परिचायक है[10] और उपरोक्त लेख एवं अन्य लेखोंसे प्रकट है कि अशोक उस-समय एक उपासक थे।[11]

१–जराएसो, १९०८, पृ० ४९१–४९२। २–मैअशो० पृ० ४८। ३–अर्ली हिस्ट्री आफ बंगाल पृ० २१४। ४–जमीसो० भा० १७ पृ० २७२–२७६। ५–मैबु० पृ० ११२। ६–इंऐ० भा० २० पृ० २६०। ७–C. J. J. I. p. XLIX जमीसो० भा० १७ पृ० २७१। ८–अशो० पृ० १९ व २३; भाअशो० पृ० ५६ और मैबु० पृ० ११०। ९–अध० पृ० ६९। १०–ममबु० भूमिका पृ० १२। ११–अध० पृ० ७१–८०...।

मस्कीके शिलालेखमें उनका उल्लेख 'एक बुद्ध-शाक्य' के नामसे अवश्य हुआ है; किंतु यह उनके ज्ञानप्राप्तिका द्योतक ही माना गया है।[1] इससे यह प्रकट नहीं होता कि अशोकने बौद्ध-धर्मकी दीक्षा ली थी। हां, यह स्पष्ट है कि वह श्रावक अथवा उपासक हुआ था, जैसे कि वह स्वयं कहता है। इससे भाव व्रती श्रावक होनेके हैं। किंतु अगाड़ी अशोक कहता है कि करीब एक वर्षसे कुछ अधिक समय हुआ कि जबसे मैं संघमें आया हूं तबसे मैंने अच्छी तरह उद्योग किया है।[2] बौद्धग्रन्थोंमें भी अशोकके बौद्धसंघमें आनेकी इस घटनाका उल्लेख है।[3] बुल्हर, स्मिथ और टॉमस सा० ने इस परसे अशोकको बौद्धसंघमें सम्मिलित हुआ ही मान लिया था।[4] डॉ० भाण्डारकर अशोकको बौद्ध भिक्षु हुआ नहीं मानते; बल्कि कहते हैं कि संघमें अशोक एक 'भिक्षु-गतिक'के रूपमें अवश्य रहा था।[5] किंतु मि० हेरस कहते हैं कि वह बौद्धसंघमें सम्मिलित नहीं हुआ था।[6] अशोक बौद्ध संघमें गया अवश्य था, और भिक्षुजीवनकी तपस्याका उसपर प्रभाव भी पड़ा था; किंतु इतनेपर भी उसने बौद्धधर्मकी दीक्षा नहीं ली थी। इस घटनाके बाद अशोकने दो शासनलेख प्रगट किये थे।

एक रूपनाथवाला शिलालेख है जो साधारण जनताको लक्ष्य करके लिखा गया है और दूसरा कलकत्ता वैराटवाला शिलालेख है, जिसको उन्होंने बौद्धसंघको लक्ष्य करके लिखा है। रूपनाथवाला

१-जमीसो० भा० १७ पृ० २७३। २-अध० पृ० ७३-७४। ३-महावंश (कोलम्बो) पृ० २३। ४-जमीसो० भा० १७ पृ० २७४। ५-माअशो० पृ० ७९-८०। ६-जमीसो० भा० १७ पृ० २७२-२७६।

शिलालेख यद्यपि बौद्धसंघमें हो आनेके बाद लिखा गया है; परन्तु उसमें कोई भी ऐसी शिक्षा नहीं है जो बौद्ध कही जासके। दूसरे वैराटवाले शिलालेखके अनुसार तो अशोकको बौद्ध हुआ ही प्रकट किया जाता है। किन्तु वह सर्व प्रजाको लक्ष्य करके नहीं लिखा गया है। यदि वस्तुतः अशोक बौद्ध हुये थे तो वह अपने इस श्रद्धानका प्रतिघोष सर्वसधारणमें करते और उनके लेखमें बौद्धशिक्षाका होना लाजमी था। फिर उनके बौद्ध हो जानेपर यह भी संभव नहीं था कि वह उन मतवालों—जैसे ब्राह्मणों, जैनों, आजिविक आदिका सत्कार कर सकें, जिनका बौद्धग्रन्थोंमें खासा विरोध किया गया है। वैराट शिलालेख केवल बौद्धसंघको लक्ष्य करके लिखा गया है और उसमें अशोक संघको अभिवादन करके जो यह कहते हैं कि 'हे भदन्तगण, आपको मालूम है कि बुद्ध धर्म और संघमें हमारी कितनी भक्ति और गौरव है' वह ठीक है। यह एक सामान्य वाक्य है, इसमें किसी धार्मिक श्रद्धानको व्यक्त नहीं किया गया है।

अशोकके समान उदारमना राजाके लिये यह उचित है कि वह जब एक संप्रदायविशेषके संघमें अपने मतको मान्यता दिलाना चाहता है, तो वह शिष्टाचारके नाते उनका समुचित आदर करे और विश्वास दिलावे कि वह उनके मतके विरुद्ध नहीं है। अशोकने यही किया था। उनने यह नहीं कहा था कि हमें बौद्धधर्ममें विश्वास है और हम उसमें दीक्षित होते हैं। शिष्टाचारकी पूर्ति करके उनने संघको बौद्धधर्मके उन खास ग्रन्थोंके अध्ययन व प्रचार करनेका परामर्श दिया, जो उनके मतके अनुकूल थे; क्योंकि

अशोक यह अन्यत्र प्रगट कर चुके हैं कि वह प्रत्येक धर्मावलम्बीको अपने ही धर्मका पूर्ण आदर करना उचित समझते हैं। इसके अतिरिक्त उस लेखमें कोई भी ऐसी बात या उपदेश नहीं है जिससे बौद्धधर्मका प्रतिभास हो। तिसपर इस लेखके साथ ही उपरोक्त रूपनाथका शिलालेख लिखा गया था। इन दोनों शिलालेखोंमें पारस्परिक भेद भी दृष्टव्य है। रूपनाथ वाले शिलालेखमें कुछ भी बौद्धधर्म विषयक नहीं है; यह बात मि० हेरस भी प्रकट करते हैं।[१]

यह भी कहा जाता है कि अशोकने अपनी प्रथम धर्मयात्रामें कई बौद्ध तीर्थोंके दर्शन किये थे। किन्तु आठवें शिलालेखमें प्रयुक्त हुये 'सम्बोधि' शब्दसे जो म० बुद्धके 'ज्ञानप्राप्तिके स्थान' (बोधिवृक्ष) का मतलब लिया जाता है,[२] वह ठीक नहीं है।[३] यहां सम्बोधिसे भाव 'सम्यक्ज्ञान प्राप्त कर लेनेसे' है। जैन शास्त्रोंमें 'बोधि' का पालेना ही धर्माराधनमें मुख्य माना गया है।[४] अशोकके यह 'बोधिलाभ' उनके राज्याभिषेकके बाद दशवें वर्षमें हुआ था। हां, अपने राज्यप्राप्तिसे बीसवें वर्षमें अशोक अवश्य म० बुद्धके जन्मस्थान लुम्बिनिवनमें गये थे और वहां उनने पूजा-अर्चा की थी और उस ग्रामवासियोंसे कर लेना छोड़ दिया था। इसके पहिले अपने राज्यके १४वें वर्षमें वह बुद्धको नाकमन (कनकमुनि)

१-जमीसो० भा० १७ पृ० २७४-२७५। २--इऐ०, १९१३, पृ० १५९। ३-अध० पृ० १९७। ४-सेयं भवमय महणी बोधी गुणवित्थडा मगे लद्धा। जदि पडिदा ण हु सुलहा तह्मा ण खमं पमादो मे ॥७५८॥—मूलाचार०। ५-अध० पृ० ३८३-कम्मिन देई स्तम्भ लेख० १।

के स्तूपका पुनरुद्धार कर चुके थे ।[1] किन्तु उनका बौद्धधर्मके प्रति यह आदरभाव कुछ अनोखा नहीं था । वह स्पष्ट कहते हैं कि मैंने सब संप्रदायोंका विविध प्रकारसे सत्कार किया है ।[2] आजीविकोंके लिये उनने कई गुफायें बनवाई थीं ।[3] इसीप्रकार ब्राह्मण और निर्ग्रन्थों (जैनों) का भी उन्हें ध्यान था ।

'महावंश' में लिखा है कि अशोकने कई बौद्धविहार बनवाये थे;[4] तो उधर 'राजतरिङ्गणी' से प्रगट है कि उन्होंने काश्मीरमें कई ब्राह्मण मंदिर बनवाये थे ।[5] जैनोंकी भी मान्यता है कि अशोकने श्रवणबेलगोल आदि स्थानोंपर कई जैन मंदिर निर्मित कराये थे ।[6] अतएव अशोकको किसी सम्प्रदायविशेषका अनुयायी मान लेना कठिन है । उपरोक्त वर्णनको देखते हुये उनका बौद्ध होना अशक्य है । बौद्धमतको भी वह अन्य मतोंके समान आदरकी दृष्टिसे देखते थे और बौद्धसंघकी पवित्रता और अक्षुण्णताके इच्छुक थे । विदेशोंमें जो उन्होंने अपने धर्मका प्रचार किया था उससे भी उनके बौद्धत्वका कुछ भी पता नहीं चलता है । मिश्र, मेकोडोनिया प्रभृति देशोंमें अशोकके धर्मोपदेशक गये थे; किन्तु इन देशोंमें बौद्धोंके कुछ भी चिन्ह नहीं मिलते;[7] यद्यपि मिश्र, मध्यएशिया और यूनानमें एक समय दिगम्बर जैन मुनियोंके अस्तित्व एवं इन देशोंकी धार्मिक मान्यताओंमें जैनधर्मका प्रभाव

१–अध० पृ० ३८६–निग्लीव स्तम्भ लेख (बुद्ध कनक मुनि बौद्धमतके विरोधी देवदत्तकी संप्रदायमें विशेष मान्य हैं) २–अध० पृ० ३६०–षष्ठ स्तम्भ लेख । ३–अध० पृ० ४०१–तीन गुहा लेख । ४–महावंश पृ० २३ । ५–राजतरंगिणी भा० १ पृ० २० । ६–हिवि० भा० ७ पृ० १५० । ७–जमीसो० भा० १७ पृ० २७२ ।

प्रकट होता है। चीन आदि एशियावर्ती देशोंमें बौद्धधर्मका प्रचार अशोकके बाद हुआ था और इन देशोंमें अशोकने अपने कोई धर्मोपदेशक नहीं भेजे थे। अतः मध्यऐशिया, चीन आदि देशोंमें बौद्धधर्मके चिन्ह मिलनेके कारण यह नहीं कहा जासक्ता कि अशोकने उन देशोंमें बौद्धधर्मका प्रचार किया था। 'महावंश'में लिखा है कि अशोकका पिता ब्राह्मणोंका उपासक था;[2] किन्तु बौद्धग्रंथोंके इस उल्लेख मात्रसे बिन्दुसार और अशोकको ब्राह्मण मान लेना भी ठीक नहीं है; जब कि हम उनकी शिक्षाओंमें प्रगटतः ब्राह्मण मान्यताओंके विरुद्ध मतोंकी पुष्टि और उनकी अवहेलना हुई देखते हैं।

अशोकका श्रद्धान जैन तत्वोंपर अन्त समय तक था।

इस प्रकार मालूम यह होता है कि यद्यपि अशोक प्रारम्भमें अपने पितामह और पिताके समान जैनधर्मका मात्र श्रद्धानी था, किन्तु जैनधर्मके संसर्गसे उसका हृदय कोमल और दयालु होता जारहा था। यही कारण है कि कलिंग विजयके उपरांत वह श्रावक हो गया और अब यदि वह ब्राह्मण होता तो कदापि यज्ञोंका निषेध न करता। वह स्पष्ट कहता है कि उसे 'बोधी' की प्राप्ति हुई है; जो जैनधर्ममें आत्मकल्याणमें मुख्य मानी गई है। यद्यपि अशोकने अपने शेष जीवनमें उदारवृत्ति ग्रहण कर ली थी और समान भावसे वह सब सम्प्रदायोंका आदर और विनय करने लगा था; किन्तु उसकी शिक्षाओंमें ओरसे छोर तक जैनसिद्धांतोंका समावेश और उनका प्रचार किया हुआ मिलता है। उनका सतम स्तम्भ

१-मया० पृ० १८६-२०२। २-महावंश पृ० १५।

लेख, जो उनके अंतिम जीवनमें दिखा गया था, इस व्यवस्थाका पुष्ट प्रमाण है।[1]

इस लेखमें अशोकने धर्म और ध्यानके मध्य जो भेद प्रगट किया है, वह जैनधर्मके अनुकूल है। इसी लेखमें वह कह चुके हैं कि 'धर्म दया, दान, सत्य, शौच, मृदुता और साधुतामें है।' इन धर्म नियमोंसे वह धर्मकी वृद्धि हुई मानते हैं; किन्तु ध्यानको वह विशेष महत्व देते हैं। ध्यानकी बदौलत मनुष्योंमें धर्मकी वृद्धि, प्राणियोंकी अहिंसा और यज्ञोंमें जीवोंका अनालंभ बढ़ा, उन्होंने प्रगट किया है। जैनधर्ममें दया, दान, सत्य आदिकी गणना दश धर्मोंमें की गई है और ध्यानके चार भेदोंमें एक धर्मध्यान बताया गया है।[2] यह धर्मध्यान शुभोपयोगरूप है, जो पुण्य और स्वर्गसुखका कारण है।[3] श्रावकको ध्यान करनेकी आज्ञा जिन शास्त्रमें मौजूद है।[4]

धर्मध्यान चार प्रकारका है अर्थात् (१) आज्ञाविचय, (२) अपायविचय, (३) विपाकविचय और (४) संस्थान विचयें। इनमें

१–अध० पृ० ३६२। २–धम्मं सुक्कं च दुवे पसत्थज्झाणाणि णेयाणि ॥ ३९४ ॥ मूला० भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं। असुहं च अट्टरुद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥ ७६ ॥—अष्ट० पृ० २१४। ३—धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसम्पयोग जुदो। पावदि णिव्वाण सुहं, सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥ ११ ॥—प्रवचनसार। उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि। असुहो वा तध पावं, तेसिमभावे ण चपमत्थि ॥ ६७ ॥—प्रवचनसार। ४—गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंप। तं जाणे झाइज्जइ सावय ! दुक्खक्खयट्ठाए ॥ ८६ ॥ —अष्ट० पृ० ३४४। ५–सव्वगेण मणं णिहुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झाहू। आणापायविवाय विवओ संठाण विचयं च ॥ ३९८ ॥–मूलाचार।

अपायविचय धर्मध्यानके आराधकके लिये आत्म–कल्याणको प्राप्त करनेवाले उपायोंका ध्यान करना अथवा जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंका नाश और उनमें धर्मकी वृद्धि कैसे हो, ऐसा विचार करना आवश्यक होता है।[१] अशोक इसी धर्मकी वृद्धि हुई स्वीकार करते हैं। उन्होंने इस धर्मध्यानका विशेष चिंतवन किया प्रतीत होता है। और उसीके बलपर वह अपनी धर्म–विजयमें सफलमनोरथ हुये थे। जिस धर्मप्रचारको उनके पूर्वज नहीं कर सके उसको उन्होंने सहज ही दिगन्तव्यापी बना दिया। अतः यह कहा जासक्ता है कि अशोक अपने अंतिम समय तक भावोंकी अपेक्षा बहुत करके जैन था। उसने राजनीतिका आश्रय लेकर अपने आधीन प्रजाके विविध धर्मोंकी मान्यताओंका आदर किया था और उन्हें धर्मके उस रूपको माननेके लिये बाध्य कर दिया था; जिसपर वह स्वयं विश्वास रखता था।

धर्म-प्रचारका ढंग और उसमें सफलता।

लोगोंमें धर्मवृद्धि करनेके जिन उपायोंको अशोकने अपने ध्यान बलसे प्रतिष्ठित किया था, उनको वह क्रियात्मक रूप देकर शांत हुआ था। अशोकने अपने सब ही छोटे बड़े राज-कर्मचारियोंको आज्ञा दे रक्खी थी कि–"वे दौरा करते हुये 'धर्म' का प्रचार करें और इस बातकी कड़ी देखभाल रक्खें कि लोग सरकारी आज्ञाओंका यथोचित पालन करते हैं या नहीं। तृतीय शिलालेख इसी विषयके सम्बंधमें है। उसमें लिखा है कि–देवताओंके प्रिय प्रिय-

१–कल्याण पावगाओ पाओ विचिणोदि जिणमदमुविच्च। विचिणादि वा अपाये जीवाणसुहे य असुहेय ॥ ४०० ॥–मूलाचार।

दर्शी राजा ऐसा कहते हैं:-मेरे राज्यमें सब जगह युक्त (छोटे कर्मचारी) रज्जुक (कमिश्नर) और प्रादेशिक (प्रांतीय अफसर) पांच२ वर्षपर इस कामके लिये अर्थात् धर्मानुशासनके लिये तथा और कामोंके लिये यह कहते हुए दौरा करें कि—"माता-पिताकी सेवा करना तथा मित्र, परिचित, स्वजातीय, ब्राह्मण और श्रमणको दान देना अच्छा है। जीव हिंसा न करना अच्छा है। कम खर्च करना और कम संचय करना अच्छा है।"

अपने राज्याभिषेकके १३ वर्ष बाद अशोकने 'धर्म महामात्र' नये कर्मचारी नियुक्त किये। ये कर्मचारी समस्त राज्यमें तथा यवन, काम्बोज, गांधार इत्यादि पश्चिमी सीमापर रहनेवाली जातियोंके मध्य धर्मप्रचार करनेके लिये नियुक्त थे। यह पदवी बड़ी ऊँची थी और इस पदपर स्त्रियां भी नियत थी। धर्म महामात्रके नीचे 'धर्मयुक्त' नामक छोटे कर्मचारी भी थे जो उनको धर्मप्रचारमें सहायता देते थे।

अशोकके १३वें शिलालेखसे पता चलता है कि उन्होंने इन देशोंमें अपने दूत अथवा उपदेशक धर्मप्रचारार्थ भेजे थे। अर्थात (१) मौर्य साम्राज्यके अन्तर्गत भिन्न भिन्न प्रदेश, (२) साम्राज्यके सीमान्त प्रदेश और सीमापर रहनेवाली यवन, काम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आंध्र, पुलिन्द आदि जातियोंके देश; (३) साम्राज्यकी जंगली जातियोंके प्रान्त, (४) दक्षिणी भारतके स्वाधीन राज्य जैसे केरलपुत्र, (चेर), सत्य पुत्र (तुलु-कोंकण), चोड़ (कोरोमण्डल), पांड्य (मदुरा व तिनावल्ली जिले), (५)

ताम्रपर्णी अर्थात् लङ्काद्वीप;[1] और (६) सीरिया, मिश्र, साइरीनी, मेसिडोनिया और एपिरस नामक पांच ग्रीक राजा जिनपर क्रमसे अंतियोक (Antiochos II, 261–246 B. C.), तुरमय (Ptolomy Philadelphos; 285–247 B.C.) मक (Magas. 285–254 B. C.) अंतिकिनि (Antigonos; Gonatas 277–239 B.C.) और अलिक सुन्दर (Alexander 272–258 B. C.) नामके राजा राज्य करते थे।

ईसवी सन्के पूर्व २९८में ये पांचों राजा एक साथ जीवित थे। अतः अनुमान किया जाता है कि इसी समय अशोकके धर्मोपदेशक धर्मका प्रचार करनेके लिये विदेशोंमें भेजे गए थे।[2] इस प्रकार यह प्रकट है कि अशोकका धर्मप्रचार केवल भारतमें ही सीमित नहीं रहा था; प्रत्युत एशिया, आफ्रिका और योरुपमें भी उसने धर्मोपदेशक भेजे थे। इस मुख्य कार्यकी अपेक्षा संसारभरके आधुनिक इतिहासमें कोई भी सम्राट् अशोककी समानता नहीं कर सक्ता। वह एक अद्वितीय राजा थे। अशोकने जिन उपरोक्त देशोंमें धर्मप्रचार किया था, उनमें किसी न किसी रूपमें जैन चिन्होंके अस्तित्वका पता चलता है।[3]

१–लंकामें जैनधर्मका प्रचार एक अत्यन्त प्राचीनकालसे था, यह जैन शास्त्रोंसे प्रगट है। लंकाका राक्षसवंश, जिसमें प्रसिद्ध राजा रावण हुआ, जैनधर्मानुयायी था। (मपा० पृ० १६०–१६८) अशोकसे पहिले सम्राट् चन्द्रगुप्तके समयमें लंकामें पाण्डुकमय नामक राजा राज्य करता था (३६७-३०७ ई० पू०)। इसने निर्ग्रन्थों (जैनों) के लिये अपनी राजधानी अनुरुद्धपुरमें मंदिर व विहार बनाये थे। (ईसेजै० पृ० ३७)।
२–अध० पृ० ५४–५५। ३–मपा० पृ० १८६–२०२।

अशोकके पोते संप्रतिने अपने पितामहके इस प्रचार कार्यका पुनरुद्धार किया था और उन्होंने प्रगटतः जैनधर्मका प्रचार भारतेतर देशोंमें किया था। यदि मुनि कल्याण और फिर सम्राट् अशोक अपने उदाररूपमें उन धर्मसिद्धांतोंका, जो सर्वथा जैन धर्मानुकूल थे, प्रचार न करते, तो संप्रतिके लिये यह सुगम न था कि वह जैन धर्मका प्रचार और जैन मुनियोंका विहार विदेशोंमें करा पाता। इस देशोंमें अशोकने अपने धर्मप्रचार द्वारा जैनधर्मकी जो सेवा की है वह कम महत्वकी नहीं है। उन्हें उसमें बड़ी सफलता मिली थी। उसे वे बड़े गौरवके साथ 'धर्मविजय' कहते हैं।[२]

अशोकके शिलालेख व शिल्पकार्य।

सम्राट् अशोकने अपनी धर्म-शिक्षाओंको बड़ी२ शिलाओं और पाषाण स्तम्भोंपर अंकित कर दिया था। उनके यह शिलालेख आठ प्रकारके माने गये हैं—(१) चट्टानोंके छोटे शिलालेख जो संभवतः २५७ ई० पू० से आरम्भ हुए केवल दो हैं, (२) भाब्रूका शिलालेख भी इसी समयका है, (३) चौदह पहाड़ी शिलालेख संभवतः १३वें या १४ वें वर्षके हैं; (४) कलिङ्गके दो शिलालेख संभवतः २५६ ई० पू० में अंकित कराये गये; (५) तीन गुफा लेख; (६) दोतराईके शिलालेख (२४९ ई० पू०), (७) सात स्तम्भोंके लेख छै पाठोंमें हैं (२४३ व २४२ ई० पू०) और (८) छोटे स्तम्भोंके लेख (२४० ई० पू०)।[३] इन लेखोंमेंसे शाहबाज और मानसहराके लेख तो खरोष्टीमें और बाकीके उस समयकी प्रचलित ब्राह्मी

१-परि० पृ० ९४ व सं० प्राजैस्मा० पृ० १७९। २-अध० पृ० २६२-त्रयोदश शिलालेख। ३-लाभाइ० पृ० १७३।

लिपिमें हैं। भारतवर्षके प्राप्त लेखोंमें यह लेख सर्व प्राचीन समझे जाते हैं और इनसे उस समयके भारतकी दशाका सच्चा २ हाल प्रकट होता है। एक बड़े गौरव और महत्वकी बात यह मालूम होती है कि 'उस समय पाश्चात्य लोग भी हमारे ही पूर्वजोंसे धर्मका उपदेश सुना करते थे।'[1]

इन लेखोंके अतिरिक्त अशोकने स्तूप आदि भी बनवाये थे। उसके समय वास्तुविद्या और चित्रणकलाकी खूब उन्नति हुई थी। तबकी पत्थरपर पालिश करनेकी दस्तकारी विशेष प्रख्यात है। कहते हैं कि ऐसी पालिश उसके बाद आज तक किसी अन्य पत्थरपर देखनेमें नहीं मिली है।[2] अतएव कहना होगा कि अशोकके समय धर्मवृद्धिके साथ साथ लोगोंमें सुख-सम्पत्तिकी समृद्धि भी काफी हुई थी; क्योंकि विद्या और ललितकलाकी उन्नति किसी देशमें उसी समय होती है; जब वह देश सब तरह भरपूर और समृद्धिशाली होता है।

अशोकका अन्तिम जीवन।

सम्राट् अशोकने करीब ४० वर्ष तक अपने विस्तृत साम्राज्य पर सुशासन किया था। और अन्तमें लगभग सन् २३६ ई० पू० वह इस असार संसारको छोड़ गये थे। बौद्धशास्त्रोंमें जो इनके अंतिम जीवनका परिचय मिलता है, उससे प्रकट है कि उस समय राज्यका अधिकार उनके पौत्र सम्प्रतिके हाथोंमें पहुंच गया था और वह मनमाने तरीकेसे धर्मकार्यमें रुपया खर्च नहीं कर सक्ते थे। कह नहीं सक्ते कि बौद्धोंके

१-भाप्रारा० भा० २ पृ० १२८-१२९। २-भाप्रारा०, भा० २ पृ० १३०।

इस कथनमें कहांतक सचाई है ? उनके ग्रन्थोंसे यह भी पता चलता है कि उनका एक भाई वीतशोक नामक 'तित्थियों' (जैनों) का भक्त था। वह बौद्ध भिक्षुओंको वासनासक्त कहकर चिढ़ाया करता था। अशोकने प्राणभय द्वारा उसे बौद्ध बनाया था। बौद्ध शास्त्रोंमें यह भी लिखा है कि अशोकने एक जैन द्वारा बुद्धमूर्तिकी अविनय किये जानेके कारण हजारों जैनोंको पुण्डूवर्द्धन आदि स्थानोंपर मरवा दिया था।[२] पाटलिपुत्रमें एक जैन मुनिको बौद्ध होनेके लिये उनने बाध्य किया था; किन्तु बौद्ध होनेकी अपेक्षा उन मुनि महाराजने प्राणोंकी बलि चढ़ा देना उचित समझा था।[३] किन्तु बौद्धोंकी इन कथाओंमें सत्यताका अंश बिल्कुल नहीं प्रतीत होता है।

सांचीके बौद्ध पुरातत्वसे प्रगट है कि ई० पू० प्रथम शताब्दितक अविनयके भयसे म० बुद्धकी मूर्ति पाषाणमें अंकित भी नहीं की जाती थी।[४] फिर भला यह तो असंभव ही ठहरता है कि अशोकके समय म० बुद्धकी मूर्तियां मिलती हों। तिसपर अशोकको शिक्षायें उनको एक महान् उदारमना राजा प्रमाणित करतीं हैं। उनके द्वारा उक्त प्रकार हत्याकांड रचनेकी संभावना स्वप्नमें भी नहीं की जासक्ती। बौद्धोंकी उक्त कथायें उसी प्रकार असत्य

१-अशोक० पृ० २५४। २-दिव्यावदान ४२७-मैबु० पृ० ११४। ३-जैग० भा० १४ पृ० ५९। ४-जमीसो० भा० १७ पृ० २७२-पाणिनिसूत्रके पातञ्जलि भाष्य (Goldstucker's Panini, p. 228) में मौर्योंको सुवर्ण मूर्तियां बनवाते और बेचते लिखा है। भाष्यमें लिखा है कि शिव, स्कन्ध, विशाखकी मूर्तियां नहीं बेची जातीं थीं। और बौद्ध मूर्तियां भी उस समय नहीं थीं। अतः मौर्यों द्वारा बनाई गई मूर्तियां जैन होना चाहिये। इस तरह पातञ्जलिभाष्यसे भी मौर्योंका जैन होना प्रकट है।

हैं, जिसप्रकार उनका यह कहना कि अशोक अपने भाई-बहिनोंके निरपराध खूनसे हाथ रङ्गकर सिंहासनपर बैठा था। किन्तु इनसे भी इतना पता चलता है कि अशोकके घरानेमें जैनधर्मकी मान्यता अवश्य थी।

धर्म-प्रचार भारतीय पतनका कारण नहीं है।

किन्हीं विद्वानोंका मत है कि जैनधर्म और बौद्धमतका प्रचार होजानेसे एवं सम्राट् अशोक द्वारा इन वेद विरोधी मतोंका विशेष आदर होनेके कारण भारतीय जनतामें सांप्रदायिक विद्वेषकी जड़ जम गई; जिसने भारतकी स्वाधीनताको नष्ट करके छोड़ा। उनके ख्यालसे बौद्धकालके पहिले भारतमें सांप्रदायिकताका नाम नहीं था और वैदिक मत अक्षुण्ण रीतिसे प्रचलित था। किन्तु यह मान्यता ऐतिहासिक सत्यपर हरताल फेरनेवाली है। भारतमें एक बहु प्राचीनकालसे जैन और जैनेतर संप्रदाय साथ २ चले आरहे हैं। वैदिक धर्मावलंबियोंमें भी अनेक संप्रदाय पुराने जमानेमें थे।[२] किन्तु इन सबमें सांप्रदायिक कट्टरता नहीं थी; जैसी कि उपरांत कालमें होगई थी। भगवान महावीर तक एवं मौर्यकालके उपरांत कालमें भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं; जिनसे एक ही कुटुम्बमें विविध मतोंके माननेवाले लोग मौजूद थे। यदि पिता बौद्ध है, तो पुत्र जैन है। स्त्री वैष्णव है तो पति जैनधर्मका श्रद्धानी है।[३] अतः यह नहीं कहा जासक्ता कि मौर्यकालसे ही सांप्रदायिक विद्वेषकी ज्वाला भारतीय जनतामें धधकने लगी थी। यह नाशकारिणी आग तो मध्य-

१-इंऐ०, भा० ९ पृ० १३८। २-देखो हिस्ट्री ऑफ प्री० बुद्धिस्टिक इंडियन फिलासफी। ३-इंहिका० भा० ४ पृ० १४८-१४९।

कालसे और खासकर श्री शङ्कराचार्यजीके समयसे ही खूब धधकी थी।

साम्प्रदायिकताका उद्गम यद्यपि भारतमें बहुत पहले होचुका था, परन्तु उसमें कट्टरता बादमें ही आई थी।[1] अशोकके नामसे जो लेख मौजूद हैं, वे उसके धर्म और पवित्रताके भावसे लबालब भरे हुए हैं। उनसे स्पष्ट है कि अशोक एक बड़ा परिश्रमी उद्योगी और प्रजाहितैषी राजा था। यही कारण है कि उसके इतने दीर्घ-कालीन शासन-कालमें एक भी विद्रोह नहीं हुआ था। प्रजाकी शिक्षा-दीक्षाका उसे पूरा ध्यान था। वस्तुतः इतने विशाल साम्राज्यका एक दीर्घकाल तक बिना किसी विद्रोहके रहना इस बातका पर्याप्त प्रमाण है कि अशोकके समयमें सारी प्रजा बहुत सुखी और समृद्धिशाली थी। वह साम्प्रदायिकताको बहुत कुछ भुला चुकी थी। अशोकके उस बड़े साम्राज्यके सार-संभालके योग्य उनका कोई भी उत्तराधिकारी नहीं था। इसी कारण उनके साम्राज्यका पतन हुआ था। धर्मप्रचार उसमें मुख्य कारण नहीं था। प्रत्युत जिस राजाने राजनीतिमें धर्मको प्रधानता दी उसका राज्य राम-राज्य होगया और इतिहासमें उसका उल्लेख बड़े गौरवसे हुआ। सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य, अशोक, हर्षवर्द्धन, कुमारपाल, अमोघवर्ष, अकबर इत्यादि ऐसे ही आदर्श सम्राट् थे।

सन् २३६ ई० पू०के लगभग अशोककी मृत्यु हुई थी।

अशोकके उत्तराधिकारी।

यह निश्चय रूपमें नहीं कहा जासका कि उसकी जीवनलीला किस स्थानपर समाप्त हुई थी। उसके बाद उसका बेटा कुणाल ई० पू० २३६

१-जैग० भा० १४ पृ० ४५...। २-जविओसो० भा० १ पृ० ११६।

से २२८ तक राज्य करता रहा। कुणालका उत्तराधिकारी उसका भाई दशरथ हुआ। दशरथने सन् २२८–२२० ई०पू० तक शासन-भार ग्रहण किया। उपरांत अशोकका पोता सम्प्रति राज्यसिंहासन पर बैठा। यह जैनधर्मानुयायी था और इसने जैनधर्म प्रचार दूर२ देशोंमें किया था। श्वेतांबर शास्त्रोंका कथन है कि स्थूलभद्रस्वामीके उत्तराधिकारी श्री आर्य महागिरि थे। इनके गुरु भाई श्री आर्य सुहस्तिसूरि थे। सम्प्रतिकी राजधानी उज्जयनि थी। श्री आर्य सुहस्तिसूरिने यहां चातुर्मास किया था। चातुर्मासके पूर्ण होनेपर श्री जिनेन्द्रदेवका रथयात्रा महोत्सव होरहा था। संप्रति राजा भी अपने राजप्रासादमें बैठा हुआ उत्सव देख रहा था। भाग्यवशात् उसकी नजर श्री आर्य सुहस्तिसूरिपर जा पड़ी।

संप्रतिने गुरुके चरणोंमें जाकर प्रणाम किया और उनसे धर्मोपदेश सुनकर व्रत ग्रहण किया। व्रती श्रावक होचुकनेपर संप्रतिने धर्म प्रभावनाकी ओर बड़ी दिलचस्पीसे ध्यान दिया। पहिले वह दिग्विजय पर निकला और उसने अफगानिस्तान, तुर्क, ईरान आदि देश जीते।[2] अपनी दिग्विजयसे लौटनेपर संप्रतिने जैनधर्म प्रभावक अनेक कार्य किये। कहते हैं कि उसने सवालाख नवीन जैन मंदिर बनवाये, दो हजार धर्मशालायें निर्माण कराईं, सवा करोड़ जिनबिम्बोंकी स्थापना कराई, ग्यारह हजार वापिका और कुण्ड खुदवाये तथा छत्तीस हजार स्थानोंमें जीर्णोद्धार कराया

१–परि० पृ० ९४ व जैसाघं० भा० १ पृ० ८–९ वीर वंश०–यहां संप्रतिको कौरवकुल मोरियवंशका लिखा है। २–गुप्तापरि० जैन० पृ० ८३।

था। मालूम नहीं इस गणनामें कहांतक तथ्य है ! किंतु वर्तमान जैन मंदिरोंमें बहुत ही कम ऐसे मिलते हैं, जिनको लोग संप्रतिका बनवाया हुआ मानते हों। राजपूताना और गुजरातमें इन मंदिरोंकी संख्या अधिक बताई जाती है; परन्तु अभीतक कोई भी ऐसा पुष्ट प्रमाण नहीं मिला है, जिससे इन मंदिरोंको संप्रति द्वारा निर्मित स्वीकार किया जासके। यह सब मंदिर संप्रतिसे बहुत पीछेके बने हुये प्रगट होते हैं। (राइ० भा० १ पृ० ९४) जो हो, यह स्पष्ट है कि संप्रतिने जैनधर्म प्रभावनाका खास उद्योग किया था और उन्होंने जैन उपदेशक देश विदेशमें भेजे थे। वहांके निवासियोंको जैनधर्ममें दीक्षित कराया था।[2] 'तीर्थकल्प' से प्रकट है कि उन्होंने अनार्य देशोंमें भी विहार (मंदिर) बनवाये थे। (राइ० भा० १ पृ० ९४) दुःख है कि अशोककी तरह संप्रतिके कोई भी लेख आदि नहीं मिलते हैं, जिससे उनके धर्मप्रभावक सुकृत्योंका पता चल सके। तो भी जैनधर्मके लिये संप्रति दूसरे कान्सटिन्टायन थे। उनने सौ वर्षकी आयु तक जैनधर्म और राज्यसेवन करके स्वर्गसुख लाभ किया था।

संप्रति और उसके समयका जैन संघ।

दिगम्बर जैन ग्रँथोंमें राजा संप्रतिका कोई उल्लेख देखनेको नहीं मिलता है। संप्रतिके परपितामह सम्राट् चंद्रगुप्तका उल्लेख दोनों ही संप-

१–जैसासं० भा० १ वीरवंश पृ० ८। २–परि० पृ० ९४, जैसासं० भा० १ वीरवंश पृ० ९ व पाटलीपुत्र कल्पग्रन्थ; यथाः–"कुणालसूनुस्त्रिखंडभरताधिपः परमार्हतो, अनार्यदेशेष्वपि प्रवर्तितः श्रमणविहारः सम्प्रति महाराजऽसोऽभवत् ।"

दायोंके शास्त्रोंमें है; किंतु संप्रतिका उल्लेख केवल एक संप्रदायके शास्त्रोंमें होना, संभवतः संघभेदका द्योतक है। वि० सं० १३९में दिगंबर और श्वेताम्बर भेद जैनसंघमें प्रगट हुआ था; तबतक दिगम्बर जैन दृष्टिके अनुसार अर्धफालक नामक संप्रदायका अस्तित्व जैनसंघमें रहा था।[2] मथुराकी मूर्तियोंसे इस संप्रदायका होना सिद्ध है।[3] अतएव यह उचित जंचता है कि श्वेतांबरोंके इस पूर्वरूप 'अर्धफालक' संप्रदायके नेता आर्य सुहस्तिसूरि थे और संप्रतिको भी उन्होंने इसी संप्रदायमें भुक्त किया था। यही कारण है कि सुहस्तिसूरि और संप्रतिके नाम तकका पता दिगम्बर जैन शास्त्रोंमें नहीं चलता। सम्राट् चन्द्रगुप्तका जितना विशद वर्णन और उनका आदर दिगंबर जैन शास्त्रोंमें है, उतना ही वर्णन और आदर श्वेतांबरीय ग्रन्थोंमें संप्रतिका है।

हिंदुओंके वायु पुराणादिकी तरह बौद्धोंने भी संप्रतिका उल्लेख 'संपदी' नामसे किया है और अशोकके अंतिम जीवनमें उसके द्वारा ही राज्य प्रबंध होते लिखा है।[4] किंतु ऊपर जिस संघभेदका उल्लेख किया जाचुका है, उसके होते हुये भी मालूम होता है कि मूल जैन मान्यताओंमें विशेष अन्तर नहीं पड़ा था। श्री आर्य सुहस्तिसूरिके गुरुभाई श्री आर्य महागिरिने जिनकल्प (दिगम्बर भेष)का आचरण किया था। जैनमूर्तियां ईसवीकी प्रथम शताब्दि तक और संभवतः उपरांत भी बिल्कुल नग्न (दिगम्बर भेष) में बनाई जातीं थीं। दिगम्बर जैनोंके मतानुसार भद्रबाहुजीके बाद वि-

१-जैहि० भा० १३ पृ० २६५। २-भद्रबाहुचरित्र पृ० ६६। ३-वीर वर्ष ४ पृ० ३०७-३०९। ४-अशोक, पृ० २६५। ५-परि० पृ० ९२।

शाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय आदि दस पूर्वधारी मुनि हुये थे। संप्रतिके समयमें संभवतः क्षत्रिय अथवा जयाचार्य विद्यमान होंगे।

सेठ सुकुमाल।

श्वेताम्बरोंका कथन है कि महावीरजीसे २२८ वर्ष बाद जैन संघमें गंग नामक पांचवां निह्नव उत्पन्न हुआ था; किंतु वह भी निष्फल गया था।[1] उज्जनीके प्रसिद्ध सेठ सुकुमालको भी वह इसीसमय हुये अनुमान करते हैं,[2] परंतु यह बात ठीक नहीं, क्योंकि इससमय मोक्षमार्ग बन्द था।

अन्तिम मौर्य राजा और मौर्य साम्राज्यका अन्त।

संप्रतिके बाद मौर्यवंशमें पांच राजा और हुये थे। परन्तु उनके विषयमें कुछ भी विशेष वृतान्त माल्रूम नहीं होता। इनमें सर्व अंतिम राजा वृहद्रथ नामक थे। सन् १८४ ई० पू०में यह अपने सेनापति पुष्पमित्रके हाथसे मारा गया था। और इनके साथ ही मौर्य वंशकी समाप्ति होगई! अशोकके बाद ही मौर्य साम्राज्यका पतन होना प्रारम्भ होगया था, यह हम पहिले लिख चुके हैं। अशोकके उत्तराधिकारियोंमें कोई इस योग्य नहीं था जो समूचे साम्राज्यकी वाग्डोर अपने सुदृढ़ हाथोंमें ग्रहण करता। माल्रूम होता है कि पूर्वीय भागमें अशोकका पोता दशरथ राज्याधिकारी रहा था, और पश्चिमकी ओर संप्रति सुयोग्य रीतिसे शासन करता रहा था। हिन्दू पुराणोंसे विदित है कि इसी समय शुङ्ग-वंशने राजविद्रोह किया था। मौर्य साम्राज्यके पतनका यह भी एक कारण था। कट्टर ब्राह्मण अवश्य ही संप्रतिके जैनधर्म प्रचारके कारण उनसे असंतुष्ट थे। इनके अतिरिक्त और भी कारण थे; जिनके परिणामरूप मौर्य

१ इंऐ० भा० २१ पृ० ३३५। २-जैभार्स० भा० १ वीर वंश० पृ० ६।

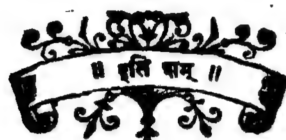
साम्राज्य छिन्नभिन्न होगया! मध्य भारत, गंगाप्रदेश, आंध्र और कलिङ्गदेश पुनः अपनी स्वाधीनता प्राप्त करनेकी चेष्टा करने लगे थे। सीमांत प्रदेशोंका यथोचित प्रबन्ध न होनेके कारण विदेशीय आक्रमणकारियोंको भी अपना अभीष्ट सिद्ध करनेका अवसर मिला था।

उपरांत कालके मौर्य वंशज। मौर्यवंशकी प्रधान शाखाका यद्यपि उपरोक्त प्रकार अंत हो गया था, किन्तु इस शाखाके वंशज जो अन्यत्र प्रांतोंमें शासनाधिकारी थे, वह सामन्तोंकी तरह मगध और उसके आसपासके प्रदेशोंमें ई० सातवीं शताब्दि तक विद्यमान थे। ई० ७वीं शताब्दिमें एक पुराणवर्मा नामक मौर्यवंशी राजाका उल्लेख मिलता है। किन्हीं अन्य लेखोंसे मौर्योंका राज्य ईसाकी छठी, सातवीं और आठवीं शताब्दितक कोंकण और पश्चिमी भारतमें रहा प्रगट है। ई० सन् ७३८ का एक शिलालेख कोटा (राजपूताना)के कंसवा ग्राममें धवल नामक मौर्यवंशी राजाका मिला है। इससे ईसाकी आठवीं शताब्दिमें राजपूतानेमें मौर्यवंशके सामंत राजाओंका राज्य होना प्रगट है।[2] चितौड़का किला मौर्य राजा चित्रांग (चित्रांगद) का बनाया हुआ है।[3] चित्रांग तालाब भी इन्हींका बनाया हुआ वहां मौजूद है। कहते हैं कि मेवाड़के गुहिल वंशीय राजा बापा (कालभोज)ने मानमोरीसे चित्तौड़गढ़ लिया था। आजकल राजपूतानेमें कोई भी मौर्यवंशी नहीं है। हाँ, बम्बईके खानदेशमें जिन मौर्य राजाओंका राज्य था, उनके वंशज अबतक दक्षिणमें पाये जाते हैं और मोरे कहलाते हैं।[4]

१-भाइ० पृ० ७५। २-भाप्रारा०, भा० २ पृ० १३६। ३-कुमारपाल प्रबन्ध, पत्र १०-२—राइ० पृ० ६५। ४-राइ० भा० १ पृ० ६५।

मौर्योंके सेनापतिने बृहद्रथ मौर्यकी हत्या करके मगधमें अपना राज्य जमा लिया। इसका वंश 'शुङ्गवंश'के नामसे प्रसिद्ध हुआ। कहते हैं कि इस वंशका राज्य ११२ वर्ष तक रहा। पुष्पमित्रके समयमें यूनानी राजा मेनेन्डरने भारतपर आक्रमण किया, परन्तु उसे पीछे लौट जाना पड़ा था।[१] जैन सम्राट् खारवेलने पुष्पमित्र पर आक्रमण किया था; जिसके कारण पुष्यमित्रको मगध छोड़कर मथुरा भाग जाना पड़ा था।[२] जैन धर्मके प्रभावक मौर्य राजवंशका असमयमें ही अन्त करनेवाले राजद्रोही व्यक्तिको एक जैन राजा आनन्दसे कैसे रहने देता? शुङ्गवंशके बाद सन् ७३ ई० पू०में वसुदेव काण्वसे 'काण्ववंश' का जन्म हुआ था। काण्ववंशके अन्तिम राजाको सन् २७ ई० पू०के लगभग एक आन्ध्रवंशीय राजाने मार डाला था। अशोककी मृत्युके बाद ही आंध्र राज्य स्वाधीन होगया था और इस समय उसका विस्तार बहुत बढ़गया था। किन्तु उत्तरी भारतमें वह अधिक दिन तक न टिक सके। यूनानी और सिथियन शासकोंने उन्हें शीघ्र निकाल बाहर कर दिया था।

शुङ्ग वंश।



१-भाइ० पृ० ७६। २-जविड० पृ० २०९। ३-भाइ० पृ० ७६।